सुमित्रानंदन पंत | मूल्यांकन

सम्पादक
इन्द्रनाथ मदान
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पंजाब युनिवर्सिटी

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

अनुक्रम

अपना-अपना मत

मैंने बाहर के प्रभावों को सदैव अपने ही अन्तर के प्रकाश में ग्रहण किया है, और वे प्रभाव मेरे भीतर प्रवेश कर नवीन दृष्टिकोणों तथा उपकरणों से मंडित होकर निखरे हैं, जिन्हें मैं समय-समय पर अपनी रचनाओं में वाणी दे सका हूँ। जब मानव-मन की सूक्ष्म अनुभूतियों के प्रति, आधुनिकता का दावा करने वाले, आज के कोरे बौद्धिक सन्देह प्रकट करते हैं, तो यह समझने में देर नहीं लगती कि उनकी बौद्धिकता तथा आधुनिकता कितने गहरे पानी में है।

—सुमित्रानन्दन पन्त

[चिदम्बरा की भूमिका से]

कल्पना ही पन्त की कविता का मेरुदण्ड, उनकी काव्य-सृष्टि का माप दंड है। कोरी कल्पना की बाल-सुलभ रंगीन उड़ानों से लेकर तल्लीन और गहन कल्पना-अनुभूतियों के चित्रण में पन्त का विकास-क्रम देखा जा सकता है।

—नन्ददुलारे बाजपेयी

[हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी से]

पन्त की कविता की नवीनता तथा मौलिकता यह है कि उसमें मूलभूत सादृश्यमूलक अलंकार और उपमा एवं रूपक एक विशेषता रखते हैं।

—ई० चेलिशेव

[सुमित्रानन्दन पन्त से]

पन्त प्रधान रूप से कलाकार हैं। इनके काव्य में सबसे प्रथम कला का, उसके उपरान्त विचारों का और अन्त में भावों का स्थान रहता है।

—नगेन्द्र

[सुमित्रानन्दन पन्त से]

पन्त के समस्त काव्य का विभाजन रूप-काव्य और विचार-काव्य नाम से किया जा सकता है। तब भी प्रत्येक रूप-काव्य के भीतर विचार और प्रत्येक विचार-काव्य के भीतर रूप का अंश शेष रहता है।

—रामधारी सिंह 'दिनकर'

[पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त से]

गुंजन का सत्य कवि-कल्पना का आदर्श सत्य है।···इसका कलेवर मानव-जीवन के अश्रु-हास के तारों से बुना है। इसके गीत विश्ववेदना के आँसू से धुले, आत्मानुभूति की मुसकान से स्नात और विश्व-संगीत से झंकृत हैं। गुंजन एक जीवन-काव्य है।

—केसरी कुमार

[पंत और उनका गुंजन से]

सौन्दर्य की आराधना पंत की उपलब्धि रही है और उसकी काव्य-चेतना की सीमा। इनकी काव्य-चेतना की मूल प्रेरणा सौन्दर्य है। पन्त ने जिस सत्य की व्यंजना की है वह भौतिक वास्तविकता का सत्य नहीं, आदर्श का सत्य है।

—विजयशंकर मल्ल

[कल्पना पूर्णाङ्क–२५ से]

इस प्रकार पंत की प्रकृति नारीमयी है और इनकी नारी प्रकृतिमयी है। ···प्रकृति और नारी इनके काव्य में इस तरह घुल-मिल गये हैं कि इनके प्रकृति-चित्रण को नारी-कला की संज्ञा दी जाती है।

—इन्द्रनाथ मदान

[आधुनिक कविता का मूल्यांकन से]

चरण चिह्न | सुमित्रानंदन पंत

चिदंबरा को पाठकों के सम्मुख रखने से पहिले उस पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेने की इच्छा होती है। इस परिदर्शन मे, अपने विगत कृतित्व को, आलोचक की दृष्टि से देखने की अनधिकार चेष्टा नही करना चाहता; युग की मुख्य प्रवृत्तियों से मेरा काव्य किस प्रकार संबद्ध रहा, उस ओर, संक्षेप में, ध्यान भर आकृष्ट कर देना पर्याप्त समझता हूँ।

पल्लविनी मेरी प्रथम उत्थान की रचनाओं की चयनिका थी, जिसमे 'वीणा', 'ग्रंथि', 'पल्लव', 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' तथा 'युगांत' की विशिष्ट कविताएँ संकलित हैं। इस संचरण के कृतित्व के प्रति मेरे आलोचक प्रायः कृपालु और उदार रहे हैं, संभवत', इसलिए कि इस उत्थान के कृतित्व ने छायावाद के बहिरंग को सँवारने तथा उसे कोमल कांत कलेवर की शोभा प्रदान करने के प्रयत्न मे हाथ बँटाया है।

छायावाद की सार्थकता, मेरी दृष्टि में, उस युग के विशिष्ट भावनात्मक दृष्टिकोण तक ही सीमित है, जो भारतीय जागरण की चेतना का सर्वात्मवाद-मूलक कैशोर समारम भर था; उस युग की कविता मे और भी अनेक प्रकार के अभिव्यंजना के तत्व, तथा रूप शिल्प की विशेषताओ के व्यापक उपकरण हैं, जो खड़ी बोली के गद्य-पद्य के लिए स्थायी देन के रूप मे रहेंगे। मेरी रचनाओं में वह भावनात्मक दृष्टिकोण, अधिकतर, 'वीणा' में तथा 'पल्लव' की कुछ रचनाओं में मिलता है; मेरा तब का काव्य मुख्यतः प्रकृति काव्य है। 'ग्रंथि', 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' मे छायावादी दृष्टिकोण प्रायः उनके रूपविधान तक ही सीमित है; 'युगांत' में विधान-शिल्प में भी मौलिक रूपांतर के चिह्न प्रकट होते हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि 'युगवाणी-ग्राम्या' के बाद 'स्वर्ण-किरण',

गुंजन का सत्य कवि-कल्पना का आदर्श सत्य है।...इसका कलेवर मानव-जीवन के अश्रु-हास के तारों से बुना है। इसके गीत विश्ववेदना के आँसू से धुले, आत्मानुभूति की मुसकान से स्नात और विश्व-संगीत से झंकृत हैं। गुंजन एक जीवन-काव्य है।

—केसरी कुमार

[पंत और उनका गुंजन से]

सौन्दर्य की आराधना पंत की उपलब्धि रही है और उसकी काव्य-चेतना की सीमा। इनकी काव्य-चेतना की मूल प्रेरणा सौन्दर्य है। पन्त ने जिस सत्य की व्यंजना की है वह भौतिक वास्तविकता का सत्य नहीं, आदर्श का सत्य है।

—विजयशंकर मल्ल

[कल्पना पूर्णाङ्क—२५ से]

इस प्रकार पंत की प्रकृति नारीमयी है और इनकी नारी प्रकृतिमयी है। ...प्रकृति और नारी इनके काव्य में इस तरह घुल-मिल गये हैं कि इनके प्रकृति-चित्रण को नारी-कला की संज्ञा दी जाती है।

—इन्द्रनाथ मदान

[आधुनिक कविता का मूल्यांकन से]

चरण चिह्न | सुमित्रानंदन पंत

चिदंबरा को पाठकों के सम्मुख रखने से पहिले उस पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेने की इच्छा होती है। इस परिदर्शन में, अपने विगत कृतित्व को, आलोचक की दृष्टि से देखने की अनधिकार चेष्टा नहीं करना चाहता; युग की मुख्य प्रवृत्तियों से मेरा काव्य किस प्रकार संबद्ध रहा, उस ओर, संक्षेप में, ध्यान भर आकृष्ट कर देना पर्याप्त समझता हूँ।

पल्लविनी मेरी प्रथम उत्थान की रचनाओं की चयनिका थी, जिसमे **'वीणा', 'ग्रंथि', 'पल्लव', 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना'** तथा **'युगांत'** की विशिष्ट कविताएँ सकलित हैं। इस संचरण के कृतित्व के प्रति मेरे आलोचक प्रायः कृपालु और उदार रहे हैं, सभवतः, इसलिए कि इस उत्थान के कृतित्व ने छायावाद के बहिरंग को सँवारने तथा उसे कोमल कांत कलेवर की शोभा प्रदान करने के प्रयत्न में हाथ बँटाया है।

छायावाद की सार्थकता, मेरी दृष्टि में, उस युग के विशिष्ट भावनात्मक दृष्टिकोण तक ही सीमित है, जो भारतीय जागरण की चेतना का सर्वात्मवाद-मूलक कैशोर समारभ भर था; उस युग की कविता मे और भी अनेक प्रकार के अभिव्यजना के तत्त्व, तथा रूप शिल्प की विशेषताओं के व्यापक उपकरण हैं, जो खड़ी बोली के गद्य-पद्य के लिए स्थायी देन के रूप मे रहेंगे। मेरी रचनाओं में वह भावनात्मक दृष्टिकोण, अधिकतर, 'वीणा' में तथा 'पल्लव' की कुछ रचनाओं में मिलता है; मेरा तब का काव्य मुख्यतः प्रकृति काव्य है। **'ग्रंथि', 'गुंजन'** और **'ज्योत्स्ना'** मे छायावादी दृष्टिकोण प्रायः उनके रूपविधान तक ही सीमित है; **'युगांत'** में विधान-शिल्प में भी मौलिक रूपांतर के चिह्न प्रकट होते हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि **'युगवाणी-ग्राम्या'** के बाद **'स्वर्ण-किरण'**,

'उत्तरा' की रचनाओं में, मैं फिर छायावादी शैली में लौट आया हूँ, जिससे मैं सहमत नहीं। छायावादी शैली में भाव और रूप अन्योन्याश्रित होकर शब्द की चित्रात्मकता में विस्फुटित होते हैं। मेरे उत्तर काव्य में स्वतः चेतना या प्रेरणा अपनी अतिशयता में रूपविधान को अतिक्रम करती रही है, जो मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। 'स्वर्ण किरण', 'उत्तरा' तथा 'अतिमा' की शब्द-योजना में प्रस्फुटन से अधिक परिणति है।

'चिदंबरा' मेरी काव्य-चेतना के द्वितीय उत्थान की परिचायिका है, उसमें 'युगवाणी' से लेकर 'अतिमा' तक की रचनाओं का चयन है, जिसमें 'युगवाणी', 'ग्राम्या' तथा 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि', 'युग पथ' के अंतर्गत 'युगांतर', 'उत्तरा', 'रजत शिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण' अथवा 'अतिमा' की चुनी हुई कृतियों के साथ 'वाणी' की अंतिम रचना 'आत्मिका' भी सम्मिलित है। 'पल्लविनी' में, सन् '१८ से लेकर '३६ तक, मेरे उन्नीस वर्षों के कृतित्व के पदचिह्न हैं, और 'चिदंबरा' में सन् '३७ से '५७ तक, प्रायः बीस वर्षों की विकास श्रेणी का विस्तार। मेरी द्वितीय उत्थान की रचनाएं, जिनमें युग की, भौतिक आध्यात्मिक दोनों चरणों की, प्रगति की चापें ध्वनित हैं, समय-समय पर, विशेष रूप से, कटु आलोचनाओं एवं आक्षेपों की लक्ष्य रही हैं। ये आलोचनाएं, प्रकारांतर से, उस युग के साहित्यिक मूल्यों तथा रूप-शिल्प संबंधी संघर्षों तथा द्वन्द्वों की निदर्शन हैं, और, स्वयं अपने में एक मनोरंजक अध्ययन भी। आने वाली पीढ़ियां निश्चयपूर्वक देख सकेंगी कि उस युग का साहित्य, विशेषकर, आलोचना क्षेत्र, किस प्रकार संकीर्ण, एकांगी, पक्षधर तथा वादग्रस्त रहा है और उसमें तब की राजनीतिक दलबंदियों के प्रतिफल स्वरूप किस प्रकार मान्यताओं तथा कला-रुचि सम्बन्धी साहित्यिक गुटबंदियां रही हैं। भविष्य, निश्चय ही, इस युग के कृतित्व पर अधिक निष्पक्ष निर्णय दे सकेगा, काल ही वह राज-मराल है जो नीर-क्षीर विवेक की क्षमता रखता है।

मुझे स्मरण है, 'पल्लव' की --- रचना 'परिवर्तन' लिखने के बाद मेरा काव्य-बोध का क्षितिज बदलने ल था, जिसका आभास 'छायाकाल' शीर्षक 'पल्लव' की अंतिम रचना में मि है, जिसमें मैंने अपने किशोर मन से प्रकट रूप से विदा ली है।

स्वस्ति, जीवन के छाया काल,
मूक मानस के मुखर मराल,

स्वस्ति, मेरे कवि बाल !

*   *   *

दिव्य हो भोला बालापन,
नव्य जीवन, पर, परिवर्तन !
स्वस्ति, मेरे अनंग नूतन,
पुरातन मदन दहन !

इसके अतिरिक्त कि "बालापन", "परिवर्तन" तथा "अनंग" 'पल्लव' की रचनाओं के शीर्षक हैं, इस प्रगीत में अन्य बातों की ओर भी संकेत है। मैंने अपने मानस को मूक कहा है; मेरा विचारों का मन तब जाग्रत नहीं था, केवल भावों का मराल मुखर था। मैंने अनंग नूतन के रूप में अनागत अरूप नूतन का स्वागत किया है साथ ही पुरातन—रूढ़ि-रीतियों में बद्ध जीवन—का मदन दहन करने की इच्छा प्रकट की है, जो युगांत में मुखरित हो सकी है। यह संपूर्ण कविता मेरी उस काल की मनोवृत्ति की सच्ची दर्पण है; उसे मैंने 'पल्लव' के अंत में विशेष रूप से स्थान दिया है।

"परिवर्तन" में अंकित मानव जीवन के दुःख-दैन्य के कारण-बीज अधिकतर हमारी पुरातन रूढ़ि-रीतियों तथा मध्ययुगीन सामाजिक व्यवस्था में हैं, इसका बोध मुझे तब होने लगा था। 'पल्लव' सन् '२६ में प्रकाशित हुआ है, तब से सन् '३२ तक—जब 'गुंजन' प्रकाशित हुआ—मेरे मानस मंथन का युग रहा है, जिसमें मुझे एक सूक्ष्म दृष्टि भी प्राप्त हुई है, जिसके प्रारंभिक स्फुरण "जग के उर्वर आँगन में" तथा "लाई हूँ फूलों का हास" आदि सन् '३० की रचनाओं में, और व्यापक स्वरूप के दर्शन 'ज्योत्स्ना' के नवीन युग प्रभात में मिलते हैं, जो सन् '३४ में प्रकाशित हुई है। 'गुंजन' में मेरी नवीन साधना के प्रगीत हैं। अवश्य ही 'पल्लव' कालीन किशोर मानस तब अपना सहज संतुलन खो चुका था, जो प्रकृतिगत जीवन-सिद्ध संस्कारों तथा संसार के प्रति जन्मजात विश्वासों का बना होता है। 'गुंजन' काल में मुझे अपने प्रति पुनः नवीन आत्म-विश्वास जाग्रत् करने की आवश्यकता थी। पारिवारिक अवलंब छूट जाने के कारण, जिसकी चर्चा 'आत्मिका' में है, व्यक्तिगत सुख-दुःखों एवं मानसिक ऊहापोहों को नवीन बोध के धरातल पर उठाने के साथ ही जग जीवन से भी नवीन रूप से संबंध स्थापित करने की जीवनाकांक्षा मुझे प्रेरित करने लगी थी। "जग जीवन में है सुख दुख" अथवा "स्थापित कर जग में अपनापन" आदि, अनेक रचनाएँ

इस इच्छा की द्योतक है। "तप रे मधुर मधुर मन" में—जो 'गुंजन' की प्रथम रचना है—मैं अनुभवों की आँच में तप कर अपने मन को नवीन रूप से नवीन विश्वासों में ढालना चाहता हूँ। "सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन" भी इसी मानस रचना के प्रयत्न का परिचायक है। वह जिज्ञासाओं के संघर्ष का युग था; 'गुंजन' की "अप्सरा" जब पीछे 'ज्योत्स्ना' के रूप में प्रस्फुटित होकर मेरे मन में अवतीर्ण हुई तब तक मुझे अनेक नवीन विश्वासों, आदर्शों तथा विचारों की उपलब्धियाँ हो चुकी थीं।

मानव समाज के रूपांतर की भावना का उदय मेरे मन में 'ज्योत्स्ना' काल ही में हो गया था। 'ज्योत्स्ना' में मन-स्वर्ग से अनेक नवीन गुंजन शक्तियाँ भू-मानस पर अवतरित होती हैं। उनका गीत इस प्रकार है:

हम मन:स्वर्ग के अधिवासी,
जग जीवन के शुभ अभिलाषी,
नित विकसित, नित वर्धित अर्चित,
युग युग के सुरगण अविनाशी!
हम नामहीन, अस्फुट नवीन,
नव युग अधिनायक, उद्‌भासी!

इस गीत में नित विकसित, नित वर्धित तथा हम नामहीन, अस्फुट नवीन, नवयुग अधिनायक—विशेषण विशेष ध्यान देने योग्य हैं। स्वप्न और कल्पना ज्योत्स्ना से कहते हैं: "इन मानवीय भावनाओं के वस्त्र पहनाकर एवं मानवीय रूप रंग आकार ग्रहण कराकर हमें आपने उन्मुक्त निःसीम से किस दिव्य प्रयोजन के लिए अवतीर्ण करवाया, सम्राज्ञि।" उसी दृश्य में वेदव्रत कहता है: "जिस प्रकार पूर्व की प्राचीन सभ्यता अपने एकांगी तत्त्वालोचन के दुष्परिणामस्वरूप काल्पनिक मुक्ति के फेर में पड़ कर ..जन समाज की ऐहिक उन्नति के लिए बाधक हुई उसी प्रकार पश्चिमी सभ्यता एकांगी जड़वाद के दुष्परिणामस्वरूप.. विनाश के दलदल में डूब गई।" और भी, "पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म प्रकाश की आत्मा भर एवं अध्यात्मवाद के अस्थि-पंजर में जड़ विज्ञान के रूप रंग भर कर हमने नव युग की सापेक्षतः परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया है। उसी पूर्ण मूर्ति के विविध अंग स्वरूप पिछले युगों के अनेक वादविवाद यथोचित रूप ग्रहण कर सके हैं।" भौतिक आध्या-

त्मिक समन्वय तथा रूपांतरित भू-जीवन के मूल्यों की नींव—जिन्हें मेरी आगे की रचनाओं में अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति मिल सकी है—मेरे मन में इसी काल में पड़ गई थी। 'ज्योत्स्ना' की सूक्ष्म दृष्टि मेरी आँखों के सामने एक गहरी वर्ण-मैत्री के विराट् इन्द्रधनुष की तरह खुली थी। मेरे मन को एक सूक्ष्म आनन्द—जो आस्था भी था—स्पर्श कर चुका था। 'ज्योत्स्ना' का ज्योति-अंधकार का का युद्ध मेरे ही मन का युद्ध था, जिसकी चर्चा मैंने 'आत्मिका' में की है :

मानस तल में ऊपर नीचे चलता तब संघर्षण अविरत
तम पर्वत, सागर प्रकाश का मंथित रहते शिखरों में शत !
* * *
करवट लेता भावी नव युग, गत भू मन को कर क्षत विक्षत
* * *
मुँह तक तम से भर जाता मन उपचेतन आवेशों से श्लथ !
* * *
अविदित भय से कँपता अंतर स्वर्गिक संकेतों से पोषित,
* * *
तम प्रकाश की युग संध्या में होता मन में मौन अवतरित
'ज्योत्स्ना' का जीवन प्रभात नव, भू पर श्री सुख शोभा कल्पित !

'युगांत' तक मेरी भावना में नवीन के प्रति एक आग्रह उत्पन्न हो चुका था, जिसे "द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र" अथवा "गा, कोकिल, बरसा पावक कण—"रच मानव के हित नूतन मन"—आदि रचनाओं में मैंने वाणी दी है। इस नवीन भाव-बोध के सम्मुख मेरा 'पल्लव' युग का कलात्मक रूप मोह ("पल्लव" की भूमिका जिसका निदर्शन है) पीछे हटने लगा। मेरा मन युग के आन्दोलनों, विचारों, भावों तथा मूल्यों के नवीन प्रकाश में ऐसा आंदोलित रहा कि 'पल्लव' 'गुंजन' की सूक्ष्म कला-रुचि को मैं अपनी रचनाओं में बहुत बाद को, परिवर्तित एवं परिणत रूप में, संभवतः, 'अतिमा-वाणी' के छन्दों में, पुनः प्रतिष्ठित कर सका हूँ, जिनमें उसका विकास तथा परिष्कार भी हुआ है और उसमें कला वैभव के साथ भाव वैभव भी उसी अनुपात में अनुस्यूत हो सका है, जो 'पल्लव-गुंजन' काल की रचनाओं में संभव न था।

कुछ आलोचकों को 'युगवाणी' से 'उत्तरा' तक की मेरी रचनाओं में कला-

चरण चिह्न

हास के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं, जिसे मैं दृष्टि-भेद की विडंबना कहूँगा। 'उत्तरा' को सौंदर्यबोध तथा भाव ऐश्वर्य की दृष्टि से, मैं अब तक की अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति मानता हूँ। उसके अनेक गीत, जो 'चिदंबरा' में सम्मिलित हैं, अपने काव्यतत्त्व तथा भाव चैतन्य की ओर, समय आने पर, पाठकों का ध्यान आकर्षित कर सकेंगे। 'उत्तरा' के पद नव मानवता के मानसिक आरोहण की सक्रिय चेतन आकांक्षा से झंकृत हैं। चेतना की ऐसी क्रियाशीलता मेरी अन्य रचनाओं में नहीं मिलती है।

स्वप्नज्वाल चरणों का चंचल,
अंधकार उर आज रहा जल!
* * *
तुम रजत वाष्प के अंबर से
बरसाती शुभ्र सुनहली झर!
* * *
स्वप्नों की शोभा बरस रही
रिम झिम झिम अंबर से गोपन!
* * *
लो, आज झरोखों से उड़ कर
फिर देवदूत आते भीतर!
* * *
कैसी दी स्वर्ग विभा उँडेल
तुमने भू मानस में मोहन! इत्यादि।

ऐसे अनेक उदाहरण 'उत्तरा' से दिये जा सकते हैं जो युग मानव के भीतर नवीन जीवन आकांक्षा के उदय की सूचना देते हैं, जिस नवीन भावबोध की पृष्ठभूमि (मनोभूमि) के कारण ही आज बहिर्जीवन का दैन्य मनुष्य को इतना कुत्सित तथा कुरूप प्रतीत होने लगा है। 'उत्तरा' में मैंने पृथ्वी पर स्वर्गिक शिखरों का वैभव लुटाने का दावा किया है:

मैं स्वर्गिक शिखरों का वैभव,
हूँ लुटा रहा जन धरणी पर!
* * *

देवों को पहना रहा पुनः
मैं स्वप्न-मांस के मर्त्य वसन !

'ग्राम्या' में भी, मेरी दृष्टि में, ग्राम जीवन के भाव क्षेत्र के अनुरूप कला शिल्प वर्तमान है । 'ग्राम्या' की भाषा गाँवों के वातावरण की उपज है :

गंजी को मार गया पाला
अरहर के फूलों को झुलसा,
हाँका करती दिन भर बंदर
अब मालिन की लड़की तुलसा !
*   *   *
बैठी छाती की हड्डी अब
झुकी पीठ कमठा सी टेढ़ी,
पिचका पेट, गढ़े कंधों पर,
फटी बिवाई से हैं एड़ी !
*   *   *
खैर, पैर की जूती, जोरू
एक न सही, दूसरी आती,
पर जवान लड़के की सुध कर
साँप लोटते, फटती छाती ।   इत्यादि ।

'ग्राम्या' के भाव पक्ष में—जिसे मैंने कोरी भावुकता से बचा कर, सहानुभूति पूर्वक, मान्यताओं के प्रकाश में सँवारा है—लोक जीवन के कलुष पंक को धोने के लिए, नए मानव की अंतर-पुकार है । 'युगवाणी' और 'स्वर्ण धूलि' में भाव ऐश्वर्य की तुलना में, कलापक्ष, संभवतः गौण हो गया है, जो मेरी दृष्टि में स्वाभाविक है । इनमें मेरी कल्पना ने अनुद्घाटित नवीन भूमियों तथा क्षितिजों में प्रवेश किया है । वह केवल मेरे भाव प्रवण हृदय का आवेग ज्वार था, जो विगत युगों की भौतिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक मान्यताओं से ऊब-खीझ कर, अपनी अबाध जिज्ञासा के प्रवाह में, अंध-रूढ़ियों के बंधनों तथा निषेध-वर्जनों के अवरोधों को लाँघता हुआ, पार्थिव-अपार्थिव नवीन चैतन्य के धरातलों तथा शिखरों की ओर बढ़ता एवं आरोहण करता गया । वास्तव में वह

आरोहण मेरे लिए स्वयं एक कलात्मक अनुभव एवं सांस्कृतिक अनुष्ठान रहा है। कविता और कला-शिल्प मेरी दृष्टि में फूल और उसके रूप मार्दव की तरह अभिन्न हैं। रूप-मार्दव ?—हाँ, किन्तु रंग-गंध मधु फल ही फूल का वास्तविक दान है। अन्न भरी सुनहली बाल, नाल पर खड़ी रहने के बदले, यदि अपने ऐश्वर्य भार से झुक जाती है, तो इसे विधाता की कला की परिणति ही समझना चाहिए। कुछ ऐसा ही कलात्मक संबंध मेरे मन का, 'युगवाणी', 'स्वर्ण किरण' तथा 'स्वर्ण धूलि' की रचनाओं से रहा है। 'स्वर्ण धूलि' में आर्षवाणी के अंतर्गत वैदिक साहित्य के अध्ययन से प्रभावित जो मेरी रचनाएँ हैं, वे अक्षरशः वैदिक छंदों के अनुवाद नहीं हैं। मेरे भाव-बोध ने उन मंत्रों को जिस प्रकार ग्रहण किया है वही उनका मुख्य तत्त्व और स्वर है। कहीं-कहीं तो मैंने उन मंत्रों की व्याख्या कर दी है।

'पल्लव' के सौन्दर्यबोध के क्षितिज से बाहर निकलते-निकलते जब मैं अपने तथा बाहर के जगत के प्रति प्रबुद्ध हुआ तो मुझे जीवन की भीतरी बाहरी परिस्थितियों का बोध पीड़ित करने लगा। 'पल्लव' काल में मैं परमहंस देव के वचनामृत तथा स्वामी विवेकानंद और रामतीर्थ के विचारों के संपर्क में आ गया था। अपने देश में स्वतन्त्रता-युद्ध के स्वरूप तथा गांधीजी के व्यक्तित्व ने मेरा ध्यान भारत के मानस-महत्त्व तथा जीवन-दैन्य की ओर आकृष्ट किया। सन् '२१ के असहयोग में मैं अपने छात्र जीवन से विदा ले चुका था। गांधीजी का तप-पूत, कर्मठ व्यक्तित्व, जो धीरे-धीरे, गांधीवाद का रूप ग्रहण करने लगा था, मन को अधिकाधिक आकर्षित करता था। 'गुंजन' के आत्म संस्कार के स्वर में, अप्रत्यक्ष रूप से, गांधीजी का भी प्रभाव हो सकता है। उनके सांस्कृतिक चैतन्य को, मैंने, उस युग की अनेकानेक छोटी बड़ी रचनाओं में, श्रद्धांजलि अर्पित की है।

देश के जीवन-दर्शन से बाहर मेरा ध्यान सर्वाधिक तब जिन वस्तुओं की ओर आकृष्ट हुआ था वे थे मार्क्सवाद तथा रूसी क्रांति। गांधीवाद के साथ तब प्रायः समाजवाद—साम्यवाद के विचारों, आदर्शों तथा कार्यप्रणालियों की प्रतिध्वनियाँ कानों में पड़ती थीं। मेरे किशोर सखा पूरन (जो पी० सी० जोशी के नाम से प्रसिद्ध है) तब प्रयाग विश्वविद्यालय में इतिहास के छात्र थे। उनसे प्रायः ही नये राजनीतिक आर्थिक सिद्धांतों की चर्चा और उन पर वाद-विवाद होता था। उनका व्यक्तित्व एवं मानस, उन तीन-चार वर्षों के भीतर, मेरी आँखों

के सामने ही, धीरे-धीरे, डलिह्या के भरे-पुरे फूल की तरह, पूर्ण साम्यवादी के रूप में प्रस्फुटित हुआ था। ऐतिहासिक चेतना से प्रभावित होने के कारण उनको जीवन के समस्त क्रिया-कलापों, अभावों, तथा दैन्यों का निदान और समाधान बाह्य जगत में ही दिखाई देता था। उनकी मानसिक परिणति ने मार्क्सवाद तथा साम्यवाद के अनेक दुर्बल-सशक्त पक्षों को मेरी आँखों के सामने अपने आप खोल दिया और उनकी निष्कपट मैत्री के स्पर्श ने उन उग्र सिद्धांतों को ममता तथा सहानुभूति की दृष्टि से देखना सिखला दिया। मार्क्सवाद का जटिल आर्थिक पक्ष मुझे मेरे भाई स्व० देवीदत्त पंत ने समझाया था। वह तब प्रयाग विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में एम० ए० कर चुके थे और कुशाग्र बुद्धि होने के कारण अपने विषय के मर्मज्ञ थे। अपने मित्र तथा भाई के संपर्क में आकर मैं मार्क्सवाद के गहन कांतार को, अपने ढीठ कल्पना पंखों से, साहसपूर्वक, अत्यन्त उत्साह तथा हर्षानुभूति के साथ पार कर सका, (तब, जब हिन्दी में, संभवतः, इस प्रकार की कविता का जन्म भी नहीं हुआ था, जो पीछे प्रगतिशील कविता कहलाई) और कालाकांकर के गाँवों का वातावरण पाकर 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचनाओं में अपनी उस नवीन जीवन-दृष्टि की प्रक्रियाओं को उन्मुक्त रूप से वाणी दे सका। 'युगवाणी' की रचनाएं सन् '३७-'३८ में लिखी गई थीं। उनमें से अधिकांश सन् '३८ में 'रूपाभ' के अंकों में प्रकाशित हो चुकी थीं। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में ('ग्राम्या' में सन् '३९-'४० की रचनाएँ हैं) अनेक नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण मेरे मन में उदय हुए हैं। आज भी, जब नव मानवतावाद की दृष्टि से, मैं विश्व जीवन के बाह्य पक्ष की समस्याओं पर विचार करता हूँ तो मार्क्सवाद की उपयोगिता मुझे स्वयं-सिद्ध प्रतीत होती है।

आज की राजनीतिक दलबंदी में खोये हुए, पूर्वग्रह पीड़ित आलोचकों को जब छायावाद त्रयी या चतुष्टय में, केवल मैं ही अप्रगतिशील लगता हूँ और वे सब प्रगतिशील लगते हैं, जो, संभवतः, तब युग-दायित्व के प्रति पूर्णतः प्रबुद्ध भी न थे, तो मैं उनका प्रतिवाद नहीं करता। मानव-जीवन के व्यापक सत्यों को, चाहे वे आर्थिक हों या आध्यात्मिक, पूर्वग्रह और विद्वेष की टेढ़ी-मेढ़ी संकरी गलियों में भटकाकर, झुठलाया नहीं जा सकता; समय पर वे लोक मानस में अपना अधिकार अवश्य स्थापित करेंगे। सम्भवतः, जिस संकीर्ण अर्थ में अब प्रगतिवाद का प्रयोग किया जाता है, उस अर्थ में मैं प्रगतिवादी हूँ भी नहीं।

अपने अपने हीरो (नायक) के उपासक, ये पक्षधर आलोचक जब 'पल्लव' की कला का समर्थन करते हैं, तो मैं जानता हूँ, वे पाठको का ध्यान मेरी उन कृतियों से विरत करने का बहाना खोजते है जिनमे उन्हें अपनी दलगत सकीर्णता तथा एकागिता का समर्थन नही मिलता। काव्य-गुण तथा लोक-मागल्य की दृष्टि से मेरी उत्तर कृतियो के चैतन्य तथा कला-बोध के सामन 'पल्लव' की कला अल्पप्राण बालिका के समान तुतलाती प्रतीत होती है। वे पूछते हैं, प्रकृति तथा इद्रधनुष को देखकर मेरे मन मे अब भी वैसी ही विस्मय-कारी कैशोर प्रतिक्रियाएँ क्यो नही होती, जैसी 'पल्लव' काल मे होती थी। ऐसे अबोध प्रश्नो का क्या उत्तर हो सकता है ?

कला के कोमल फेन का मूल्य मानवीय सवेदना के स्वस्थ सौन्दर्य से अधिक है, इसे मेरा मन नही मानता। फिर कला के अनेक रूप हैं, जिनसे वह मर्म को स्पर्श करती है। 'युगवाणी' की अनेक पक्तियाँ 'पल्लव' की मासल कल्पना एवं अलकरणो से रहित होने पर भी अपनी कलात्मक क्षमता रखती हैं। "आज असुन्दर लगते सुन्दर" इस आधे चरण से आज के युग जीवन की विपक्ष रूप-रेखा आँखो के सामने आ जाती है, क्या यह कला की शक्ति नही ? "बन गए कलात्मक भाव, जगत के रूप नाम" मे समस्त मानव भविष्य के निर्माण का चित्र खिच जाता है। "ककाल जाल जग मे फैले फिर नवल रुधिर, पल्लव लाली" का गतिशील स्वस्थ सौन्दर्य छिपा नही है। वनस्पति शास्त्री कहते हैं, जब वन मे वसत आता है तो वनस्पति जगत् के जीवन मे इतनी अधिक गति का सचार होता है कि वन के जीव-जतुओ का जीवन भी अपनी भागदौड़ में उससे होड़ नही ले पाता। उपर्युक्त चरण मे भी उसी वेग से नवजीवन का रुधिर दौड़ता दिखाई देता है। "इस धरती के रोम रोम मे भरी सहज सुन्दरता"—'पल्लव' मे ऐसी व्यापक अनुभूति की सरल कलात्मक अभिव्यक्ति कही नही मिलती। ऐसी सैकडो पक्तियाँ पल्लवोत्तर काव्य ग्रथो से चुनी जा सकती हैं। मैंने अधिकाश उदाहरण **'युगवाणी'** से इसलिए दिए हैं कि उसमें कला का एकात अभाव बताया जाता है। **'युगवाणी'** और **'ग्राम्या'** की कला-त्मक अभिव्यक्ति वस्तुपरक है। **'युगवाणी'** के तीसरे सस्करण की भूमिका में मैंने इस पर प्रकाश डाला है। वह हमारे युग की अदम्य कलात्मक न्याय की *पुकार थी जिसने मुझे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' लिखने को बाध्य किया।* **'स्वर्ण किरण'** और बाद की रचनाओ का कला पक्ष भी भाव सौन्दर्य मडित,

अंतर्दीप्त एवं मांगल्य शक्ति संपन्न है; यह दूसरी बात है कि उनमें राजनीतिक दलबंदी की रिक्त पुकार तथा रुक्ष प्रचार न हो।

वास्तव में, हमारे साहित्य में जीवन-यथार्थ की धारणा इतनी एकांगी, खोखली तथा रुग्ण हो गई है कि हमें शोषित, जर्जर और लघु मानव के रुग्ण चित्रण में ही कलात्मक परितृप्ति मिलती है। हम स्वस्थ मानवता की दिशा की ओर दृष्टिपात नहीं करना चाहते, क्योंकि वहाँ हम अपनी मध्यवर्गीय कुंठाओं से ग्रस्त, आत्मपराजित, क्षुद्र, संकीर्ण, द्वेषदग्ध, काममूढ़ जीवन के लिए सहानुभूति नहीं जगा पाते, जिसे युग जीवन तथा कला का परिधान पहना कर दूसरों के करुणा कण प्राप्त करने के लिए हम आत्म विस्तार का माध्यम बनाना चाहते हैं,—जो नव लेखन का दृष्टिकोण है, जो सद्यः और क्षणिक की अँगुली पकड़े हुए है। अथवा, हम राजनीतिक आवेगों एवं शक्ति-मद की आकांक्षा से प्रेरित होकर आलोचना के नाम में मतवाद तथा गाली-गलौज का अंधड़ उठाकर उसमें साहित्यिक मूल्यों को, आमूल, वृक्षों की तरह, उखाड़ फेंकना चाहते हैं, जो हमारा प्रगतिशील दृष्टिकोण रहा है। दोनों ही में घन यथार्थ की धारणा का अभाव है—ऐसा घन या भाव यथार्थ जो आज के विश्वव्यापी ह्रास से मानव जीवन को ऊपर उठाकर उसे शांति, प्रकाश तथा कल्याण के भुवनों की ओर ले जा सके।

प्रेमचंद जी का यथार्थ राजनीतिक दाँव-पेंचों का यथार्थ न होकर मानवीय तथा साहित्यिक यथार्थ था। वह लघु मानव की कुंठाओं से भरा, तुच्छ, आत्मपीड़ित यथार्थ नहीं, जिसमें मनुष्य परिस्थितियों की निर्ममता को अपनी रीढ़ तोड़ने देता है और अपनी आगे न बढ़ सकने की लुंजपुंज क्षोभ भरी वास्तविकता का चित्रण कर आत्म-तृप्ति का अनुभव करता है। प्रेमचन्द का यथार्थ सामाजिक जीवन के साथ संघर्ष करता हुआ, विकासशील, आशा-क्षमतापूर्ण, मनुष्य को आगे बढ़ाने वाला, व्यापक यथार्थ था, जिसमें लोक मांगल्य के नव अंकुरित बीज मिलते हैं।

यदि प्रगतिशील विचारकों का ध्येय साहित्यिक नेतागीरी तथा यांत्रिक तार्किक मूल्यों का प्रचार करना रहा है, तो नव लेखन का ध्येय, अधिकतर, रूप-विधान का मोह तथा रीढ़हीन, आत्म सुख-दुख के कर्दम में रेंगने वाले लघु यथार्थ के कला-फेन की सृष्टि करना,—जिसमें भाव की समस्त शक्ति रूप की भूलभुलैयाँ में खो जाती है। लोकजीवन एवं विश्वजीवन प्रवाह की

मुख्य मान्यताओ का परित्याग कर और व्यापक मानवीय मूल्यों की ओर आँख मूंदकर, अधिकाश नव लेखको ने गौण, अतिवैयक्तिक, भावोच्छ्वासपरक तथा कुछ अशो में प्रतिक्रियात्मक मान्यताओ को अपनाया है। उनमें से अनेक प्रतिभा सपन्न लेखक जनतत्रवादी देशो से विभीत पश्चिम के कोमल अस्थि, अल्प सख्यक बौद्धिको तथा अस्तित्ववादियो से प्रभावित हैं, जो समतल निराशा एव विषाद के कारण, महत् के प्रति सदिग्ध तथा क्षणिक एव अल्प के प्रति सुखवादियो की तरह मुग्ध होकर, सक्रातिकालीन मध्यवर्गीय तुच्छ दुख-दर्द के प्रति आस्था ममता रखने वाली अहता, कुठा एव आत्मरति भरी वास्तविकता को कला के ललित फेन में लपेट कर, कला का कला के लिए सँवार कर, उसे साहित्य के रूप मे प्रस्तुत कर रहे है। आज की नयी कविता अपनी प्रयोगवादी सीमाओ को अतिक्रम करने के प्रयत्न मे, नवीन मानव मूल्यो की खोज में, सामाजिक चेतना की वास्तविकता के घनत्व से हीन एक भयानक शून्य मे भटक गई है और उपचेतन व्यक्तित्व के मोहक गर्त मे फंस कर ऐसे अति वैयक्तिक छायाभासो तथा व्यक्तिगत रुचियो के भावना मूढ भेदोपभेदो, अतिवास्तविक प्रतीकों तथा शशक शृङ्ग बिम्बो को जन्म दे रही है जिनका मानवता तथा लोकमागल्य से दूर का भी सबध नही,—मागल्य, जो बहुमुखी मानव सत्य की एक मात्र कसौटी है। इस प्रकार वह एक कृत्रिम भाविक अलकरण मात्र बनती जा रही है।

प्रयोगवादी कविता की भविष्य मे क्या सभावनाएँ हैं यह अभी नही कहा जा सकता। अभी तक तो उसमें असपृक्त खडित बिम्बों तथा भग्न प्रतिमाओ के खँडहरो मे इधर-उधर क्षण-सौन्दर्य की झाँकी के साथ चकाचौंध और कृत्रिम चमत्कार ही अधिक मिलता है। प्रकाश जो अतस्तल एव अतर्गठन है, उसके बीज तथा अकुर अभी नही दिखाई पडते हैं। किन्तु भविष्य की कविता अवश्य ही मानवता की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि होगी, जिसमे सौन्दर्य, प्रेम, प्रकाश और आनद अपने क्षितिजो के पार के ऐश्वर्य की रूप-चोप के सूक्ष्म सूत्रो मे गूँथ सकेंगे, इसमें सन्देह नही। अपनी अनेक सीमाओं के रहते हुए भी जो भविष्य में मिटाई जा सकती हैं,—हिन्दी काव्य के राजपथ पर, अभी तक तो छायावाद ही, नवीन सौन्दर्य मजरियो का मुकुट लगाए, नवीन प्रकाश दिशा की खोज में, मद धीर गति से चरण बढा रहा है, ऐसा मेरा अनुमान है।

नए लेखक-आलोचक, आत्म विज्ञापन की धुन में, छायावाद का परिचय

अपने पाठको को उसी प्रकार देते हैं जिस प्रकार कोई रामायण में तुलसी की नारीत्व के प्रति भावना को "ढोल गँवार शूद्र पशु नारी" का उदाहरण देकर उपस्थित करे। छायावाद तथा काव्य मूल्यों के संबंध में दोनो दलो के लेखको के जो अधिकाश आलोचनात्मक ग्रंथ तथा लेख विगत वर्षों में निकले हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं। मैं यह सब लिखकर सामान्य हिन्दी पाठको के लिए—जो लेखक वर्ग में नहीं है—इधर की काव्य मान्यताओं तथा साहित्यिक आलोचनाओं की पृष्ठभूमि स्पष्ट किए दे रहा हूँ, जिससे उन्हें युग साहित्य को समझने में सहायता मिले।

'पल्लव' काल तक मेरा कवि आत्म प्रबुद्ध नही हुआ था; उसके बाद ही वह अपने बाहर भीतर के जीवन प्रवाह के प्रति सचेत हो सका, और अपने बाहर के सामाजिक जीवन की सीमाओ से क्षुब्ध होकर उसने 'युगात', 'युग-वाणी' तथा 'ग्राम्या' में, पुरानी दुनिया की अध रूढि रीति परंपराओ तथा वैज्ञानिक युग से पहिले की संकीर्ण आर्थिक राजनीतिक प्रणालियों तथा सामाजिक परिस्थितियो में पथराई हुई बाह्य जीवन की चेतना पर निर्मम आघात किए और अपने युग की सभावनाओ से नई दृष्टि प्राप्त कर नवीन परिस्थितियो के विकसित सत्य को वाणी देने का प्रयत्न किया। साथ ही, विगत युगो के नैतिक धार्मिक विचारों एव आदर्शों की सीमाओ से परिचित होने पर मानव जीवन तथा मन को व्यापक धरातल पर उठाने के अभिप्राय से युग का ध्यान नवीन चैतन्य तथा अध्यात्म के शिखरों की ओर आकृष्ट किया और शतियो के पुंजीभूत निष्क्रिय मानस अंधकार को नवीन स्वप्नो की सुनहली लपटों मे जगाने की चेष्टा की। इसमें मेरी निर्मम सीमाएँ परिलक्षित होती हों, पर ये वे सीमाएँ नही, जिनकी कि पक्षधर आलोचक घोषणा करते हैं।

मेरा भावप्रवण हृदय बचपन मे ही सौन्दर्य के प्रेरणाप्रद स्पर्शों के प्रति संवेदनशील रहा है, वह सौन्दर्य चाहे नैसर्गिक हो या सामाजिक, मानसिक हो या आध्यात्मिक। मैं हिमालय तथा कूर्माञ्चल के प्राकृतिक ऐश्वर्य से उसी प्रकार किशोरावस्था में प्रभावित हुआ हूँ, जिस प्रकार युवावस्था मे गांधीजी तथा मार्क्स से अथवा मध्य वयस में श्री अरविंद के दर्शन तथा व्यक्तित्व से। हिमालय पर मेरी सबसे बड़ी रचना मद्रास में लिखी गई, जहाँ विशाल समुद्र के तट पर हिमालय के विराट् सौन्दर्य की शुभ्र स्मृति मनश्चक्षुओ के सामने निखर उठी और किशोर जीवन की अनेक मधुर स्मृतियों एवं अनु-

भवो में पुजीभूत प्रवासी मन में "हिमाद्रि" तथा "हिमाद्रि और समुद्र" शीर्षक रचनाएँ मूर्त हो उठीं । युवावस्था के आरभ में रवींद्रनाथ तथा अग्रेजी कवियो ने भी मेरी कला-रुचि का सस्कार किया है; किन्तु कला-रुचि एवं सौन्दर्यबोध से भी अधिक मूल्यवान जो इस युग के लिए नवीन भाव-चैतन्य, नवीन सामाजिकता तथा नवीन मानवता का बोध है वह मुझमे गाधी, मार्क्स तथा श्री अरविंद के संपर्क से विकसित हुआ । निस्संदेह, मेरे भीतर अपने विशिष्ट संस्कार रहे हैं । प्रबुद्ध होने पर अपने युग तथा समाज से मुझे घोर असतोष रहा है । धरती के जीवन को नवीन मानवीय ऐश्वर्य एव सौन्दर्य से मडित देखने की दुर्निवार आकाक्षा मुझमे, अधिक कल्पनाशील होने के कारण, युवावस्था ही में उत्पन्न हो गई थी । साथ ही, मेरे भीतर अनेक प्रकार की बौद्धिक, भाविक सूक्ष्म प्रक्रियाएँ भी निरतर चलती रही हैं, जिनसे, ग्रहण-शीलता की वृद्धि के अतिरिक्त, मुझे अनेक उपलब्धियाँ भी होती रही हैं । मैंने बाहर के प्रभावों को सदैव अपने ही अतर के प्रकाश में ग्रहण किया है, और वे प्रभाव मेरे भीतर प्रवेश कर नवीन दृष्टिकोणो तथा उपकरणों से मडित होकर निखरे हैं, जिन्हे मैं समय समय पर अपनी रचनाओं में वाणी दे सका हूँ । जब मानव-मन की सूक्ष्म अनुभूतियो के प्रति, आधुनिकता का दावा रखने वाले, आज के कोरे बौद्धिक संदेह प्रकट करते हैं, तो यह समझने में देर नही लगती कि उनकी बौद्धिकता तथा आधुनिकता कितने गहरे पानी मे है । 'चिदंबरा' की पृथु-आकृति मे मेरी भौतिक, सामाजिक, मानसिक, आध्यात्मिक सचरणो से प्रेरित कृतियों को एक स्थान पर एकत्रित देखकर पाठकों को उनके भीतर व्याप्त एकता के सूत्रो को समझने मे अधिक सहायता मिल सकेगी । इनमें, मैंने अपनी सीमाओ के भीतर, अपने युग के बहिरंतर के जीवन तथा चैतन्य को, नवीन मानवता की कल्पना से मडित कर, वाणी देने का प्रयत्न किया है। मेरी दृष्टि में 'युगवाणी' से लेकर 'वाणी' तक मेरी काव्य-चेतना का एक ही सचरण है, जिसके भौतिक और आध्यात्मिक चरणों की सार्थकता, द्विपद मानव की प्रगति के लिए सदैव ही, अनिवार्य रूप से रहेगी ।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में भी मेरा दृष्टिकोण मानव जीवन के सत्य के प्रति समन्वयात्मक ही रहा है, जैसा कि मैं 'आधुनिक कवि भाग दो' की भूमिका मे कह चुका हूँ । मैंने मानव जीवन के विकास के लिए भौतिक आध्यात्मिक दोनो मूल्यों की अनिवार्य आवश्यकता बतलाई है ·

भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान !
* * *
अंतर्मुख अद्वैत पड़ा था युग युग से निष्क्रिय, निष्प्राण,
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान !
* * *
मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद !

इसी प्रकार 'ग्राम्या' में मैंने युग-संघर्ष को राजनीति-अर्थनीति तक ही सीमित नही रखा है :

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत् के सम्मुख,
आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित !
* * *
नव प्रकाश में तमस युगों का होगा शनैः निमज्जित !

मध्ययुगीन नैतिकता के प्रति मेरे मन की प्रतिक्रिया 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में इस प्रकार व्यक्त हुई है :

स्वर्ण पींजरे में बंदी है मानव आत्मा निश्चित !
* * *
विविध जाति वर्गों धर्मों को होना सहज समन्वित,
मध्ययुगों की नैतिकता को मानवता में विकसित !

यंत्रों के लिए 'ग्राम्या' में मैंने कहा है :

जड़ नहीं यंत्र, वे भावरूप, संस्कृति द्योतक !
* * *
दार्शनिक सत्य यह नहीं यंत्र जड़, मानव कृत,
वे हैं अमूर्त, जीवन विकास की स्थिति निश्चित !

ऐसे और भी बीसियों उद्धरण दिए जा सकते हैं जिनमें मानव जीवन की

समस्याओं एवं उनके समाधान के रूप में मेरा निश्चित दृष्टिकोण प्रकट होता है, जो आगे चलकर 'स्वर्ण किरण' से 'वाणी' तक की रचनाओं में विकसित होकर अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति पा सका है। अपनी उत्तरकालीन रचनाओं में मैंने इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अतिक्रम कर और भी अधिक व्यापक क्षितिजों का उद्घाटन किया है। भूतवाद अथवा अध्यात्मवाद दोनों ही मुझे अपने में अधूरे लगे हैं। कोरे भूतवादियों से मैंने 'युगवाणी' में कहा है :

हाड़ मांस का आज बनाओगे तुम मनुज समाज ?
हाथ पांव संगठित चलाएँगे जग जीवन काज ?
क्या द्रवित हो गए देख दारिद्रय असंख्य तनों का ?
अब दुहरा दारिद्रय उन्हें दोगे असहाय मनों का ?

'उत्तरा' में मैंने भूतवाद तथा अध्यात्मवाद के एकांगी समर्थकों की भर्त्सना की है :

तुम भाप उन्हें कहते हँसकर, वे तुमको मिट्टी का ढेला,
वे उड़ सकते, तुम अड़ सकते, जीवन तुम दोनों का मेला !
फिर भी यदि जड़ता तुमको प्रिय, उसको चेतनता-दुख नितांत,
है सत्य एक,—जो जड़ चेतन, क्षर अक्षर, परम, अनंत शांत।

आध्यात्मिकता के पैर मैंने सदैव पृथ्वी पर स्थिर रखे हैं। मानवता के स्वर्ग को मैंने भौतिकता के ही हृदय कमल में स्थापित किया है। आध्यात्मिकता के निष्क्रिय, निषेधात्मक तथा ऋण-पक्ष की अवहेलना कर मैंने उसे भू-जीवन विकास तथा जनमंगल का साधन बनाने का प्रयत्न किया है, जिसका सर्वप्रथम उदाहरण 'ज्योत्स्ना' का रूपक है। 'स्वर्ण किरण' में 'द्वा सुपर्णा' शीर्षक रचना में मैंने वैदिक ऋषि के द्रष्टा तथा भोक्तारूपी पक्षियों (जीवों) को पृथक् रूप में स्वीकार न कर ऋषि से प्रश्न किया है :

कहीं नहीं क्या पक्षी ? जो चखता जीवन फल
विश्व वृक्ष पर वास, देखता भी है निश्चल ?
परम अहम् औ' द्रष्टा भोक्ता जिसमें संग संग ?

और इसका उत्तर भी दिया है :

ऐसा पक्षी जिसमें हो संपूर्ण संतुलन
मानव बन सकता है निर्मित कर तरु जीवन।

मैंने कहा है शांति, आनंद अथवा ईश्वर-प्राप्ति के लिए भू-जीवन का त्याग करने की आवश्यकता नहीं, उसके लिए नवीन रूप से लोक जीवन निर्माण करने की आवश्यकता है। 'स्वर्णकिरण' में अपनी 'इंद्रधनुष' तथा 'स्वर्णोदय' नामक रचनाओं में मैंने जीवन मूल्यों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालने की चेष्टा की है :

हमें विश्व संस्कृति पृथ्वी पर करनी आज प्रतिष्ठित,
मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव उर कर निर्मित।
*   *   *
नव मूल्यों से हो जो कल्पित पुनः लोक संस्कृति पर ज्योतित,
हो कृत काम नियति मानव की, स्वर्ग धरा पर विचरे जीवित।
*   *   *
भू रचना का भूतिपाद युग हुआ विश्व इतिहास में उदित,
सहिष्णुता, सद्भाव, शांति से हों गत संस्कृति धर्म समन्वित !
वृथा पूर्व पश्चिम का दिग् भ्रम मानवता को करे न खंडित,
बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अंतर्दृष्टि ज्ञान से योजित।
*   *   *
एक निखिल धरणी का जीवन एक मनुजता का संघर्षण,
अर्थ ज्ञान संग्रह भव पथ का विश्व क्षेम का करे उन्नयन !

मानवता के भविष्य पर अपनी अमिट आस्था प्रकट करते हुए मैंने कहा है :

सस्मित होगा धरती का मुख, जीवन के गृह प्रांगण शोभन,
जगती की कुत्सित कुरूपता सुषमित होगी, कुसुमित दिशि क्षण !
विस्तृत होगा जन मन का पथ, शेष जठर का कटु संघर्षण,
संस्कृति के सोपान पर अमर सतत बढ़ेंगे मनुज के चरण।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि मैंने भौतिक आध्यात्मिक, दोनों दर्शनों से

जीवनोपयोगी तत्त्वों को लेकर, जड़ चेतन संबंधी एकांगी दृष्टिकोण का परित्याग कर व्यापक सक्रिय सामंजस्य के धरातल पर, नवीन लोक-जीवन के रूप में, भरे-पुरे मनुष्यत्व अथवा मानवता का निर्माण करने का प्रयत्न किया है, जो इस युग की सर्वोपरि आवश्यक समस्या है। 'वाणी' में, जिसे आप मंच-काव्य या प्रवचन-काव्य भी कह सकते हैं, मेरा मानव-भविष्य का दर्शन अधिक महत्त्वपूर्ण स्तर पर आत्मिका में अवतीर्ण हुआ है :

सत्य तथ्य विज्ञान ज्ञान, दो पक्ष एक खग के पोषक नित,
लोकध्येय, जीवन उद्भव हित रहें विषम सम चरण समन्वित !
*   *   *
वैयक्तिक सामूहिक गति के दुस्तर द्वन्द्वों में जग खंडित,
ओ अणुमृत जन, भीतर देखो, समाधान भीतर, यह निश्चित !
*   *   *
देश खंड से भू मानव का परिचय देने का क्या क्षण यह,
मानवता में देश जाति हों लीन, नए युग का सत्याग्रह।
*   *   *
आज विशेषीकरण समाजीकरण साथ चल रहे धरा पर
महत् धैर्य से गढ़ने सबको मन के मंदिर, जीवन के घर !
*   *   *
मनुज धरा को छोड़ कहीं भी स्वर्ग नहीं संभव, यह निश्चित !
*   *   *
ईश्वर से इंद्रिय जीवन तक एक संचरण रे भू पावन !

ऐसे अनेक उदाहरण 'वाणी' से प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

सामाजिक सांस्कृतिक मान्यताओं का विकास इस युग में वहिरंतर सयोजित मानवता की रचना के रूप में होना चाहिए, जिस पर अनेक दृष्टिकोणों से प्रकाश डालने की आवश्यकता है, और जिसका सर्वाधिक दायित्व हमारी नवीन पीढ़ियों की प्रतिभाओं के कंधों पर है। कवीन्द्र रवीन्द्र के युग से हमारे युग की जीवन मान्यताओं का संघर्ष अत्यधिक प्रबल तथा जटिल हो गया है। 'वाणी' में मैंने कवीन्द्र रवीन्द्र शीर्षक रचना में नवीन युग-बोध की समस्या को प्रस्तुत किया है :

मग्न अचेतन कर्दम में भू जीवन शतदल,
उसे उठा, कर सके कलुष का मुख तुम उज्ज्वल ?
* * *
विश्वकवे, तुम जिस मानवता के प्रतिनिधि बन
आए, वह खो चुकी हाय, मानुष्य परम धन !
* * *
क्या सोचा था ? नरक स्वर्ग ही का लघु उपक्रम,
जागेगा सोया प्रकाश, धरती का जो तम ?
* * *
महाकवे, युग पलकों पर भूला नव सावन,
दिग् विराट् नव मनुष्यत्व का दिव्य स्वप्न बन।

कवि या द्रष्टा, ततुवाय की तरह, अपने ही भीतर से किसी काल्पनिक सत्य का जाल नही बुनता। उसकी अंतर्दृष्टि काल के अभ्यतर या विश्व-मानस में चल रही सूक्ष्म शक्तियों की क्रीड़ा के प्रति सजग रहती है, वह उसी सत्य को अपने अनुभव की वाणी में गूँथ कर लोक-मानस के सम्मुख रख देता है।

युग-संघर्ष के अनेक रूपों को मैंने अपने काव्य रूपकों द्वारा भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। "फूलों के देश" मे मैंने सस्कृति और विज्ञान के समन्वय के प्रश्न को उठाया है। "ध्वंसशेष" में अणुयुद्ध के बाद नवीन मानवता के निर्माण की समस्या प्रस्तुत की है। 'विद्युत् वसना' में मैंने मानव-स्वतत्रता के सिद्धात को मानव-एकता के अधीन रखने की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है। 'शिल्पी' में कला मूल्यों तथा 'रजतशिखर' में उपचेतन की समस्याओं तथा जीवन मान्यताओं के संघर्ष का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। "ध्वंसशेष" के तृतीय दृश्य में, जो इस संकलन में जा रहा है, मैंने वर्तमान सभ्यता के विविध तत्त्वों का मूल्यांकन किया है और उसके अंतिम दृश्य में नवीन मानवता के सास्कृतिक मूल्यो को विकसित लोकतत्र के रूप में प्रतिष्ठित कर ध्वंस के बाद नवीन मानव संस्कृति के उद्भव तथा निर्माण की दिशा की ओर संकेत किया है। अपने "सौवर्ण" नामक काव्य रूपक में मैंने प्राचीन निष्क्रिय अध्यात्म को सक्रिय बनाने की आवश्यकता पर बल दिया है। उसका शांत-द्रष्टा कहता है :

जीवनोपयोगी तत्वों को लेकर, जड़ चेतन संबंधी एकांगी दृष्टिकोण का परित्याग कर व्यापक सक्रिय सामंजस्य के धरातल पर, नवीन लोक-जीवन के रूप में, भरे-पुरे मनुष्यत्व अथवा मानवता का निर्माण करने का प्रयत्न किया है, जो इस युग की सर्वोपरि आवश्यक समस्या है। 'वाणी' में, जिसे आप मंच-काव्य या प्रवचन-काव्य भी कह सकते हैं, मेरा मानव-भविष्य का दर्शन अधिक महत्त्वपूर्ण स्तर पर आत्मिका में अवतीर्ण हुआ है :

सत्य तथ्य विज्ञान ज्ञान, दो पक्ष एक यह के पोषक नित,
लोकश्रेय, जीवन उद्भव हित रहें विषम सम चरण समन्वित !
* * *
वैयक्तिक सामूहिक गति के दुस्तर द्वन्द्वों में जग खंडित,
ओ अणुभूत जन, भीतर देखो, समाधान भीतर, यह निश्चित !
* * *
देश खंड से भू मानव का परिचय देने का क्या क्षण यह,
मानवता में देश जाति हों लीन, नए युग का सत्याग्रह।
* * *
आज विशेषीकरण समाजीकरण साथ चल रहे धरा पर
महत् धैर्य से गढ़ने सबको मन के मंदिर, जीवन के घर !
* * *
मनुज धरा को छोड़ कहीं भी स्वर्ग नहीं संभव, यह निश्चित !
* * *
ईश्वर से इंद्रिय जीवन तक एक संचरण रे भू पावन !

ऐसे अनेक उदाहरण 'वाणी' से प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

सामाजिक सांस्कृतिक मान्यताओं का विकास इस युग में बहिरंतर संयोजित मानवता की रचना के रूप में होना चाहिए, जिस पर अनेक दृष्टिकोणों से प्रकाश डालने की आवश्यकता है, और जिसका सर्वाधिक दायित्व हमारी नवीन पीढ़ियों की प्रतिभाओं के कंधों पर है। कवीन्द्र रवीन्द्र के युग से हमारे युग की जीवन मान्यताओं का संघर्ष अत्यधिक प्रबल तथा जटिल हो गया है। 'वाणी' में मैंने कवीन्द्र रवीन्द्र शीर्षक रचना में नवीन युग-बोध की समस्या को प्रस्तुत किया है :

मग्न अचेतन कर्दम में भू जीवन शतदल,
उसे उठा, कर सके कलुष का मुख तुम उज्ज्वल ?
*　　*　　*

विश्वकवे, तुम जिस मानवता के प्रतिनिधि बन
आए, वह खो चुकी हाय, मानुष्य परम धन !
*　　*　　*

क्या सोचा था ? नरक स्वर्ग ही का लघु उपक्रम,
जागेगा सोया प्रकाश, धरती का खो तम ?
*　　*　　*

महाकवे, युग पलकों पर झूला नव सावन,
दिग् विराट् नव मनुष्यत्व का दिव्य स्वप्न बन।

कवि या द्रष्टा, तंतुवाय की तरह, अपने ही भीतर से किसी काल्पनिक सत्य का जाल नहीं बुनता। उसकी अंतर्दृष्टि काल के अभ्यंतर या विश्व-मानस में चल रही सूक्ष्म शक्तियों की क्रीड़ा के प्रति सजग रहती है, वह उसी सत्य को अपने अनुभव की वाणी में गूँथ कर लोक-मानस के सम्मुख रख देता है।

युग-संघर्ष के अनेक रूपों को मैंने अपने काव्य रूपकों द्वारा भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। "फूलों के देश" में मैंने संस्कृति और विज्ञान के समन्वय के प्रश्न को उठाया है। "ध्वंसशेष" में अणुयुद्ध के बाद नवीन मानवता के निर्माण की समस्या प्रस्तुत की है। 'विद्युत् वसना' में मैंने मानव-स्वतंत्रता के सिद्धांत को मानव-एकता के अधीन रखने की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है। 'शिल्पी' में कला मूल्यों तथा 'रजतशिखर' में उपचेतन की समस्याओं तथा जीवन मान्यताओं के संघर्ष का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। "ध्वंसशेष" के तृतीय दृश्य में, जो इस संकलन में जा रहा है, मैंने वर्तमान सभ्यता के विविध तत्वों का मूल्यांकन किया है और उसके अंतिम दृश्य में नवीन मानवता के सांस्कृतिक मूल्यों को विकसित लोकतंत्र के रूप में प्रतिष्ठित कर ध्वंस के बाद नवीन मानव संस्कृति के उद्भव तथा निर्माण की दिशा की ओर संकेत किया है। अपने "सौवर्ण" नामक काव्य रूपक में मैंने प्राचीन निष्क्रिय अध्यात्म को सक्रिय बनाने की आवश्यकता पर बल दिया है। उसका ज्ञात-द्रष्टा कहता है :

देख रहा मैं, बरफ बन गया, बरफ बन गया,
मानव का चैतन्य शिखर, नीरव, एकाकी,
निष्क्रिय, नीरस, जीवन-मृत, सब बरफ बन गया!
* * *
आह, उसे प्राणों का स्पंदित ताप चाहिए,
जीने को जन मन का भावोच्छ्वास चाहिए।

सौवर्ण के व्यक्तित्व में, जिसका बाह्य रूप वर्तमान जनयुग के संघर्ष की झंझा का द्योतक है—सौवर्ण झंझा के रथ पर चढ कर आता है—मैंने जीवनोपयोगी घन आध्यात्मिकता का मानवीकरण कर भावी मानवता का स्वरूप उपस्थित किया है। अपने काव्य रूपकों को मैं नाटक न कह कर कथोपकथन प्रधान श्रव्य काव्य ही की संज्ञा दूंगा।

"आत्मिका" शीर्षक इस संग्रह की अंतिम रचना मे मैंने विगत युगो की आध्यात्मिकता का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। "वाणी' की "बुद्ध के प्रति" नामक रचना में भी नवीन मूल्यो का प्रतिपादन मिलता है:

जड़ से चेतन, जीवन से मन, जग से ईश्वर को वियुक्त कर,
जिस चिन्तक ने भी युग दर्शन दिया भ्रांति वश जन मन दुस्तर,
किया अमंगल उसने भू का, अर्ध सत्य का कर प्रतिपादन,
जड़ चेतन जीवन मन आत्मा एक, अखंड, अभेद्य, संचरण!
* * *
भू पर संस्कृत इंद्रिय जीवन मानव आत्मा को रे अभिमत,
ईश्वर को प्रिय नहीं विरागी, संन्यासी, जीवन से उपरत!
आत्मा को प्राणों से बिलगा अधिदर्शन ने की जग की क्षति,
ईश्वर के सँग विचरे मानव भू पर, अन्य न जीवन परिणति!

इस प्रकार अपनी अनेक रचनाओं में मैंने धार्मिक, साम्प्रदायिक, दार्शनिक विचारों के आवर्तों से जीवनोपयोगी सिद्धांतों को उबार कर पाठकों के मनः क्षितिज में नवीन आध्यात्मिक शिखरों का सौन्दर्य चित्रित करने का प्रयत्न किया है, जो आने वाली मानवता की ऊँचाई, गहराई एवं व्यापकता का द्योतक है। मैंने अपना जीवन दर्शन, युग की आवश्यकताओं एवं मानवता के विकास

की संभावनाओं को सम्मुख रख कर, अनेक महान् ग्रंथों तथा महापुरुषों से प्रेरणा ग्रहण कर, उनके उपयोगी तत्वों को आत्मसात् कर, लोक-कल्याण एवं भू-मंगल की भावना के उद्देश्य से, अपने काव्य-पट में गुंफित करने का साहस किया है।

'स्वर्ण किरण' और 'उत्तरा' में कहीं-कहीं दीप्त लावण्य के स्थल आए हैं, जिनसे मेरे कुछ मित्रों तथा आलोचकों को आपत्ति है। विशेषतः, इसलिए कि उनकी संगति मेरे आध्यात्मिक काव्य के साथ नहीं बैठती। कवि दृष्टि निर्वैयक्तिक होती है, वह स्त्री-सौन्दर्य को उपभोग के गुंठन में सुरक्षित रखने के बदले उसे व्यापक आनन्द के लिए वितरित कर देती है। यह आदि कवि वाल्मीकि काल से प्रचलित व्यास, कालिदास की परम्परा है, जिसके गवाक्ष से स्त्री-सौन्दर्य पर मधुर प्रखर भावोष्ण प्रकाश पड़ता रहा है। स्त्री की शोभा पृथ्वी पर कला की पीठिका है, उसका शील-सदाचार और अध्यात्म का द्वार। मेरी दृष्टि में इसमें युग्म जीवन तथा सहजीवन के मूल्यों का प्रश्न भी निहित है, जिस पर नवीन युग की भूमिका पर अधिक व्यापक दृष्टि से विचार करना उचित होगा। भौतिक आध्यात्मिक मान्यताओं के अतिरिक्त मेरी इस काल की रचनाओं में रागात्मक मूल्यों का भी एक विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण स्तर है। आने वाली संस्कृति के धरातल पर नारी-सौन्दर्य मानव जीवन के उन्नयन में बाधक न होकर सहायक ही होगा। तब नर-नारी या एक दूसरे के प्रति सहज अनुराग का चंद्र प्रतियों की कृच्छ्र, जीवन विरत कल्पना के राहु से मुक्त हो सकेगा। भावी की प्रबुद्ध मानवता के सम्मुख स्त्री देह को "चाम की तुच्छ थैली" के रूप में चित्रित करना लज्जाजनक प्रतीत होता है। कला देह-सौष्ठव के साथ कामना की अग्नि को भी सौन्दर्य-बोध तथा राग की लय में वेष्टित कर उज्ज्वल बना देती है, उससे उद्दीपन से अधिक आह्लाद और तृप्ति का ही अनुभव होना चाहिए।

वास्तव में सौन्दर्य-चित्रण से अधिक, राग भावना के प्रति जो मौलिक दृष्टिकोण का प्रश्न है, उसी पर मैंने इस उत्थान की रचनाओं में अधिक प्रकाश डाला है। इस विषय पर, समय आने पर, अधिक गम्भीर तथा रूढ़ि ग्रह मुक्त विवेचना हो सकेगी। राग भावना को, स्वस्थ मानवता के स्तर पर, उन्मुक्त, परिणत तथा संस्कृत होना ही पड़ेगा। वैराग्यवाद तथा निषेध वर्जनाओं के आधार पर मानवता अथवा सामाजिकता से उसका उन्मूलन नहीं किया जा सकता। भावी पीढ़ियों को, मैं पिछले युगों का देह-बोध का भार वहन करते

हुए, धूप और छाँह की तरह, दो अनमेल इकाइयों में विच्छिन्न नहीं देखना चाहता। यह मात्र मध्ययुगीन नैतिक दृष्टिकोण है जो स्त्री-सम्पर्क को आध्यात्मिकता का विरोधी मानता है। सच तो यह है कि पिछली आध्यात्मिकता तथा नैतिकता की धारणा ही खोखली, एकांगी तथा अवास्तविक रही है, जिसे स्त्री-स्पर्श तथा संपर्क उन्नत करने के बदले कलुषित कर सका है। निश्चय ही, वह जीवनोन्मुखी अध्यात्म न होकर रिक्त, जीवन विरत तथा अप्राकृतिक अध्यात्म रहा है जिसका दूसरा छोर हमारा वाममार्गी, वज्रयानी, साधना पथ तथा पंडों, पुरोहितों और महंतों का धार्मिक जीवन रहा है। स्त्री-संसर्ग तथा उच्च धर्म सम्बन्धी दृष्टिकोण मे संभवतः अति प्राचीन काल में इसलिए विरोध रहा हो कि तब मनुष्य पहली बार पाशविकता तथा बर्बरता के जंगल से बाहर निकला था। अब भी, सम्भवतः, विशिष्ट परिस्थितियों मे, धर्म और काम को विच्छिन्न करने की आवश्यकता पड़ सकती है, किन्तु विकसित सामाजिकता के लिए स्त्री-पुरुष का संतुलित संस्कृत रागात्मक सहजीवन अनिवार्य सत्य है, और बहुत सम्भव है, कभी वह विभिन्न इकाइयों मे विभक्त गृहों की संकीर्ण देहलियों एवं प्रांगणों को लाँघ कर एक अधिक व्यापक विकसित धरातल पर आत्म संयमित स्वतः निर्देशित, शील-सौम्य मानवता में परिणत हो सकेगा।

क्षुधा काम के सामंजस्य का प्रश्न मानवता के सम्मुख महत्वपूर्ण तथा जटिल प्रश्न है। उदर क्षुधा के समाधान का प्रश्न यदि आज की राजनीति एवं अर्थ-नीति का प्रश्न है, तो युग्म भावना एवं रागात्मकता का प्रश्न कल की संस्कृति का प्रश्न है। क्षुधा काम तब देह और व्यक्ति के मूल्य न रह कर सामाजिकता तथा संस्कृति के मूल्यों, आत्मा तथा लोक-मंगल के मूल्यों में बदल जाएँगे। इंद्रिय विषयक मूल्य मनुष्य की पिछली बहिरंतर की सीमाओं से निर्धारित हैं; नैतिक मूल्यों तथा लोकाचार को बदलने से पहिले हमें अपनी चेतना तथा मानस के अंचल को, जिसमें पिछले मूल्यों की छाप है, व्यापक, परिष्कृत राग-भावना में डुबो कर प्रक्षालित कर लेना होगा। लोककर्म से संयमित रागात्मकता वैसे भी अनःपुष्ट होगी, जब स्त्री-पुरुष तटस्थ, आत्मस्थ, मोह मुक्त, दो समांतर रेखाओं-से होंगे, और लोकमंगल के विकासशील सत्य से प्रेरित होकर परस्पर संयुक्त रहेंगे।

यदि हम प्राण भावना के धरातल से अंतश्चैतन्य के शिखर की ओर देखें तो रति काम की अनःपुष्ट स्थिति ही पार्वती परमेश्वर का रूप है, जो अंतः

प्रेम में सपृक्त है; और उन्हीं का बहिरंतर संतुलित सांस्कृतिक रूप कृषियुग की परिस्थितियों के अनुरूप, श्री सीताराम तथा राधाकृष्ण का युगल रूप अपने यहाँ है। स्त्री-पुरुषों के बीच रागात्मक सामंजस्य संस्कृति का मूल उपादान है। वैरागियों के दमन से युग्मेच्छा का संतुलित उन्नयन, संस्कृति की दृष्टि से, अधिक लोकोपयोगी एवं सौन्दर्य उर्वर है। ऐसे समाज की प्रतिष्ठा अवश्य ही अत्यन्त धैर्य, शील, सहिष्णुता तथा जागरूकता से ही पृथ्वी पर सम्भव है। आध्यात्मिक-लौकिक मूल्यों को परस्पर विरोधी पृथक् मूल्यों में विच्छिन्न करने का यही कारण है कि मानव राग भावना का अभी विकास या परिष्कार नहीं हो सका है। इसीलिए न हमारा गृह जीवन और सामाजिक जीवन ही संस्कृति की दृष्टि से पूर्ण बन सका है, न हमारे आश्रमों, तपोवनों तथा तीर्थस्थानों का जीवन ही वास्तविक अर्थ में भगवत् जीवन बन सका है; दोनों ही एकांगी, स्वर्ग (पुण्य) भीरु तथा धरा (पाप) भीत होकर पंगु, निष्क्रिय या अर्ध-सक्रिय, अपूर्ण तथा अक्षम ही रह गए हैं; न हमारे दिव्य जीवन की ही धारणा पूर्णता प्राप्त कर सकी है, न लौकिक जीवन की ही। पूर्णता प्राप्त करने के लिए हमें समग्र लोक-जीवन को ही रागात्मक विकास की उपयुक्त पीठिका बनाना होगा। ये विचार मैं केवल भावी सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के रूप में ही यहाँ दे रहा हूँ, जिन पर आधारित मानव जीवन आसक्ति मुक्त, राग शुद्ध, अंतः स्थित होकर, घृणा, उपेक्षा तथा कामद्वेष से रहित, व्यापक प्रेम में संगठित हो सकेगा। वास्तव में जिस भगवत् प्रेम को आज हम अतः शुद्धि तथा यम नियमों के आधार पर मानसिक भावना के स्तर पर प्राप्त करना चाहते हैं वह हमें संस्कृत लोक जीवन के धरातल पर उपलब्ध होना चाहिए। श्रीकृष्ण की रास-लीला तथा चैतन्य की भावलीला में हमें परिष्कृत राग भावना की आंशिक झाँकियाँ मिलती हैं।

'युगवाणी' की "राग साधना" कविता से लेकर 'वाणी' की "पुनर्मूल्यांकन" रचना तक मैंने अपनी अनेकानेक कृतियों में नव युग की इस अभीप्सा को वाणी दी है। "मानसी" नामक गीत रूपक में भी मैंने इसी भावना का विकास दिखाया है और "स्वर्णोदय" में इस सत्य को इस प्रकार व्यक्त किया है :

> क्यों मानव यौवन वसंत-सा हो न लोक जीवन में कुसुमित
> मधुर प्रीति हो सामाजिक सुख, प्राण भावना आत्म संयमित !

करें मुक्त उपभोग हृदय का नर नारी निज रुचि से प्रेरित,
आदर प्रीति विनय हो उर में, अंग लालसा का मुख संस्कृत !
हृदय तमस आलोक स्रोत पा हो जीवन सौन्दर्य में द्रवित,
प्राण कामना सृजन शील बन, धरा स्वर्ग रचना में योजित !

रागात्मिका वृत्ति के परिष्कार को मैंने नव मानवता के निर्माण के लिए अनिवार्य मूल्य माना है। स्त्री पुरुष सबधी और समस्त मान्यताएँ तथा नैतिक सामाजिक दृष्टिकोण मुझे अपूर्ण, कृत्रिम, अव्यावहारिक, अस्वाभाविक तथा मानवता के अंतर्विकास के लिए घातक प्रतीत हुए हैं। यह प्रवृत्ति पथ नहीं, निवृत्ति पथ नहीं; निवृत्ति सतुलित, प्रीति सयमित प्रवृत्ति पथ है। इद्रिय पथ नही, इद्रिय मूल्यो पर आधारित शील पथ है। मैं साधु सतो के तपोमय जीवन का प्रेमी हूँ, पर जीवन के अतरतम वारियो मे जो मुक्त अबाध व्यापक अनुराग की धारा बहती है उसी को मैं उपर्युक्त शील पथ के रूप मे स्वस्थ लोक-जीवन-निर्माण के लिए प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिसका लक्ष्य भू-रचना तथा जनमंगल है।

मैं यहाँ यह भी स्पष्ट कर दूं कि मेरा काव्य मुख्यत. आध्यात्मिक काव्य नहीं है, और, यदि है भी, तो प्राचीन रूढ़ अर्थ में नही, जिसमें अध्यात्म, वैराग्य के सोपान पर, अन्न, प्राण मन की श्रेणियो को पार कर, केवल ऊर्ध्व मुख चिदाकाश की ओर आरोहण करता है। मेरे द्वितीय उत्थान के काव्य के लिए उपयुक्त सज्ञा होगी, नवीन चेतना काव्य, जिसके अंतर्गत मानव जीवन मन के उच्च एव समदिक् दोनों स्तरो की सस्कृत, सतुलित, व्यापक सामाजिकता तथा नव मानवता के तत्त्व वर्तमान है। मेरी काव्य चेतना मुख्यतः नवीन संस्कृति की चेतना है, जिसमे आध्यात्मिकता तथा भौतिकता का नवीन मनुष्यत्व के धरातल पर सयोजन है। मेरा काव्य प्रथमतः इस युग के महान् संघर्ष का काव्य है। जो लोग युग सघर्ष को वर्ग सघर्ष तक ही सीमित रखकर उसे केवल बाहरी आर्थिक राजनीतिक स्तरो पर ही देख सकते हैं, उनकी बात मैं नहीं करता, अन्यथा 'युगवाणी' से 'वाणी' तक मेरा समस्त काव्य युग मानव एवं नव मानव के अतरतम संघर्ष का काव्य है। मेरी काव्य चेतना केवल मध्य-युगीन नैतिक बौद्धिक अधकार तथा जीवन के प्रति तद्जनित सीमित दृष्टिकोण से ही नही सघर्ष करती रही, वह भावी मानवता के पथ के बहिरतर के दुर्गम अवरोधो से भी निरन्तर जूझती रही है। आज के विराट् मानवीय संघर्ष को

वर्ग संघर्ष तक ही सीमित करना विगत युगों की सर्व चेतना तथा ऐतिहासिक अंधकार की एक हिंस्र प्रतिक्रिया मात्र है। दूसरे शब्दों में, मेरा काव्य भू-जीवन, लोक-मंगल तथा मानव मूल्यों का काव्य है, जिसमें मनुष्यत्व और लोकगण दो भिन्न तत्व नहीं, एक दूसरे के गुण राशि वाचक पर्याय हैं। वैसे तुलसी रामायण भी लोक-मंगल का काव्य है, पर यह मुख्यतः आध्यात्मिक काव्य और धर्मग्रंथ है; जिसमें लोक जीवन सत्ता और भगवत् सत्ता दो पृथक् मूल्यों में विभक्त है। उसमें श्रद्धा भक्ति से मानस अजिर उज्ज्वल रखने तथा नाम कीर्तन, आराधना द्वारा अपवर्ग तथा मोक्ष-प्राप्ति का संदेश निहित है। मेरे चेतना काव्य में नवीन भू-जीवन तथा भगवत् जीवन "सियाराम मय सब जग जानी" के भावनात्मक अर्थ में ही नहीं, इससे भी व्यापक अर्थ में, अभिन्न सत्ता है। उसमें भगवत्-प्रेम जीवन-मुक्ति का नहीं, जीवन-रचना-मंगल का उपादान है। तपः पूत व्यक्ति का मन ईश्वर का मंदिर है, इस पर अधिक बल न देकर मैंने संयुक्त, संस्कृत बहिरंतर सयोजित सामाजिक जीवन ही भगवत् चेतना का मूर्त पीठ है और उन्नत लोक-जीवन-रचना ही भगवत् सान्निध्य प्राप्ति का साधन है, इसको अधिक महत्त्व दिया है। भू-जीवन तथा भगवत् जीवन के मध्य मुझे किसी प्रकार का ज्ञान वैराग्य जनित आध्यात्मिक व्यवधान अभिप्रेत नहीं है, तथा संस्कृत मानव-जीवन एवं उन्नत भू-रचना के अतिरिक्त मुझे आध्यात्मिकता के लिए अन्य उपकरण उतने मूल्यवान नहीं प्रतीत होते। आध्यात्मिक दृष्टिकोण के प्रति यह मौलिक अंतर मेरी रचनाओं में ध्यान देने योग्य है। विकसित, परिपूर्ण, लोक जीवन ही भगवत् पूजन का प्रतीक हो, मुझे यह अधिक स्वाभाविक लगता है। इस संबंध में मुझे 'उत्तरा' की कुछ पंक्तियाँ स्मरण आ रही हैं :

आज व्यक्ति के उतरो भीतर, निखिल विश्व में विचरो बाहर
कर्म वचन मन जन के उठकर बनें युक्त आराधन!

* * *

जगतीं मानव में देवोत्तर मिट्टी की प्रतिमाएँ नश्वर,
युग प्रभात छवि स्नात निखरते भू जनपद, पुर, प्रांतर।

धरती के जीवन से भगवत् सत्ता को पृथक् कर, लोक मानवता के बदले किसी कल्पना या सिद्धि के मनःस्वर्ग में, ध्यान धारणा के शिखर पर, ईश्वर

साक्षात्कार की भावना को सीमित करना, भविष्य की दृष्टि से, मुझे कृत्रिम और अस्वाभाविक लगता है। इससे मानव जीवन का हित होने के बदले उसकी उपेक्षा एव अहित ही हुआ है। एक ही अखड सत्य की सत्ता पारलौकिक ऐहिक रूपो मे विभक्त हो गयी है। मध्ययुग की समस्त नैतिकता और सदाचार के मानदड तथा भगवत् संबधी ज्ञान, आध्यात्मिक मान्यताएँ और विचारधाराएँ इसका उदाहरण हैं। भौतिक आध्यात्मिक सचरणो का परस्पर विरोधी समझे जाने का भी यही कारण है, क्योंकि समतल जीवन की उपेक्षा के कारण ऊर्ध्व के साथ उसका सयोजन नही किया जा सका। यह सच होने पर भी, हमे मध्ययुगीन विचारको, दार्शनिको, संतो तथा कवियो के प्रति कृतज्ञ रहना चाहिए, जिन्होने उस घोर सास्कृतिक विघटन, ह्रास के कुहासे, जीवन नैराश्य तथा धरती के अधकार से निरतर सघर्ष कर, हमारे भीतर किसी न किसी रूप मे, सत्य की ज्योति को प्रज्वलित रखा है। किन्तु नवीन युग को इस जड़ धरती के जीवन को ही उच्च विकास की उपयुक्त पीठिका बनाना है। विज्ञान और धर्म को भविष्य मे नव मानवता के रूप मे सयोजित होना है :

ईश्वर के सँग विचरे मानव भू पर,
अन्य न जीवन परिणति।

हमारी अनेक ऊर्ध्व (आध्यात्मिक) मान्यताएँ इसलिए भी रहस्य में खोई हुई आकाश कुसुम सी लगती हैं कि वे समदिक् लौकिक जीवन से विच्छिन्न तथा असयोजित रहने के कारण उच्च सिद्धातो के सूक्ष्म धरातल पर भी ठीक से ग्रहण नही की जा सकी हैं। इसलिए, एक दृष्टि से, पुरानी दुनिया का अध्यात्म तथा ईश्वर बोध, अधिकतर कल्पना ही में लिपटा हुआ रह गया है। मेरी दृष्टि में भू-जीवन को भगवत् जीवन बनाने के लिए हमे कही ऊपर नहीं खो जाना है, प्रत्युत् जीवन आकाक्षाओ का पुनर्मूल्याकन कर विगत मूल्यों को अधिक व्यापक बनाना है। निश्चय ही जो आध्यात्मिकता मानव जीवन के रक्तमास के उपादानों का बहिष्कार या अवहेलना कर किसी उच्च जीवन की कल्पना करती है वह जीवन-मगल को द्योतक नहीं हो सकती। मुझे यह अनुभूति 'युगवाणी-ग्राम्या' काल ही में हो चुकी थी। 'युगवाणी' की "मानव पशु", "जीवन सम", "राग", "रागसाधना" तथा "जीवन मास" आदि रचनाएँ मेरे इसी अनुभव की द्योतक हैं, "ईश्वर है यह मास पूर्ण यह !" या "रूपमास

है अमर प्रकाश !" कहकर मैंने 'युगवाणी' में रूप-मास अर्थात् संस्कृति शुद्ध जीवन ही को भगवत् प्रकाश का मूर्त उपादान बतलाया है।

जैसा कि ऊपर कह चुका हूं, मैं आध्यात्मिकता के विकास को सामाजिक जीवन से पृथक्, वैराग्य के स्फटिक शीत मंदिर में रह कर, संभव नहीं मानता। वह तो पुरानी आध्यात्मिकता है जिसने भगवत् चेतना को जीवन में प्रतिष्ठित करने के बदले "भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः" कहकर, अतरतम में उसके अमृत प्रकाश का स्पर्श पाकर, सतोष कर लिया। जगत् या सृष्टि के मूल में जो ईश्वर या भागवत चेतना है, उसे विकास क्रम में मनुष्य के सामाजिक जीवन एव विश्व जीवन मे मूर्त होना ही चाहिए; यही मेरी दृष्टि मे मात्र भगवत् साक्षात्कार है,—ईश्वरत्व को जीवन की वास्तविकता प्रदान करना; और सब चाहे भले ही ईश्वर बोध हो। भगवत् साक्षात्कार मेरे चेतना काव्य में एक लबी विकासशील सामाजिक प्रणाली है। दूसरा यह कि इंद्रिय जीवन तथा भागवत जीवन में विरोध मानना, मेरी दृष्टि में, भ्रम है। संस्कृत संतुलित इंद्रिय जीवन ही में—जो अंततः सामूहिक या सामाजिक स्तर पर ही पूर्णतः संभव हो सकता है—केवल भागवत् जीवन का साक्षात्कार किया जा सकता है। उपनिषदों का "स प्रयागाच्छुक्रमकायमव्रण" ब्रह्म सत्य है; वह जीवन चेतना का अतरतम या ऊर्ध्वतम, सूक्ष्मात्पर, शाश्वत, अतिचेतन स्तर है। किन्तु पदार्थ, प्राण और मन की भूमिका का परित्याग कर उसे प्राप्त करने या आत्म-मुक्ति के अनुसंधान मे उसकी ओर जाने का प्रश्न मध्ययुगीन ध्येय या आदर्श का प्रश्न रहा है। हमारा युग-सत्य है जगत जीवन और भू-क्षेत्र की ही ब्रह्म की मूर्तिमान वास्तविकता में परिणत करना। ऐसे अंतः संगठित जीवन में नि.संदेह राग द्वेष, लोभ मोह, क्रोध अहंकार आदि की उपयोगिता नहीं रहेगी—जोकि विकास पथ के स्थूल और क्रूर साधन रहे हैं,—और रागवृत्ति भी परिष्कृत होकर आनन्द, सौन्दर्य, प्रेम, शांति तथा सहज व्यापक पवित्रता में परिणत हो जाएगी। जिस सीमित नैतिक या धार्मिक अर्थ में पवित्रता का प्रयोग होता है, उस अर्थ में नहीं,—जीवन का व्यापक संचरण ही अपनी समग्रता मे अंतःसंतुलित होकर मन में पवित्रता का उद्रेक करेगा; पवित्रता के अर्थ में अधिक घनत्व तथा वास्तविकता आ जाएगी। जैसा मैंने 'ज्योत्स्ना' में भी प्रतिपादित किया है, आनंद, सौन्दर्य, प्रेम, शाति आदि उस सृजन चेतना के मौलिक मूलभूत गुण हैं जो सृष्टितत्त्व मे अभिव्यक्त हुई है, और मानव जगत को उसी सत्य का दर्पण

बनाना है। यही एकमात्र सभ्यता, संस्कृति तथा धर्मों का अनादिकाल से प्रश्न और लक्ष्य रहा है। इतिहास के उत्थान-पतन तो मानव-समाज के अपने अंतःसत्य के अपरिचय तथा ब्रह्माण्ड के अंतःस्वरूप के अज्ञान तथा उन्नत जीवन साधना के अभाव के कारण, विकास-क्रम की श्रांति, क्लांति उद्वेग-जनित, अश्रुस्वेद-रक्तमय, बाहरी वास्तविकता के छिलके भर हैं।

मेरी प्रेरणा के स्रोत, निस्संदेह मेरे ही भीतर रहे हैं, जिन्हें युग की वास्तविकता ने सींच कर समृद्ध बनाया है। मैंने अपने अंतर के प्रकाश में ही बाह्य प्रभावों को ग्रहण तथा आत्मसात् किया है। मैं अत्यन्त विनम्रतापूर्वक अपने समस्त प्रेरकों, शिक्षकों तथा अभिभावकों के प्रति अनन्य हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनके संपर्क में आकर मैं कुछ सीख सका हूँ। मैं न दार्शनिक हूँ, न दर्शनज्ञ ही; न मेरा अपना ही कोई दर्शन है, और न मुझे यही लगता है कि दर्शन द्वारा मनुष्य को सत्य की उपलब्धि हो सकती है। ये केवल मेरे कवि मन के प्रकाश स्फुरण अथवा भाव प्ररोह हैं जिन्हें मैंने अपनी रचनाओं में शब्द-मूर्त करने का प्रयत्न किया है। अपनी भावना तथा कल्पना के पंखों से मैं जिन सौन्दर्य क्षितिजों को छू सका हूँ वे मुझे दार्शनिक सत्यों से अधिक प्रकाशवान एवं सजीव लगते हैं। दर्शन ग्रन्थों तथा महापुरुषों के वचनों में अपनी भावात्मक उपलब्धियों का समर्थन पाकर मैं आश्वस्त हुआ हूँ और मुझे उससे मनोबल भी प्राप्त हुआ है। मेरे काव्य दर्शन की कुंजी निश्चय ही 'ज्योत्स्ना' में है। उसी के भौतिक संचरण का विकास मेरे मन में मार्क्सवाद के ज्ञान से हुआ, जिससे मैं अपनी भौतिक जीवन संबंधी धारणा को व्यापकता, शब्दार्थ-संगति तथा वैज्ञानिक रूप दे सका। 'ज्योत्स्ना' का चेतनात्मक संचरण मेरी उत्तर रचनाओं में पूर्व-पश्चिम के दर्शनों तथा विचारधाराओं के अध्ययन मनन तथा गांधी जी और श्री अरविन्द के महत् संपर्क में आने से प्रस्फुटित तथा विकसित हुआ है। सामूहिक जीवन निर्माण के लिए गांधी जी का सक्रिय अहिंसा का सांस्कृतिक राजस दान नव मानवता के अमूल्य उपादानों में रहेगा। 'युगांतर' में मैंने गांधी जी को इन शब्दों में स्मरण किया है :

आत्म दान से लोक सत्य को दे नव जीवन
नव संस्कृति की शिला रख गए भू पर चेतन !

आओ, उसकी अक्षय स्मृति को नींव बनाएँ
उस पर संस्कृति का लोकोत्तर भवन उठाएं।
स्वर्ण शुभ्र धर सत्य कलश स्वर्गोच्च शिखर पर
विश्व प्रेम में खोल अहिंसा के गवाक्ष वर !

'वाणी' में श्री अरविन्द को नव युग सारथि के रूप में मैंने इस प्रकार श्रद्धांजलि दी है :

सारथि श्री अरविन्द रहे तव ऐसे भगवत् द्रष्टा भू पर
विश्व ग्लानि कर गए विलय जो अति मानस से धर्म हानि भर !
प्रातः रवि सा स्फुरत् रश्मि स्मित था भगवत् चैतन्य तपोज्वल
भू मानस में पूर्ण प्रस्फुटित अंतः स्वर्णिम हो सहस्रदल !

मैंने अपनी काव्य चेतना में अन्न प्राण मन के विकसित, संस्कृत जीवन से विच्छिन्न किसी उच्च जीवन की कल्पना को स्वीकार नहीं किया है। एक तो वह लोक जीवन एवं सामाजिकता की दृष्टि से समव नहीं, दूसरा वह इंद्रिय संस्कारों की परिणति को, उनकी मौलिक चेतनाओं की क्रियाओं को अग्राह्य कर, संभव बतलाती है। मुझे उन्नत इंद्रिय जीवन अदिव्य तथा अपावन नहीं लगता है, भागवत चेतना ही इंद्रियों में प्ररोहित प्रतीत होती है। इस भावना को मैंने अनेक रूप से व्यक्त किया है :

मैं उपकृत इंद्रियों, रूप रस गंध स्पर्श स्वर,
लीला द्वार खुले अनंत के बाहर भीतर :
अप्सरियों से दीपित सुरधनुओं के अंबर,
निज असीम शोभाओं से तुम पर न्योछावर !

* * *

आत्म मुक्ति के लिए क्या अमित यह ग्रह ग्रथित रंग भव सर्जित
प्रकृति इंद्रियों का वे वैभव, मानव तप कर मुक्त बने नित !
नहीं संत कुल हुआ संत रे, जीव प्रकृति के सब जन निश्चित,
लोक मुक्ति ही ध्येय प्रकृति का, मनुज करे जग जीवन निर्मित !

मैं पूर्ण विकसित लोक जीवन के ही रूप में, मुख्यतः, भगवत् सत्ता या

चेतना का मूर्त विकास संभव मानता हूँ। महापुरुषों, सिद्धों, योगियों तथा विशिष्ट व्यक्तियों में भी भगवत् चेतना के विशेष रूपों तथा गुणों की पूर्ण या आंशिक अभिव्यक्ति हो सकती है, और वह सामूहिक उपलब्धि के स्तर से, एक प्रकार से, अधिक सूक्ष्म, उच्च और पूर्ण भी हो सकती है। पर मैंने इस युग में अधिक महत्त्व भू-जीवन की उन्नत मंगल रचना को ही देना उचित समझा है, जिसमें व्यापक से व्यापक अर्थ में भागवत गुणों का अवतरण एवं भागवत वास्तविकता का साक्षात्कार संभव हो सकता है। 'ज्योत्स्ना' के अंतिम दृश्य में, नव युग प्रभात के रूप में, मैंने, भू-जीवन के स्तर पर, नवीन चेतना के इसी सत्य की परिणति दिखलाई है। मैं अब भी यही सोचता हूँ कि समस्त ज्ञान विज्ञान, अर्थ तंत्र आदि का सचय एवं उपयोग नव मानवता के लिए धरा-स्वर्ग की शुभ रचना करने ही में सार्थकता प्राप्त कर सकता है। मात्र सैद्धांतिक शुभ से रचना-शुभ अधिक वास्तविक तथा संपूर्ण है; उसी में एक मात्र अनंत पीढ़ियों में व्याप्त मानव जीवन के अमरत्व की चरितार्थता है। यह जैसे आँख खोल कर ईश्वर का ध्यान अथवा भगवत् सत्ता का साक्षात्कार करना है। निश्चय ही, इंद्रियगोचर होने से परात्पर या इंद्रियातीत सीमित नहीं हो जाता, न उसमें अंतर या भेद ही आता है। सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही आंशिक सत्य हैं, उनसे पूर्ण सत्य है सूक्ष्म-स्थूल का सामंजस्य। आज जो अंतर्दृष्टि या ऊर्ध्व स्तर का सत्य है कल वह बहिर्दृष्टि को समतल पर भी सुलभ हो सकेगा।

ऐसा अवश्य है कि वर्तमान विकास की स्थिति में, विशेष ज्ञान संस्थानों तथा आश्रमों में, हमें विशिष्ट उच्चतम मान्यताओं के आधार पर, अंतर्मन तथा अंतर्जीवन के संगठन-संयोजन के लिए, ऊर्ध्वतम आध्यात्मिक साधना की आवश्यकता पड़ेगी, जहाँ हम भागवत करुणा के संपर्क में आकर अंतश्चेतन के आलोक तथा अंतर्वैज्ञानिक सिद्धियों के द्वारा लोक जीवन के विकास पथ की बाधाओं तथा व्यवधानों को हटाने, मानस ग्रंथियों को सुलझाने, एवं विश्व जीवन का उन्नयन करने में सफल हो सकेंगे। ऐसे तपोवन तथा साधना द्वार हमारे देश की विशेषता रहे हैं। वे सदैव हमारी श्रद्धा भक्ति के पवित्र पथ-प्रदर्शक केन्द्र और हमारी चेतना विषयक उच्च प्रयोगशालाएँ रहेंगे, जहाँ से हमें शांति, पवित्रता, आनंद, भगवत् प्रेम, आलोक, कल्याण, सद्भावनाओं तथा सद्विचारों का अक्षय दान प्राप्त होता रहेगा। जैसा मैंने 'उत्तरा' की भूमिका में भी लिखा है हमारा देश अध्यात्म का सिद्ध वैज्ञानिक है। मुझे गंगा तट पर, जो भस्म रमाए हुए,

जटाधारी साधु, एक हाथ ऊपर उठाए, या लोहे की प्रखर शलाकाओं पर लेटे मिलते हैं, उन्हें भी मेरा मन अपने देश के देह-मन के सत्य संबंधी प्रयोक्ताओं के ही रूप में देखता है, जिसकी उपलब्धि हम अब अधिक श्रेष्ठ साधनों से कर सकते हैं। ऐसे अनेक प्रकार के साधुओं के संप्रदाय आज प्राचीन प्रारंभिक पद्धतियों के अवशिष्ट स्मृति चिह्न तथा "उदर निमित्तं बहुकृत वेशः", आदिम पाखड-मात्र रह गए हैं।

आज के सघर्ष और संहार के युग में मेरे उपर्युक्त विचार तथा मान्यताएँ आधुनिक यथार्थवादियों को स्वप्न-कल्पित अतिरंजनाएँ मात्र प्रतीत हो सकती हैं। किन्तु आज के पक्षधर आलोचकों की यथार्थवाद की धारणाओं पर तथा पूर्वग्रहों में खंडित और विभक्त पाठकों की रुचियों के निर्णयों पर निर्भर रह कर मेरा जैसा 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरं' अल्पमति कवि सृजन कर्म नहीं कर सकता। उसे नवीन मानवता के प्रति श्रद्धा तथा भगवत् करुणा पर विश्वास रख कर अपनी अंतरतम अनुभूतियो, प्रेरणाओं एवं प्रकाश पर ही अवलंबित रहना पड़ेगा। वर्तमान के सघर्ष और सहार की विभीषिका से भी अधिक महत् तथा शक्तिमय जो अमृतत्व का सागर आज सवेदनशील हृदयों के भीतर नवीन चेतना ज्वारो में उठ कर मानव अतर के नव जीवन बोध के स्तरों को स्पर्श कर रहा है, उसका मंगल संदेश कैसे भुलाया जा सकता है? आज के भू-व्यापी सघर्ष, विरोध, अनास्था, निराशा, विषाद तथा सहार की यही वास्तविकता है कि वह मानव समाज को नवीन मान्यताओं के क्षितिजों, नवीन जीवन-बोध के धरातलो तथा महत्तर सामंजस्य की भूमिकाओं की ओर अग्रसर कर रहा है। निस्सन्देह, अकल्पनीय सिद्धियों तथा महान् विनिमयों का है हमारा युग। आज के विज्ञान, दर्शन और सृजन प्रेरणा का श्रेय उसी को है।

इस युग के विक्षोभ का मुख्य कारण है मानव जीवन के ऊर्ध्व तथा समतल संचरणों में सामंजस्य अथवा सतुलन का अभाव। आज हमें भूत-अध्यात्म, यथार्थ-आदर्श संबंधी अपनी पिछली धारणाओं को अधिक व्यापक बनाकर उन्हें एक दूसरे के निकट लाना है। यथार्थ अथवा आदर्श के व्यापक सत्य के बारे मे या तो हम मध्ययुगीन अभावों एवं निषेधों के कुहासों के पार न देख पाने के कारण उदासीन हैं, या पश्चिम के अंध अनुकरण के कारण बाह्य युग-जीवन के अंधकार में भटक गए हैं। आज के बड़े राष्ट्रों को, जो भू जीवन के विकास

तथा उलझन को अवरुद्ध किए हुए हैं, वैज्ञानिक चेतना या मानवीय जीवन यथार्थ का प्रतिभू मानना हमारा भ्रम है। वे अभी चरणों की प्राचीन ऐतिहासिक बर्बरता ही का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं और विज्ञान को जीवन-निर्माण तथा मनोविकास का माध्यम बनाने के बदले, उसके पगों के तले आणविक डिम्बों एवं विनाश के विस्फोटकों को लेकर, अपनी क्षुद्र-सामर्थ्य का नग्न प्रदर्शन कर रहे हैं। जिस प्रकार कभी भारतवर्ष अपनी आध्यात्मिक शक्ति के सम्मोहन से दिग्भ्रांत हो गया था, उसी प्रकार आज के शिखर-राष्ट्र भौतिक क्षमता से मदोन्मत्त हो विश्व जीवन एवं मानवता को विनाश की ओर ले जाने की स्पर्धा कर रहे हैं। मुझे मानव चेतना पर विश्वास है; वह इस अणु संहार के नृशंस हिंस्र नाटक को अवश्य ही नवीन निर्माण तथा रचना मंगल की दिशा एवं भूमिका देकर मानवता की प्रगति का द्वार उन्मुक्त कर सकेगी।

जो नवीन प्रकाश मनुष्य के मनःक्षितिज में उदय हो रहा है उसी के आलोक में नवीन मानवता का निर्माण भविष्य में संभव है। आज की बौनी, खंडित, अपर्याप्त मान्यताओं से सचमुच ही आने वाले मनुष्य का काम नहीं चल सकेगा, चाहे वह चंद्रलोक में रहे या मंगल लोक में। 'वाणी' में मैंने प्रश्न किया है :

चंद्रकलश प्रासाद रचोगे तुम दिग्विस्तृत ?
कैसा होगा वहाँ भाव ऐश्वर्य असंहित ?
कैसा नव चैतन्य ? मानसी भूति अपरिमित ?
कैसा संस्कृत जन जीवन सौन्दर्य अकल्पित ?
अणु बम वहाँ बनाएँगे क्या सभ्य शिष्ट नर ?
शीत युद्ध से कंपित कर शंकित भू पंजर ? इत्यादि।

आज के युग का संदेह, अविश्वास, जीवन संघर्ष, विनाश के साधन, बाहरी भीतरी क्रांतियाँ——अर्थ शक्ति संचय, ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियाँ तथा अप्रतिहत साहस इसी महत् निर्माण, विकास तथा मानवता के आमूल रूपांतर के अग्रदूत हैं—इनका कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता। मनुष्य के अंतःकरण में जो अपापविद्ध, स्वयंशुद्ध, शाश्वत अमृतत्व है उसकी अन्य क्या सार्थकता या परिणति हो सकती है? मानव जीवन की, युगों के अंधकार एवं नैतिक संकीर्णता की कलुष कालिमा में सनी चेतना की चादर को—जिसे कबीर जतन

से ओढ़ कर ज्यों की त्यों रख गए थे—नवीन प्रकाश के जल में डुबो कर, उसे संस्कृति के व्यापक मूल्यों की स्वच्छ शोभा प्रदान कर, हमें सब के ओढ़ने योग्य बनाना होगा। नहीं तो अंतरिक्ष के दीप्त ग्रहों में मन के इस अंधकार को ले जाने से क्या लाभ हो सकता है? आज के युग का प्रश्न केवल भारतीय या एकदेशीय आध्यात्मिकता या संस्कृति का नया संस्करण प्रस्तुत करना नहीं है, जैसा मध्ययुगों में रहा है, आज समस्त मानवता तथा विश्वजीवन को एक सक्रिय, जीवनोपयोगी, आध्यात्मिक चेतना तथा सांस्कृतिक पीठिका प्रदान करना है। आने वाला मानव निश्चय ही न पूर्व का होगा, न पश्चिम का। वह देशों (दिशा) की सीमाओं एवं विभेदों का अतिक्रम कर काल के शिखर की ओर आरोहण करने को उत्सुक होगा। आज की बाह्य वास्तविकता की बौनी विकृतियों से मुक्त, उसके भीतर, एक अंतर-वास्तविकता एवं अंतश्चेतना का उदय तथा विकास होगा। वह विज्ञान को अपना उपयुक्त वाहन बना सकेगा। वही, काल के हृदय कमल में स्थित, कालविद्, अत्याधुनिक मानव होगा—जिसे धारण कर धरती सूर्य की परिक्रमा करने में गौरव का अनुभव करेगी। इस मानव को संबोधित कर, "वृद्ध के प्रति" रचना की अंतिम प्रार्थना उद्धृत करता हूँ :

आओ, शांत, कांत, वर, सुंदर, धरो धरा पर स्वर्ण युग चरण!
विचरो नव युग पांथ, बुद्ध बन, जन भू मन करता अभिवादन!
अणु रचना के भूति-मंच पर हो सुखांत मानव युग का रण,
तुमसे नव मानुष्य स्पर्श पा विष हो अमृत, मृत्यु नव जीवन!

अंत में, इस भूमिका के रूप में प्रस्तुत अपने विचारों, विश्वासों तथा जीवन मान्यताओं की त्रुटियों एवं कमियों के संबंध में पाठकों से क्षमा प्रार्थना करते हुए, अपनी द्वितीय उत्थान की सृजन चेतना के चरण-चिह्नों को यहीं समय के बालू पर छोड़कर, नवीन रचना भूमिका में प्रवेश करने के उत्साह में, मैं अपने अतीत के इन स्वप्न भार नत संस्मरणों से विदा लेता हूँ :

स्वस्ति, चेतना काव्य के काल,
रजत मानस के स्वर्ण मराल,
रश्मि दीपित कवि भाल!

चिदम्बरा से साभार

सुमित्रानन्दन पन्त

नन्ददुलारे वाजपेयी

नवीन हिन्दी कविता में सबसे श्रेष्ठ सृष्टि-प्रतिभा लेकर सुमित्रानन्दन पंत का विकास हुआ है। हिन्दी के क्षेत्र में पन्तजी की कल्पना की शक्ति अजेय, उसका नवनवोन्मेष अप्रतिम है। कल्पना ही पंतजी की कविता की विशेषता, उसके आकर्षण का रहस्य है। यही उनकी विविध बहुमुखी रचनाओं की आधार, उनमें रमणीयता का विस्तार करती है। उपमा कालिदासस्य में कल्पना की ही कीर्ति-प्रशस्ति हुई है, यह अर्थ समझकर, पन्तजी के काव्य में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि कल्पना-अलंकरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं; यह कहा जाय, तो प्राचीन समीक्षा की शब्दावली का निर्वाह भी हो जायगा और पन्तजी की विकास-दिशा भी इङ्गित हो जायगी। कल्पना केवल शैली में ही नहीं, काव्य-विषय में भी। यह दूसरी कल्पना पंतजी की प्रारम्भिक रचनाओं में कोरी भावना (या फैंसी) का आतिशय्य कर देनेवाली अतः काव्यालोचना में विशेष प्रशंसा-ज्ञापिका नहीं; परन्तु यहाँ पंतजी का विकास दिखाने में उसका उल्लेख करना ही पड़ेगा। कल्पना ही पंत की कविता का मेरुदंड, उनकी काव्य-सृष्टि का मापदण्ड है। कोरी कल्पना की बाल-सुलभ रंगीन उड़ानों से लेकर तल्लीन और गहन कल्पना-अनुभूतियों के चित्रण में पंत का विकास-क्रम देखा जा सकता है।

प्रेम और सौन्दर्य की सूक्ष्म मानसिक विवृति तक में पन्त की कल्पना समर्थ हुई है और यत्र-तत्र यही कल्पना आध्यात्मिक उड़ान भी लेती चली है। इसे ही प्रचलित शब्दावली में छायावाद कहा जाता है। प्रेम के संयोगपक्ष को भी और वियोग-पक्ष को भी समान सौकर्य से प्रकट करने में उनकी कल्पना कुंठित नहीं होती, कहीं हलकी मोदमय, कहीं मधुर रसमय भावाभिव्यक्ति करने में वह

योग देती है और कहीं गूढ़ रहस्यमयी सृष्टि भी करती है। कल्पना के प्रकर्ष में जड़ व्यक्तित्व छूट जाता है, और कवि स्वच्छन्द होकर व्यापक, निर्लेप सृष्टि करने में प्रवृत्त होता है। एक ओर जहाँ यह लाभ है, वहाँ दूसरी ओर यह हानि भी साथ ही लगी है कि कल्पना का अतिरेक जीवन का संपर्क छोड़कर ऐकान्तिक हो जाय। किन्तु पन्तजी की कल्पना वैसी प्रायः कम ही है। वह अनेक बार दिव्य ज्योति दिखाती, यदा-कदा विद्युत्-चकाचौंध उत्पन्न करती पर गड्ढे में प्रायः कभी नहीं गिराती।

कल्पना की इस प्रतियोगिता में पन्त ने अपने लिए प्रेम और सौन्दर्य के 'हीट्स' चुन लिये हैं और शृङ्गार-वर्णन की उनकी दौड़ विशेष चमत्कारपूर्ण हुई है। पन्त की यही रुचि-दिशा है। उनकी रुचि कोमल अथच मार्जित है। उसे हम नागरिक रुचि भी कह सकते हैं और इस विशेषण से उनके वर्णित विषय पर ही नहीं उनके शब्द-संगीत, छन्द-चयन और भाषा-शैली पर भी प्रकाश पड़ जाता है। उनकी कल्पना के साथ उनकी यह रुचि मिलकर उनकी कविता को रमणीय अथच आकर्षक वेश-भूषा से सज्जित करती—यह साज-सज्जा आधुनिक हिन्दी में और कहीं नहीं देख पड़ती। पन्त की इस रुचि से हिन्दी खड़ी बोली को ईप्सित फल प्राप्त हुए हैं—सरस, सार्थक शब्दसृष्टि, सुगेय छन्द और सुन्दर प्रशस्त भाषा। शब्द-साधना में पन्त ने संस्कृत की सहायता ली है यद्यपि शब्द-प्रतिमाएँ अँगरेजी कला-कौशल से खड़ी की गई हैं। भाषा, छन्द और शब्दालंकरण का महत्त्व समीक्षकगण यह कहकर अपहरण कर लेते हैं कि उनसे भावतन्मयता को क्षति पहुँचती है, और इस प्रकार वहिरंग को सजाकर अन्तरंग रुग्ण ही बना रहने दिया जाता है, पर ऐसे आरोपों पर हमें ध्यान नहीं देना चाहिए। काव्य में वहिरंग और अन्तरंग का ऐसा कहीं भेद नहीं है। सार्थक शब्द, यथायोग्य छन्द—ये सब भावों के अभिन्न अंग हैं। बाह्य और अन्तरंग यहाँ कुछ नहीं। भावों को स्वरूप देने वाले शब्द ही काव्य में सब कुछ हैं, अन्यथा भावों की सत्ता ही कहाँ रहती? 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द' को काव्य कहते हुए संस्कृत आचार्य ने इसी तत्त्व को प्रकट किया था जिसे हम आज वहिरंग और अन्तरंग के भ्रम में भुलाना चाहते हैं। पन्त ने अपने समय की खड़ी बोली को संस्कृत की शब्दयष्टि देकर दृढ़ किया, हिन्दी के अनुरूप अनेक प्रयोग आविष्कृत किये और भाषा में एक नई ही छटा छा दी। उन्होंने खड़ी बोली को भावाभिव्यक्ति की विशेष शक्ति प्रदान की। यहाँ इस उल्लेख

का आशय यही है कि समीक्षकगण भाषा और भावों का चाहे जो सम्बन्ध स्थापित करें, परन्तु पन्तजी ने अपनी खड़ी बोली को स्वस्थ स्वरूप देकर उसे भावप्रसूति के अधिक उपयुक्त बनाया और उनके इस प्रयोग में भाषा और भाव अलग-अलग नहीं- बाह्य और अन्तरङ्ग नहीं—वरन् काव्य का सर्वाङ्गीण विकास करते देख पड़ते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि खड़ी बोली को उस समय अपने अवयव-संघटन की परम आवश्यकता थी, अन्यथा स्वयं हिन्दी कविता उसी पुरानी दुर्बल दशा में पड़ी रहती। भाव और भाषा का यह अभिन्न सम्बन्ध समझने में पन्त को प्रारम्भ से ही द्विविधा नहीं थी, यह भी समय को देखते हुए, उनकी प्रतिभा का ही प्रमाण है।

इस स्थल पर एक आवश्यक उल्लेख करना आवश्यक है, इसके बाद पन्त की कृतियों की चर्चा करना उचित होगा। यह उल्लेख स्पष्ट शब्दों में करने में भी कोई हानि नहीं है। पन्त पर यह आक्षेप सबसे अधिक किया गया है—यह भी उनकी ओर लोकदृष्टि के आवर्षण की ही सूचना है—कि वे न केवल बँगला के शब्द-प्रयोगों को हिन्दी में अपनाते हैं, वे तो अँगरेज़ी के कवियों और बँगला के रवीन्द्रनाथ आदि से भावापहरण भी करते हैं। इस प्रकार के आक्षेपों के सम्बन्ध में हम केवल दो बातें कह सकते हैं। एक तो यह कि यदि हिन्दी में लाकर भिन्न भाषा के प्रयोगों को हिन्दी का बना दिया गया है—इस हिन्दी का अर्थ हिन्दी के जानकार खूब समझ सकते हैं, जिससे हिन्दी की अभिव्यक्तिशक्ति बढ़ने के लाभ के अतिरिक्त कोई हानि नहीं हुई—तो उसे अपहरण न कहकर अलंकरण कहना चाहिए। 'मणि, मानिक मुक्ता छवि जैसी, अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी। नृप-किरीट-तरुनी-तनु पाई, लहहिं अधिक सोभा अधिकाई।' दूसरी बात यह कि उन अपहरणों के भीतर से कवि का विकास देखना चाहिए। हमको यह जान लेना चाहिए कि कवि केवल अनुवादक के रूप में बना रहता है अथवा वह कुछ आगे भी बढ़ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'उपजहिं अनत-अनत छवि लहहीं' की अपनी सूक्ति को अपने काव्य में पूरी मात्रा में चरितार्थ कर दिखाया है। हम देखते हैं कि पन्त के अपहरणों में भी उनकी प्रतिभा और रुचि का काफी प्रदर्शन है। तथापि यदि कहा जाय कि पन्त ने रवीन्द्रनाथ से बहुत कुछ प्राप्त किया है तो क्या रवि बाबू ने दूसरे कवियों से और भी अधिक प्राप्त नहीं किया? देख लेना चाहिए।

उच्छ्वास आँसू, ग्रंथि और परिवर्तन पन्त की वियोगवर्णन की लम्बी कवि-

ताएँ हैं। उच्छ्वास और आँसू दोनों एक में मिलाकर एक ही कविता बना दी जा सकती हैं। एक की भावना एक में ही संकलित न होकर दूसरी में भी प्रसार पा रही है। संकलन की दृष्टि से यह बाधा लग गई है। इस बाधा से भी अधिक उच्छ्वास और आँसू की अस्पष्टता खटकती है। यह अस्पष्टता रहस्यवाद की किसी ऊँची आध्यात्मिक उड़ान के कारण नहीं है—यह हम स्पष्टतः कह सकते हैं। पन्त की कल्पना जहाँ कहीं आध्यात्मिक भावना में परिणत होती है, वे छायात्मक-रहस्यात्मक स्थल वहीं दुरूह नहीं हुए हैं, परन्तु उच्छ्वास और आँसू मानवीय वियोग का वर्णन करते हुए जान पड़ते, किन्तु क्लिष्टता के कारण सन्देह उत्पन्न करते हैं। उच्छ्वास में जहाँ पन्त प्राकृतिक शोभा-वर्णन करके 'इस तरह मेरे चितेरे-हृदय की, बाह्यप्रकृति बनी चकाचक चित्र थी' कहते हैं वहाँ अनुमान दृढ़ हो जाता है कि हृदय के ही किसी प्रसंग का वर्णन है, जिस प्रसंग में बाह्य प्रकृति को चित्र मात्र बनकर सन्तोष करना पड़ा है। पन्त की रहस्यात्मक कविताओं में प्रकृति को कहीं बाह्य प्रकृति कहलाने का कुअवसर प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए यह दूसरा अनुमान भी दृढ़ होता है। उच्छ्वास में पन्त की कोई गहन अनुभूति नहीं है। फिर उसमें क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में उच्छ्वास की बालिका के प्रति जो स्मृति पन्त ने लिखी है वह भी विशेष सहायता नहीं पहुँचाती। बालिका के प्रति वियोग की बात तो उच्छ्वास और आँसू दोनों से ज्ञात होती है और यह भी ज्ञात होता है कि संदेह के कारण बालिका का परिणय-सम्बन्ध उसके उस मित्र से न हो पाया जो 'मन्द-हास-सा उसके मृदु-अधरों पर मँडराया' और 'उसकी सुखद सुरभि से प्रतिदिन समीप खिंच आया' था। इस परिणय-सम्बन्ध के चरितार्थ न होने, बीच में ही टूट जाने के कारण उच्छ्वास और आँसू की सृष्टि हुई देख पड़ती है। पन्त इसे 'कल्पनाओं की कल कल्पलता' कहकर अपनाते हैं, इसलिए बालिका का शारीरिक अस्तित्व कल्पना मे विलीन होता जान पड़ता है पर साथ ही 'अदेह सन्देह' के कारण 'जुड़े स्वभाव छुड़ाने' आदि की घटनाएँ फिर बीच मे विक्षेप डालती हैं। यह अस्पष्टता कविता के लिए काम्य नहीं हुई। निष्कर्ष तो केवल दो ही निकल सकते हैं। कवि 'बालिकावत' अपने बाल्यजीवन के वियोग में दुःख प्रकाश कर रहा है, अथवा वह अपनी किसी बाल सहचरी का विरह वर्णन कर रहा है। दोनो निष्कर्षों में द्विविधा लगी हुई है। पहले निष्कर्ष के अनुसार अपनी ही बालिका-मूर्ति के प्रति कवि का वियोग आश्चर्यजनक

प्रतीत होगा और दूसरा अर्थ लेने पर कवि की इस वियोग-घटना में किसी आध्यात्मिक वाद की अपेक्षा निराश रोदन की ही प्रमुखता सिद्ध होगी। इससे कहीं अधिक सरस, पन्त की बालापन कविता उच्छ्वास, आँसू आदि से दो वर्ष पहले लिखी जा चुकी थी।

'अहो कल्पनामय फिर रच दो वह मेरा निर्भय अज्ञान
मेरे अधरों पर वह मा के दूध से धुली मृदु मुस्कान
मेरा चिन्तारहित अनलखित वारिबिम्ब-सा विमल हृदय
इन्द्रचाप-सा वह बचपन के मृदुल अनुभवों का समुदय
इत्यादि।

इस बालापन कविता के सामने उच्छ्वास का बालिका-विरह आदि हमे प्रभावित नहीं करते। यदि दूसरे निष्कर्ष के अनुसार देखें तो उच्छ्वास की 'बालिका यौवनागम के द्वार पर खड़ी अपने प्रिय के परिणय-पाश में बँधने से वंचित, अवश्य ही करुण है, और उसके निराश प्रेमी के आँसू भी अवसरजन्य ही हैं, परन्तु यह सब वर्णन सम्भवतः पन्त के उस समय के संकोच के कारण—स्पष्टता नहीं प्राप्त कर सका। यदि प्राप्त भी कर पाता तो कविता किसी उच्च धरातल पर न पहुँच पाती क्योंकि उच्छ्वास और आँसू मे पन्त की कल्पना कहीं भी ऊँची उड़ान नहीं भरती, व्यक्तिगत आकांक्षा और रुदन तक सीमित रहती है।

उच्छ्वास और आँसू के पढ़ने पर एक तीसरी धारणा यह भी उत्पन्न होती है कि इनमें कवि प्रेम का मुक्तनिर्बन्ध रूप दिखा रहा है। यह धारणा इन पंक्तियों से और भी दृढ़ होती है।

देखता हूँ जब उपवन पियालों में फूलों के
प्रिये! भर-भर अपना यौवन, पिलाता है मधुकर को
नवोढ़ा-बाल-लहर, अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुककर, सरकती है सत्वर
अकेली आकुलता-सी प्राण! कहीं तब करती मृदु आघात!
सिहर उठता कृश गात ठहर जाते हैं पग अज्ञात!

प्रकृति के इस निर्बल मिलन को सार समझकर, कवि उच्छ्वास की बालिका के प्रसंग में उसका अभाव देखकर कहता है।

है सभी तो ओर दुर्बलता यही समझता कोई नहीं क्या सार है!
निरपराधों के लिए भी तो अहा! हो गया संसार कारागार है!!

अवश्य ही उच्छ्वास की बालिका ने कवि के हृदय में प्रेम के रहस्य के संबंध में जिज्ञासा उत्पन्न कर दी है और वह जिज्ञासा 'निरपराधों के लिए भी तो अहा, हो गया संसार कारागार है' कहकर ही समाप्त नहीं हो जाती। उसका समाधान 'मुक्त प्रकृति के निर्बन्ध विहार' में ही नहीं होता। वह और आगे बढ़ती है।

ग्रन्थि पन्त की विशेष मार्मिक विरह-कविता है। यह उच्छ्वास और आँसू की भाँति द्विविधा से नहीं, अत्यन्त स्पष्ट रीति से मानवीय विरह का शोक संताप प्रकट करती है और विशेष करुण वातावरण उपस्थित करती है। उच्छ्वास की उपर्युक्त प्रेम सम्बन्धी जिज्ञासा ही मानो ग्रन्थि बन गई है पर ग्रन्थि का उसमे निवारण नहीं है। कवि यहाँ वियोगव्यथा में इतना तल्लीन हो गया है कि उसमें एक विलक्षण जड़ता आ गई है जो पन्त की अन्य रचनाओं में बहुत कम दिखलाई देती है। ग्रंथि के वियोग-वर्णन में विषाद और तज्जन्य मानसिक दौर्बल्य का भी आभास छूट नहीं पाया।

परिवर्तन मे पहुँचकर पन्त की कल्पना सचेत होकर अपनी शक्ति का परिचय देती है। उच्छ्वास, आँसू, ग्रंथि आदि के वैयक्तिक अनुभवों के उपरान्त परिवर्तन में कवि की निर्लेप कल्पना प्रस्फुटित हो उठी है और यहाँ वह जीवन के सम्बन्ध में निराशामूलक किन्तु तटस्थ विचार प्रकट करती है। यदि यह कथन ठीक है कि कविता-शरीर की रीढ़ दर्शन है तो परिवर्तन में कविता को यह रीढ़—दृढ़ रीढ़—मिल गई है। परिवर्तन को हम दार्शनिक काव्य कह सकते हैं और पन्त की सुन्दरतम रचनाओं में से मानते हैं। यहाँ पहुँचकर उच्छ्वास का 'निरपराधों के लिए भी तो अहा, हो गया संसार कारागार है' की भाँति का उपालंभ दूर हो जाता है और वस्तु-स्थिति को समझकर कवि उससे समझौता करता है। परिवर्तन में कवि का निराशावाद ही प्रमुख रीति से झलकता है; फिर भी स्थिति को देखने की और वास्तविकता को सहन करने की शक्ति का उसमें आह्वान है। निराशामूलक होती हुई भी इस रचना मे एक

औदात्य और दर्शन की तटस्थता है। अवश्यभावी परिवर्तन के विरचक्र में पड़ा हुआ क्षुद्र मनुष्य अपने सुख-दुःख पर क्या आस्था करे ?' परिवर्तन में मानवीय सुख-दु.ख का यही निराकरण, जीवन का यही आश्वासन हमे प्राप्त होता है। 'साधना ही जीवन का सार' परिवर्तन की विधायक पक्ति कही जा सकती है।

पल्लव में वियोग-पक्ष प्रमुख होने के कारण करुणनिराशा की एक अश्रुपूर्ण झलक ही मूर्तिमती होती है। उल्लिखित रचनाओ के अतिरिक्त छाया, स्वप्न, नक्षत्र, बालापन आदि का स्वर-तार करुणध्वनि निक्षेप करता, विविध वर्णनों और जिज्ञासाओ में एक निराशा ही फैली हुई मिलती है। गुंजन मे, इसके विपरीत, कवि अधिक आस्तिक बनने की सभावना प्रकट करता है। १६३१-३२ की प्रायः सभी रचनाएँ सयोग-पक्ष की हैं, जिनमे पन्त की कल्पना अपना चमत्कार दिखा रही है। भावी पत्नी के प्रति, मधुवन आदि लम्बी रचनाओं से भी अधिक छोटे-छोटे गीतो मे वह प्रदर्शित हुई है, जैसे लाई हूँ फूलों का हार, लोगी मोल लोगी मोल ? मैं पलकन पग चूमूं पिया के आदि। हिन्दी के शृङ्गारी कवि विरह-वर्णन के कारण अधिक लाछित नही किये गये, पर जब वे सयोगवर्णन करने मे सन्नद्ध हुए तब उनमें से अधिकाश ने कल्पना को ताक पर रखकर अत्यन्त स्थूल, फोटोग्राफ खीचना आरम्भ किया। विरह-वर्णन करने में उन कवियों ने जहाँ कल्पना के आकाश-पाताल एक कर ऊहा की विपथगति दिखा दी, वहाँ सयोग-शृङ्गार के प्रसग मे सभोग की ही कथा कहने लगे। एक तरफ कल्पना का इन्द्रजाल, दूसरी तरफ कल्पना छूमंतर। यह विशृङ्खलता शृङ्गारी कवियो के विकास में घातक सिद्ध हुई। पन्त भी इस युग के शृङ्गारी कवि हैं, इनके विकास मे भी कल्पना ही प्रमुख बनकर उपस्थित हुई है। पन्त वियोग-वर्णन मे कल्पना का पल्ला भावातिरेक के समय कहीं-कहीं छोड़ भी देते हैं, पर सयोगवर्णन मे वे प्राय. कभी ऐसा नही करते। मध्यकाल के शृङ्गारी कवियो के विकास से पत के विकास में यही मुख्य अन्तर है। उनका सयोग-पक्ष सर्वत्र कल्पना-प्रसूत होने के कारण अधिक सयमित, शुद्ध और अनुभूतिप्रद हुआ है। पन्त की इन आस्तिक रचनाओ की मधुरिमा विकास पाकर स्थान-स्थान पर व्यापक आध्यात्मिक भाव-जगत् तक पहुँच गई है। वियोग की कल्पना-अनुभूति जिस प्रकार परिवर्तन में, उसी प्रकार संयोग की कल्पना-अनुभूति अनेक लघुदीर्घ रचनाओ मे व्यापक सौन्दर्य की सृष्टि करती है :

आज उन्मद मधु-प्रात
गगन के इन्दीवर से नील,
भर रही स्वर्ण-मरन्द समान,
तुम्हारे शयन-शिथिल
सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस, प्राण ।

* * *

आज वन में पिक में गान, विटप में कलि, कलि में सुविकास
कुसुम में रज, रज में मधु प्राण ! सलिल में लहर, लहर में लास

* * *

मुकुल-मधुपों का मृदु मधुमास, स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ का सार
मनोभावों का मधुर-विलास विश्व-सुषमा ही का संसार
दृगों में छा जाता सोल्लास व्योम-बाला का शरदाकाश
तुम्हारा आता जब प्रिय-ध्यान, प्रिये प्राणों की प्राण !

इस प्रकार की अनुभूतियाँ पन्त के विकास में विशेष रूप से सहायक हुई हैं। यदि परिवर्तन पन्त की वियोग-अनुभूति का निष्कर्ष है तो उनकी सयोग-भावना भी अप्सरी, अनंग आदि रचनाओं में परिणति प्राप्त करती है। अप्सरी और अनंग दोनों ही कृतियाँ सौन्दर्य की चेतना का प्रकाश करती हैं जिस प्रकार वियोग के इन्तहाए नशा से होश आने के बाद परिवर्तन लिखा गया उसी प्रकार सयोग का शुद्ध स्वरूप-दर्शन करने के उपरान्त शाश्वत सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति देखने—उसका रहस्य जानने की उत्कंठा भी स्वभावतः हुई। यदि मधुवन, भावी पत्नी के प्रति आदि में सौन्दर्य का व्यावहारिक पक्ष है, तो अप्सरी, अनंग, प्रथम रश्मि आदि में उसी का कल्पना-प्रधान पक्ष है। अवश्य ही पन्त को इस संयोग-वर्णन में पर्याप्ति सफलता नहीं प्राप्त हुई है। पल्लव की अपेक्षा गुंजन में कल्पना का सहज सुन्दर उद्रेक उतना नहीं जितनी उपदेशक प्रवृत्ति और पाण्डित्य का प्रदर्शन है। एकतारा में भी उन्होंने गहन आत्मदर्शन की अभिव्यक्ति की चेष्टा की है। इस रचना में तथा अप्सरी में अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है :

तुहिन-बिन्दु में इन्दु-रश्मि-सी सोई तुम चुपचाप;
मुकुल-शयन में स्वप्न देखतीं निज निरुपम छवि आप।

—अप्सरी

चिर अविचल पर तारक अमन्द
जानता नहीं वह छन्द-बंध
वह रे अनन्त का मुक्त-मीन,
अपने असंग सुख में विलीन—
स्थित निज स्वरूप मे चिर नवीन

—एकतारा

इस प्रसार की गूढ़ उज्ज्वल सृष्टि करने मे पन्त के समकक्ष हिन्दी में एकमात्र निराला ही हैं; परन्तु बलशाली कल्पना-शक्ति के कारण पन्त निराला की अपेक्षा उपमा का अधिक आकर्षण विकीर्ण कर सके हैं।

पन्त के संयोग-शृङ्गार की एक शाखा जहाँ अप्सरी, एकतारा आदि के रूप में फूट निकली है, वहाँ दूसरी शाखा उनके प्रकृति-प्रेम की रचनाओ के रूप में देख पड़ती है। प्रकृति का चैतन्य चित्र तो आधुनिक हिन्दी के कतिपय कवियों की अनुभूति मे आया है पर उन्होने उसे केवल मानुषीय अनुभूतियों का आनुषंगिक बना रखा है। विराट प्रकृति भी विराट मनुष्यता के सामने छोटी बना दी गई है। यह प्रकृति के प्रति सहानुभूतिपूर्ण सजीव भावना नही कही जा सकती। उसे उसके ही क्षेत्र में—उसके अपने साम्राज्य मे—सम्राज्ञी की भाँति देखने की उदारता आधुनिक हिन्दी के कवियो ने नही दिखाई। पन्त इस दिशा मे अग्रसर होनेवाले पहले व्यक्ति हैं। उनकी वीचि-विलास, मौन निमंत्रण, बादल आदि कविताओं में वैसी सहानुभूति झलकती है, परन्तु प्रकृति को प्रकृति की ओर से देखने की कल्पना पन्त मे भी निर्लेप रूप से विकसित नहीं हुई है। प्रकृति के प्रति पन्त का आकर्षण, प्रचलित हिन्दी मे सबसे अधिक तथापि वस्तून्मुखी नही है। 'मौन निमन्त्रण' मे प्रकृति की प्रभावशालिनी प्रेरणा से जो भावनाएँ उत्पन्न हुई हैं, उसे भी पन्त के छायावाद का एक हल्का रूप कह सकते हैं। इसे प्राकृतिक चित्रांकण या काव्य नही कहा जा सकता।

इधर हिन्दी के समीक्षकों ने जीवन-जीवन की आवाज ऊँची कर रखी है इनमें से कुछ तो यह भी नहीं समझते कि जीवन किसे कहते हैं और कविता

में वह किस रूप में आ सकता है। कविता जीवन की व्याख्या है—अँगरेजी का यह वाक्य सुनकर वे लोग इसे मुहावरे के तौर पर व्यवहार में लाते और कहते हैं कि आधुनिक कविता में जीवन नहीं मिलता। सम्भव है इन्हीं समीक्षको की तृप्ति के लिए पन्त ने गुंजन के कुछ पद्यों मे जीवन शब्द का प्रयोग बड़े परिमाण में कर दिया है। पन्त इन विषयों में काफी व्यवहार-कुशल देख पड़ते हैं। इसका परिणाम भी यथोचित मात्रा मे निकल गया है विशाल भारत मे पन्त के एक समीक्षक की उक्तियों से ऐसा ही समझ मे आता है। बहुत संभव है पन्त के जीवन शब्द के कारण ही ये लेखक महाशय यह लिखने को उत्साहित हुए हों कि अब पन्त की कविता मे जीवन आने लगा है, परन्तु पन्त की कविता की वास्तविक जीवन-व्याख्या लेखक की बुद्धि-परिधि के बाहर की बात देख पड़ती है। ऐसे समीक्षकों से पन्त को ही नहीं, हिन्दी को भी सावधान रहने की आवश्यकता पड़ेगी। जीवन की आस्तिकता, प्रवेग और सहज सौन्दर्य से समन्वित काव्य हमें पल्लव मे जितना स्वच्छ और निर्मल दिखाई देता है, अन्य रचनाओं में उसकी अपेक्षा कम ही।

एकतारा और नौका-विहार, पन्त की इन नवीन रचनाओं मे, वर्णन का एक नया रूप देख पड़ता है; जिसमे कल्पना का आकर्षण नहीं स्वयं वर्णन का ही आकर्षण है शायद इसे अधिक प्राकृतिक कविता कहा जाय। कल्पना की अराजकता यहाँ विक्षेप ही डाल सकेगी इसलिए उसके परिहार की चेष्टा की जानी चाहिए। विशेषकर नौका-विहार, में पन्त प्रकृति के रूप-चित्रण की ओर आकृष्ट हुए हैं किन्तु नौका-विहार के वर्णन के उपरान्त कल्पना का यह दार्शनिक निष्कर्ष इतना बोझीला हो गया है कि कविता उसका भार नहीं सँभाल सकती :

इस धारा-सा ही जग का क्रम
शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति शाश्वत संगम
इत्यादि।

बिना इस निष्कर्ष के कविता अधिक सफल होती। इस नवीन दिशा में कल्पना को अधिक संयमित करके अभीष्ट-सिद्धि की जा सकती है।

इस तरह पल्लव के सहज काव्योन्मेष की अपेक्षा गुंजन में शुष्क उपदेशा-

स्पष्टता और भावानुभाव्य अनावृत्ति बढ़ गयी है। इधर पंत के युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या नाम के ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। फलतः पंत के काव्य में बौद्धिक विश्लेषण की कृत्रिमता बढ़ती गई है और काव्य का सहज प्रवेश क्षीण होता गया है। छन्दों में अधिक नवीनता और कारीगरी दिखाई देती है। कल्पनाओं में अधिक परिश्रम का आभास मिलता है। काव्य की अपेक्षा पंत ने इन्हें गद्य-गीत की उपाधि दी है। काव्य की अन्तरात्मा इनमें प्रत्यक्ष रूप से प्रकाशित नहीं है। यह सिद्धान्त के वायुवेग से आक्रान्त दीखती है। पांडित्य का मुलम्मा और मानसिक अवसाद की ओट छिपाये नहीं छिपती।

———

गुंजन : एक जीवन-काव्य

केसरी कुमार

मैं पल्लव से गुंजन में अपने को सुन्दर से शिव की भूमि में आता हुआ पाता हूँ।

—सुमित्रानन्दन पन्त

गुंजन पन्त की भावधारा के एक निश्चित दिशा-परिवर्तन का द्योतक है। पल्लव तक पन्त रूप की भाषा के कवि थे, गुंजन में भाव और कल्पना के। पल्लव में उन्होंने सुषमा ढूँढ़ी थी[1], गुंजन में वह आत्मकल्याण का संधान कर रहे हैं—"क्या मेरी आत्मा का चिरधन?" गुंजन को कवि ने अपने प्राणों का उन्मन गुंजन कहा है। गुंजन में प्रकृति के अनेक सम्मोहक चित्र हैं, पर प्रकृति का लावण्य-संगीत गुंजन का मुख्य स्वर नहीं है। इसकी प्रणय-गीतिकाओं में अनुभूति का विपुल आकर्षण है, पर प्रेम गुंजन की कला का अभिप्रेत नहीं है। गुंजन का विषय है मानव-जीवन। यहाँ कवि में मानव बैठा है। मानव-जीवन के सुख-दुःख का विवेचन और उसके दर्द के उपचार का संधान कवि का उद्देश्य है। गुंजन की कला मानसिक बनकर पल्लव के सुषमालोक से गुंजन की चिन्तन-भूमि मे उतरी है।

---

१. दिवस का इनमें रजत-प्रसार
उषा का स्वर्ण-सुहाग;
निशा का तुहिन-अश्रु शृंगार,
साँझ का निःस्वन राग;
नवोढ़ा की लज्जा सुकुमार,
तरुणतम-सुन्दरता की आग!

कवि की भावधारा के इस दिशा-परिवर्तन के तीन कारण हैं—

१. पिता का निधन और दीर्घ रुग्णता के उपरान्त कवि का स्वास्थ्य-लाभ।

२. दर्शन-उपनिषद् का अध्ययन और अनुशीलन।

३. तत्कालीन स्वातन्त्र्यान्दोलन और धरती के प्रति आकर्षण।

पिता के निधन और बीमारी के बाद प्राप्त होनेवाले स्वास्थ्य में कवि ने जन्म और मृत्यु के अक्षरों में लिखा मानव-जीवन का करुण-मधुर इतिहास पढ़ा। इस कठोर वास्तविकता से टकराकर पल्लव और गुंजन के बीच कवि का किशोर भावना का स्वप्न टूट गया और उसका मन दर्शन के चिन्तन की ओर झुक आया।[1] दर्शन-उपनिषद के अध्ययन-मनन ने उसके रागतत्त्व मे मंथन उत्पन्न किया। कुछ काल तक उसकी इच्छा में निराशा और उदासीनता छाती रही। 'जन्म के मधुर रूप मे मृत्यु दिखाई देने लगी, वसंत के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का अस्थिपंजर!'

'खोलता उधर जन्म लोचन,
मूँदती इधर मृत्यु क्षण क्षण!'
'वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती,—जीवन है भार!'

भारतीय दर्शन ने कवि के मन को 'अस्थिर वस्तु जगत से हटाकर अधिक चिरन्तन भावजगत में स्थापित किया'। अब वह क्षणिक के भीतर चिर-अव्यय को और जड़ता के भीतर ज्योतिर्मय जीवन को देखने लगा है। उसे विश्वास है कि संसार की जड़ता में चेतन को ग्रहण कर उसकी अनुभूति को अपने भीतर

---

१. पन्त जब-जब अस्वस्थ हुए हैं तब-तब दर्शन की ओर उनका विशेष झुकाव हुआ है। १९४४ की अस्वस्थता के बाद प्रकाशित स्वर्णधूलि और स्वर्णकिरण इसके साक्षी हैं।

विकसित करने की शक्ति है।[1] मन की ऐसी ही स्थिति में कवि ने गाया है :

जग के उर्वर-आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन !
बरसो लघु-लघु तृण, तरु पर
चिर-अव्यय, चिर-नूतन ![2]

इसलिए 'गुंजन' में पल्लवकालीन करुणा-विलष्ट भाव नहीं है, जीवन के प्रति एक नवीन उल्लासपूर्ण दृष्टिकोण है। वह जीवन को प्यार करने लगा है :

प्रिय मुझे विश्व सचराचर,
तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर, सुरवर
सुन्दर अनादि, शुभ सृष्टि अमर;
* * *
जग जीवन में उल्लास मुझे
नव आशा, नव अभिलाष मुझे,

अब उसकी निराशा पर आशा की नवल किरणें छा गई हैं और उसके संशय पर अतुल विश्वास। आज प्रत्येक पदार्थ में एक नवीन रूप-लावण्य है। फूलों में नई गंध है, पंखुड़ियों में नया रंग है, केसर में नया रस है, कंठ में नई रागिनी है और मन मे नवल-धवल भाव हैं :

---

१. इस अनित्य जगत में नित्य जगत को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन में जैसे 'परिवर्तन' के रचनाकाल से ही प्रारम्भ हो गया था, 'परिवर्तन' उस अनुसंधान का एक प्रतीक मात्र है। हृदयमंथन का दूसरा मुख आप आगे चल कर 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना'—काल की रचनाओं में पायेंगे।
—पन्त ('प्रतीक'—४ हेमंत : मेरा रचनाकाल)

२. मृत्तिकार पात्र खानि भरि वारबार
तोमार अमृत ढाल दिबे
अबिरत नाना वर्ण गंध मय
—रवीन्द्र

नव रूप, गन्ध, रंग, मधु, मरन्द,
नव आशा, अभिलाषा अमन्द,
नव गीत-गुंज, नव भाव-छन्द,—

कवि के क्लान्त मन के उदास मधुवन में जैसे एक नवल भाव-ऋतु आई है और उसके प्राण-भ्रमर जीवन-कुसुम-रस-संग्रह के लिए आतुर-आकुल हो रहे हैं :

रे गूंज उठा मधुवन में
नव गुंजन, अभिनव गुंजन,
जीवन के मधु-संचय को
उठता प्राणों में स्पन्दन !

आज कवि के प्राण विश्व-छवि पर विमुग्ध हैं। उसके रोम-रोम में सिहरन और अंग-अंग में पुलकन है। हर्षातिरेक के कारण साँसें शिथिल हो रही हैं और आँखों पर नमी छा गई है।[1] आज धूल की धरती, मिट्टी की देह, सुख-दुःख का मन और जन्म-जरा-मृत्यु-युक्त जीवन का विकास-क्रम—सब कुछ सुन्दर है, परम सुन्दर।

सुन्दर मृदु-मृदु रज का तन
चिर सुन्दर सुख-दुख का मन
*   *   *
सुन्दर जीवन का क्रम रे
सुन्दर सुन्दर जग-जीवन !

इसके पहले उसने जीवन को वेदना और निराशा की दृष्टि से देखा था।

---

१. गुंजित भावों की मधुर-भीर,
भर भरता सुख से अश्रु-नीर।
बहती रोओं में मलय-वात,
स्पन्दित-उर पुलकित पात-गात,

उसकी दृष्टि में आशा धोखा थी और उच्छ्वास परिणाम ।[1] वेदना संसार का सत्य और आँसू संसार का काव्य था ।[2] उसकी कविता के वर्ण-वर्ण में उर की कम्पन, शब्द-शब्द में सुधि की दंशन और चरण-चरण मे आह थी ।[3] वैसे, तब भी कभी-कभी वह सुख-दुःख और हास-अश्रु के सापेक्ष रूप को देखता था, पर वह निश्चय नही कर पाता था कि यह समन्वय वरदान है अथवा अभिशाप ।[4] गुंजन में वह जीवन के मांगलिक क्षणों के बीच आ गया है जहाँ उसे क्षणिक सुख-दुःख के ऊपर छाये हुए चिरन्तन जीवन की सुखद अनुभूति होती है।

---

१. प्रथम, इच्छा का पारावार,
सुखद-आशा का स्वर्गाभास;
स्नेह का वासंती-संसार,
पुनः उच्छ्वासों का आकाश !
—यही तो है जीवन का गान,
सुख का आदि और अवसान !

२. सिसकते हैं समुद्र से मन,
उमड़ते हैं नभ से लोचन;
विश्व-वाणी ही है क्रन्दन,
विश्व का काव्य अश्रु-कन !

३. आह, यह मेरा गीला-गान !
वर्ण वर्ण है उर की कम्पन,
शब्द शब्द है सुधि की दंशन;
चरण चरण है आह,
कथा है कण-कण करुण-अथाह;
बूँद में है बाड़व का दाह !

४. विरह है अथवा यह वरदान !
कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता, सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छंद हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है !

अस्थिर है जग का सुख-दुःख
जीवन ही नित्य चिरन्तन !
सुख-दुःख के ऊपर मन का
जीवन ही रे अवलम्बन !

पल्लव-काल की अभिशप्त वेदना अब आनन्द की साधना का अनिवार्य उपकरण बनकर वरेण्य बन गई है। वेदना मानव को वह दुर्लभ करुणा देती है जिसपर उसकी उदार आत्मा पलती है। दुःख मन को पूत भावों से भरता है।

दुःख इस मानव आत्मा का
रे नित का मधुमय भोजन,
दुःख के तम को खा-खाकर
भरती प्रकाश से वह मन।

इसलिए कवि जीवन की कठोरता से बचकर चलनेवाले अपने सौंदर्योपासक मन से, जो अभी-अभी खिन्न और उदास हो गया था, संसार के कष्टों के बीच वेदना की साधना कर पुनीत और कोमल बनने का आग्रह करता है —

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल
जग-जीवन की ज्वाला में गल
बन अकलुष उज्ज्वल औ' कोमल
तप रे विधुर विधुर मन।

स्वातंत्र्य-आन्दोलन और छायावाद की वायवी कल्पना और पलायन-वृत्ति के प्रति नवीन चेतना की आग्रहपूर्ण प्रतिक्रिया ने भी कवि के मन में पीड़ित जन-जीवन के सुख-दुःख के लिए आकर्षण उत्पन्न किया।

इस प्रकार पल्लव का व्योमविहारी गीत-खग गुंजन में जीवन की डाली पर उतरा है। उसने जीवन-तरु की डाली-डाली की फेरी लगाई और पाया कि इस तरुवर की हर टहनी में सुख के फल और दुःख के काँटे समानराशि में वर्तमान हैं। इसलिए *इस जीवन-विटप की छाया में फूल चुननेवाले प्राणियों की* चँगेरी भी सुख-दुःख से भरी है। उनके आँचल को जहाँ पराग ने सुवासित किया है वहाँ काँटों ने उसे झाँझर भी किया है—

देखूं सबके उर की डाली—
सबमें कुछ सुख के तरुण-फूल
सबमें कुछ दु:ख के करुण-शूल
सुख-दु:ख न कोई सका भूल ?

अंतिम पक्ति में कवि ने जीवन के कठोर सत्य का उद्घाटन किया है। सुख-दुख मानव-जीवन की ऐसी हकीकत है जिसे भूलना-भुलाना सम्भव नहीं। सुख-दु:ख की घाटियों से जिन्दगी का कारवाँ चलता है। हर्ष-विषाद के कगारों के बीच जीवन की भागीरथी बहती है। इस संसार के आँगन में ऊषा की अरुणिमा और संध्या की कालिख है, सुख की खिलखिलाती धूप और दु:ख की मँड़राती छाया है; मिलन का आह्लाद और विरह का विषाद है। जीवन के अधरों पर मुस्कुराहट है, उसके नयनों में बरसात है—

यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिंगन विरह-मिलन का,
यह हास-अश्रुमय आनन
रे इस मानव-जीवन का !

जीवन मे सुख-दु:ख दोनों परस्पर एक प्रगाढ़ आलिंगन मे इस प्रकार आबद्ध हैं कि एक को दूसरे से हटाया नहीं जा सकता—

हैं बँधे बिछोह-मिलन दो
देकर चिर स्नेहालिंगन !

इसलिए इस धूप-छाँही संसार के आँगन में जो उतरता है उसे इसके सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद, जन्म-मृत्यु सबका भागी बनना पड़ता है। इस भाँति कवि ने गुंजन में जीवन के तत्त्वों का विवेचन किया है। इस विवेचन-विश्लेषण के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि दु:खों पर पश्चाताप करने से श्रेयस्कर यही है कि हम सुख-दुःख दोनों को स्वीकार करके चलें। न दुःख में विह्वल हों और न सुख में पागल। हम सुख को जीवन का उपभोग्य समझकर ग्रहण करें और दु:ख को जीवन का आवश्यक अंग समझकर वरण करें। नाविक की तरह जीवन की तरंगों पर जलविहार करें, सुख लूटें; पर साथ ही मर्मज्ञ बनकर, जीवन की तह में उतरकर विषाद का भी ज्ञान प्राप्त करें—

जीवन की लहर-लहर से
हँस खेल खेल रे नाविक !
जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़-बूड़ रे भाविक !

आगत दुःख को भूलकर रात-दिन सुख में जो विभोर रहते हैं वे विपत्ति आने पर टूट जाते हैं, लेकिन जो जीवन-मर्मज्ञ हैं, जो सुख-दुःख के राज को जानते हैं, वे बुरे दिन को भी हँस-हँसकर काट लेते हैं। जीवन-यापन के मर्म का यह मोती तो जीवन की तह में प्रवेश करने ही से मिलता है। यह जीवन के प्रति कवि का बौद्धिक दृष्टिकोण है।

कवि जीवन के और निकट आता है, बड़ी सूक्ष्मता से उसका निरीक्षण करता है और उसकी सबसे विषम समस्या का एक व्यावहारिक समाधान उपस्थित करता है। वह कहता है कि संकट-संकुल जगत् की वेदना, पग-पग पर उपस्थित होनेवाली विभीषिका और चरण-चरण पर बिछे हाहाकार को देखकर, जीवन को जगत् के आघातों से लहूलुहान देखकर संसार के प्राणियों का विचलित हो जाना स्वाभाविक है। यह समस्या का निदान तो नहीं है। रोना व्यर्थ है क्योंकि इससे दुःख का भार तो हल्का होना नहीं। जब नियति पर हमारा थोड़ा अधिकार भी नहीं है, जब हम भाग्य की लिपि को मेट नहीं सकते तब भाग्य पर रोना व्यर्थ और बेमानी है। यह बेमानी ही नहीं, बेजा भी है। यह निरर्थक ही नहीं, हानिकर भी है, क्योंकि आँसू की धारा जीवन के वेदना-सागर को और बढ़ा देती है, घटा नहीं पाती। जीवन तो दुःखों से भरा है। जीवन का जुआ कंधों पर ढोना यों ही कठिन है। दुःख-दुख चिल्लाने से तो दुःख-दर्द की दुनिया में जीना और भी दूभर हो जायगा। इसलिए विषादपूर्ण जीवन को आह्लादपूर्ण बनाने का एकमात्र व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक उपाय यही है कि हम अंतर की वेदना को अंतर में ही दबाकर हँसता हुआ मुखड़ा लेकर संसार के सामने आवें, स्वयं हँसें तथा औरों को हँसाएँ। हम दुःखों पर मुस्कुराना सीखें। जीवन की कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने की यही कुञ्जी है; यही सूरमापन है, यही मरदानगी है—

आँसू की आँखों से मिल
भर ही आते हैं लोचन

हँसमुख हो से जीवन का
पर हो सकता अभिवादन।

यह कवि का जीवन के प्रति मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

कवि का निसंग मन जब एक बार मानव की ओर खिंच आया तब मानव-जीवन की असंगतियों और विपत्तियों पर उसका चिंतन-मनन करना स्वाभाविक है। मानव-जीवन का लक्ष्य सुख है। मानव जीवनभर सुख के लिए ही प्रयत्नशील रहता है; फिर भी उसे दुःख भोगना पड़ता है। यह कैसी असगति है? कवि जीवन के इस विरोधाभास पर विचार करता है और पाता है कि हमारे दुःखों के मूल में तृष्णा है—हमारी अति-इच्छा है। असंयमित अति-इच्छाएँ सीमित साधनों के इस संसार मे कभी पूरी नहीं होतीं, इसीलिए हमारा असंतोष है, हमारा हाहाकार है—

बह जाता बहने का सुख,
लहरों का कलरव, नर्तन,
बढ़ने की अति इच्छा में
जाता जीवन से जीवन।

यह ठीक है कि हम इच्छा को जीवन से अलग नहीं कर सकते, किन्तु यदि इच्छा सृष्टि का प्राण है तो साधन आत्मा की पूँजी है। हमारा जीवन, हमारी हर क्रिया किसी न किसी इच्छा, काम अथवा आकांक्षा से उत्प्रेरित है और हमारी आत्मा, आत्मा का हर निर्देश संयत इच्छाओं की साधना अथवा संयम की भावना से अनुप्राणित है। इच्छा के कारण जीवन गतिशील और प्राण-पूर्ण है; संयम के कारण आत्मा सदा प्रसन्न और शांत। इसलिए सम-इच्छाओं की साधना में, संयमित जीवन व्यतीत करने में ही तन और मन, काया और आत्मा दोनों प्रसन्न और सुखी हो सकती हैं। मात्र भोग-विलास के लिए जीना तो जीवन को धोखा देना है; यह तो विपरीत विचार है। सदिच्छाओं की पूर्ति के निमित्त जीना ही सच्चा जीना है—

इच्छा है जग का जीवन,
पर साधन आत्मा का धन;
जीवन की इच्छा है छल,
इच्छा का जीवन जीवन।

वे इच्छाएँ जो मन में क्षण भर के लिए उत्पन्न होती हैं और दूसरे ही क्षण अपने प्रति विरक्ति उपजाकर विलीन हो जाती है अथवा वे असंयमित इच्छाएँ जिनकी पूर्ति जीवन मे नही हो सकती—दोनों जीवन के उद्देश्य की सिद्धि में, परमसुख की प्राप्ति मे विघ्न डालती हैं। एक के कारण अशाति और दूसरे के कारण निराशा उत्पन्न होती है और अशाति एव निराशा साधना मे शिथिलता उत्पन्न करती हैं। इसलिए संयमित इच्छाओं की साधना मे ही मानव के सुख-स्वर्ग का निवास है—

ये आधी अति इच्छाएँ
साधन में बाधा-बंधन;
साधन भी इच्छा ही हैं
सम इच्छा ही रे साधन।

यह जीवन के प्रति कवि का दार्शनिक दृष्टिकोण है।

सुखमय जीवन के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं को मर्यादित रक्खे, अपनी परिस्थिति से संतुष्ट हो और विश्व के व्यापक जीवन के साथ तादात्म्य अनुभव करे—

कँप-कँप हिलोर रह जाती—
रे मिलता नहीं किनारा!
बुद्बुद् विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा

अत मे वह सुख और दु ख के बीच समझौता करता है और जीवन के प्रति एक समन्वयवादी उदार दृष्टिकोण उपस्थित करता है। उसकी दृष्टि में सुख और दुःख सापेक्ष हैं। एक के अभाव मे दूसरे की कल्पना नही हो सकती। दुःख तो सुख का मार्ग प्रशस्त करता है। दावाग्नि से वन जल जाता है किन्तु इसके बाद जले हुए ठूंठ वृक्षों से नयी कोपलें फूटती हैं जिनके फलस्वरूप वह वन पहले से भी अधिक सघन हो जाता है। पृथ्वी के ग्रीष्मकालीन ताप से जल बादल बनकर आकाश मे छाता है। ये बादल जब बिजली के दाँत कट-कटाकर गरजते हैं तब एक भयानक दृश्य उपस्थित हो जाता है। इस तर्जन-गर्जन के बाद जब इन्हीं बादलों से रसवन्ती की बूँदें चूने लगती हैं तब धरती

निहाल हो जाती है। बरसाती फुहार पृथ्वी को नयी जिन्दगी देती है। इसी प्रकार दुःख से दग्ध होने के बाद मनुष्य के सारे विकार जल जाते हैं और वह अकलुष होकर पूर्व से शुद्धतर, मृदुलतर नवीन आनन्द का अनुभव करता है। दुःख के बाद आनेवाला आनन्द बड़ा रुचिकर होता है। इसलिए दुःख आरम्भ में कष्टकर किन्तु अन्त में कल्याणकर है—

दुख-दावा से नव अंकुर,
पाता नव जीवन का धन,
करुणार्द्र विश्व की गर्जन
बरसाती नव-जीवन-कण!

दुःखों की अधिकता की भाँति सुखों का अतिरेक भी जीवन के वास्तविक आनन्द के प्रतिकूल है क्योंकि मनुष्य विविधता-पसन्द प्राणी है और एक वस्तु का दीर्घ संयोग उसके जीवन में एकरसता उत्पन्न करता है जो उदासीनता का कारण है—

जग पीड़ित है अति-दुख से
जग पीड़ित रे अति-सुख से।

जिस तरह शहद में अपने परों को भिगो कर भ्रमर सुखपूर्वक गा नहीं सकता उसी तरह केवल उपभोग का जीवन बिताकर व्यक्ति वास्तविक आनन्द नहीं पा सकता क्योंकि वह शिथिल, क्रियाहीन और पंगु हो जाता है। जीवन में आनन्द के लिए जिस उमंग और उत्साह की अपेक्षा होती है उसका उसमें अभाव होता है। इसी प्रकार दीर्घ वेदना से पीड़ित होकर जब हृदय अत्यत पीड़ित हो जाता है तब उसकी वाणी मूक हो जाती है। हृदय-वीन के तार ढीले पड़ जाते हैं और विपंची मौन हो जाती है। इसलिए जिस तरह मधुर संगीत के निस्सरण के लिए सितार के तारों को कौशल से साधा जाता है ताकि न वे अधिक कड़े हों न अधिक ढीले उसी तरह जीवन-वीन से आनन्द का संगीत निःसृत करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसकी मीड़ को सुख-दुःख के कोमल-कठोर स्पर्शों से साधें ताकि सुख के आधिक्य के कारण न वह अधिक कड़ी हो और न दुःख के आधिक्य के कारण अधिक ढीली—

अपने मधु में लिपटाकर
कर सकता मधुप न गुंजन,

करुणा से भारी अंतर
खो देता जीवन कम्पन।

इसलिए मानव-जीवन की पूर्णता समान अनुपात में सुख और दुःख की उपस्थिति में ही है। इसलिए कवि चाहता है कि—

मानव जग में बँट जायें
दुख सुख से औ' सुख दुख से।

सुख-दुःख के इस सम-विभाजन मे मानवो के बीच धन और निर्धनता के समाजवादी विभाजन का उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है। सुख-दुःख के विवेचन मे गुंजन का कवि आत्मकल्याण तक ही सीमित रहा है।[1] उसका दृष्टिकोण वैयक्तिक है।[2] गुंजन में कवि की दृष्टि अन्तर्मुखी रही है। गुंजन के पहले वह परिस्थितियों के वश अपनी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाने को बाध्य नहीं हुआ था। गुंजन मे उसकी बहिर्मुखी प्रकृति, सुख-दुःख में समत्व स्थापित कर, अतर्मुखी बनने का प्रयत्न करती है। इस प्रयत्न में वह किंचित बौद्धिक भी हो उठा है क्योंकि गुंजन मे हृदय वस्तु जगत् के जीवन से भोजन न पाकर बुद्धि से सहायता माँगता है।

आते कैसे सूने पल, जीवन में ये सूने पल
* * *
खो देती उर की वीणा झंकार मधुर जीवन की

---

१. गुंजन और ज्योत्स्ना में मेरी सौंदर्य-कल्पना क्रमशः आत्म-कल्याण और विश्वमंगल की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए उपादान की तरह प्रयुक्त हुई है।

—पंत (आधुनिक कवि—भूमिका)

२. ज्योत्स्ना में मैंने जिस सत्य को सार्वभौमिक दृष्टिकोण से दिखाने का प्रयत्न किया है गुंजन में उसी को व्यक्तिगत दृष्टिकोण से कहा है। गुंजन के प्रगीत मेरी व्यक्तिगत साधना से संबद्ध हैं।

—पंत (प्रतीक ४ हेमंत : मेरा रचना काल)

पर गुंजन का कवि दर्शन की ओर झुका है, विज्ञान की ओर नहीं। गुंजन की चिंता और समस्या वैयक्तिक है, उसमे मानव के सामूहिक संघर्षों और समस्याओं का चित्रण नहीं है। गुंजन में जीवन-सत्य को किञ्चित् तटस्थता से देखा गया है। यदि नीचे की पंक्तियों में निस्तल-जल को जीवन और मछली को सत्य मान लिया जाय तो ये पक्तियाँ पंत जी के दृष्टिकोण को स्पष्ट-सा कर देती हैं—

सुनता हूँ इस निस्तल-जल में
रहती मछली मोती वाली,
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल-जल-माली

कहीं-कहीं गुंजन में कवि की सामाजिक विचारधारा का भी परिचय मिलता है जिसका विकसित रूप बाद की रचनाओं में आया।

यहाँ जिस समाज या विश्व का चित्रण हुआ है वह व्यक्ति सापेक्ष ही है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के सुख में व्यक्ति का सुख है और संसार का सामाजिक जीवन तभी सुखी हो सकता है जब उसके परिवार के विभिन्न सदस्यों में परस्पर विश्वास और प्रीति हो। जीवन की कटुता दूर कर धरती पर स्वर्ग उतारने के लिए यह आवश्यक है कि हम आशावादी और विश्वास परायण हों। मानव का व्यक्तिगत सुख भी आशा और विश्वास पर ही अवलंबित है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हृदय की गति साँसों के स्वाभाविक आने और जाने पर टिकी है—

सुन्दर विश्वासों से ही
बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज-सहज साँसों से
चलता उर का मृदु स्पन्दन।

विश्वास जीवन की साँस है। विश्वास का जीवन समृद्धि का जीवन है। शंका का जीवन त्रास का जीवन है। विश्वासपरायण, आशावादी व्यक्ति जीवन के क्षणिक सुख-दुःख के उन्माद-विषाद से चंचल-विह्वल न होकर सदा प्रसन्न रहता है। आशा और विश्वास से भरा जीवन-सागर सुख-दुःख के कगारों को

अपने में डुबाकर दोनों ओर लहराता रहता है। अतः 'आत्मा के चिरधन' की खोज में निकला कवि का मन विश्वास का आधार चाहता है—विश्वास सम्पूर्ण जीवन पर, जीवन की हर वस्तु की उपादेयता पर—

विश्वास चाहता है मन,
विश्वासपूर्ण जीवन पर;
सुख-दुःख के पुलिन डुबाकर
लहराता जीवन सागर!

दर्शन की भाषा में यह कैवल्य की अवस्था है। इस भाँति पंत ने गुंजन में सुखमय वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के लिए आशा, विश्वास और प्रेम को आवश्यक माना है। यह कवि का जीवन के प्रति व्यक्ति-सापेक्ष सामाजिक दृष्टिकोण है।

ससार के हर प्राणी और वस्तु से प्रेम करना, जीवन के हर क्षण को आशा और विश्वास से देखना जीवन के सिद्धान्त-वाक्य हैं, सुखमय जीवन के नियम हैं। ये नियम देखने सुनने मे तो सरल-साधारण प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका निर्वाह करना, जीवन में उन्हें बरतना अत्यंत कठिन है। विश्व के प्रेम-सम्बन्धो के बीच जो स्वाभाविक 'मुक्ति' मिलती है उसका अनुभव अत्यन्त मधुर और प्रिय होता है, किन्तु इस सहज मुक्ति की साधना करना, इसकी शर्तों और जिम्मेदारियों को निभाना अत्यंत दुष्कर है—

जीवन के नियम सरल हैं
पर है चिरगूढ़ सरलपन;
है सहज मुक्ति का मधु-क्षण
पर कठिन मुक्ति का बंधन!

इसलिए गुंजन मे पत जी का उद्देश्य व्यक्ति के आत्मोत्कर्ष का उपकरण ढूंढना है—'क्या मेरी आत्मा का चिरधन'; उसकी भौतिक अथवा सामाजिक मान्यताओं का मूल्यांकन करना नहीं। गुंजन में मानव-जीवन के जिस सत्य का उद्घाटन हुआ है वह वास्तविक सत्य नहीं, आदर्श सत्य है जिसका सम्बन्ध परिणाम से होता है। इसलिए यहाँ कवि वैयक्तिक सुख-दुःख से ऊपर उठकर वेदना को आत्मोत्कर्ष तक खींच लाया है। दूसरे शब्दों में हम इस कल्पना का

सत्य कह सकते हैं।[1]

गुंजन का जीवन-दर्शन मुख्यतः सनातन हिन्दू विचार-परम्परा, गीता के कर्मयोग, महात्मा बुद्ध के मध्यम मार्ग, वर्ड्‌स-रवि ठाकुर की बंधन-मुक्ति और वर्ड्‌स के प्रकृति-सिद्धान्त से प्रभावित है। पंत जहाँ सुख-दुःख को क्षणिक और माया मानते हैं—

अस्थिर है जग का सुख दुख
जीवन ही नित्य चिरंतन

—वहाँ वे प्राचीन हिन्दू विचार का अनुमोदन करते हैं।[2] जहाँ वे दुःख को तृष्णामूलक मानते हैं और इच्छा को संयमित कर 'इन्द्रिय निग्रह' का आदेश देते हैं वहाँ वे 'गीता' में प्रतिपादित कर्मयोग का अनुशीलन करते हैं। जहाँ सुख-दुःख दोनों को स्वीकार करके चलने का आग्रह करते हैं वहाँ वे महात्मा बुद्ध का समर्थन करते हैं—मध्यम पथ व्रज। इसी भाँति तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन में रविबाबू की पंक्ति 'असंख्य बंधन माँझे लभिय महानन्दमय मुक्तिर स्वाद' की ध्वनि है। और, जहाँ पंत जी यह कहते हैं कि केवल मनुष्य ही दुखी है, प्रकृति नहीं; मनुष्य ने अपने को कृत्रिम बनाकर दुःखपूर्ण बना लिया है; उसे जीवन की सीख प्रकृति से ग्रहण करनी चाहिए—

बन की सूनी डाली पर
सीखा कली ने मुस्काना
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुःख को अपनाना

---

१. मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिमा का अंश भी मानता हूँ।........मेरा विचार है कि वीणा से लेकर ग्राम्या तक, अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना को ही वाणी दी है।

—पंत (आधुनिक कवि, पृ० २६)

२. गीता में स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के लक्षण—
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

—यहाँ वे वर्ड्सवर्थ के प्रकृति-सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं।

छायावादी कवियों में पंत ही बाह्य प्रभावों से सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं। उनकी चिन्ताओं ने भी विभिन्न मतवादों की कृतज्ञता स्वीकार की है।[1] इससे उनके जीवन-दर्शन का स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ अस्पष्ट हो गया है और कहीं-कहीं विवादी स्वर भी सुनाई पड़ता है।

पंत का यह जीवन-दर्शन मूलतः भारतीय है। वह मार्क्सवादी नहीं है। गुंजन का कवि सुख-दुःख का मात्र आर्थिक मूल्यांकन नहीं करता। उसकी दृष्टि में सुख-दुःख का सम्बन्ध मन से अधिक है। उसके इस दर्शन में अतीत और अध्यात्म के समन्वय का आभास अवश्य मिलता है।[2] वह ईश्वर में आस्था रखता है और साथ ही वस्तु-सत्य और आत्म-सत्य के समन्वय से, बाह्य जीवन और आन्तरिक जीवन के संगठन से एक नूतन संस्कृति, एक विकसित लोक-जीवन का निर्माण भी करना चाहता है—

चाहिए विश्व को नवजीवन।

'मैं अध्यात्म और भौतिक, दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ हूँ। पर भारतीय दर्शन की, सामंतकालीन परिस्थितियों के कारण जो एकांत परिणति व्यक्ति की प्राकृतिक मुक्ति में हुई है और मार्क्स के दर्शन की, पूंजीवादी परिस्थितियों के कारण, जो वर्गयुद्ध और रक्तक्रांति में परिणति हुई है—ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।'

---

१. मेरी कल्पना को जिन-जिन विचार-धाराओं से प्रेरणा मिली है उन सबका समीकरण करने की मैंने चेष्टा की है।

—पंत (आधुनिक कवि, पृ० २६)

२. यही समन्वय पंत जी के जीवन दर्शन का मूलाधार है—
'जिस प्रकार पूर्व की सभ्यता अपने एकांगी आत्मवाद और अध्यात्मवाद के दुष्परिणामों से नष्ट हुई उसी प्रकार पश्चिम की सभ्यता भी अपने एकांगी प्रकृतिवाद, विकासवाद और भूतवाद के दुष्परिणाम से विनाश के दलदल में डूब गयी। पश्चिम के जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भरकर एवं अध्यात्मवाद के अस्थिपंजर में भूत या जड़विज्ञान के रूप-रंगों को भरकर हमने आने वाले युग की मूर्ति का निर्माण किया है।'

—ज्योत्स्ना (पंत)

कवि ने भौतिक इच्छाओं की भूमि से साधना की भूमि में आना चाहा है—'ना मुझे इष्ट है साधन'। वह भौतिकवाद की छोटी सीमाओं का उल्लघन कर सर्वात्मवाद के लोक में पहुँचता है—

आत्मा है सरिता के भी
जिससे सरिता है सरिता

आत्मा के इस विस्तार में 'सोऽहमस्मि' का अनुभव होता है। इसलिए संसार का हर प्राणी उसे प्रिय है—

प्रिय मुझे विश्व सचराचर
तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर, सुरवर।

प्रकृति ब्रह्म की विवृति है। मानव 'सहज सत्य' और 'चिर अभिनव' है—

तुम सहज सत्य सुन्दर हो,
चिर आदि और चिर अभिनव।

नारी पुरुप की पूरक है। आत्मा ब्रह्म का अंश है—'अनन्त का मुक्त मीन।'

दर्शन के इस आध्यात्मिक संगम पर भी वह जीवन की गति को भूल नहीं सका है। गुंजन का कवि उस सधि-प्रदेश का गायक है जहाँ शिव और सुन्दर, धरती और आसमान मिलते हैं। जीवन की कल्पना उसने एक नदी के रूप में की है जिसकी दो गतियाँ हैं—एक दैनिक और दूसरी शाश्वत। नदी एक ओर प्रतिदिन अपने उपकूलो से खेलती है और दूसरी ओर प्रतिक्षण-प्रतिपल सागर में डूबती भी रहती है। इसी प्रकार मानव-जीवन का एक छोर धरती से बँधा है और दूसरा अनन्त से। जो केवल ऐहिक बना रहता है वह अपने को रुग्ण कर लेता है और जो केवल चरम लक्ष्य की चिंता में अपने चारों ओर के सौंदर्य को नहीं देखता वह भी अनावश्यक रूप से अपने जीवन को नीरस बना लेता है।

क्या यह जीवन? सागर में
जलभार मुखर भर देना।
कुसुमित-पुलिनों की क्रीड़ा—

पीड़ा से तनिक न लेना ?
सागर-संगम में है सुख,
जीवन की गति में भी लय;
मेरे क्षण-क्षण के लघु-कण
जीवन-लय से हों मधुमय ।

गुंजन एक कोमल प्राण, चिन्ताशील किन्तु जनभीरु कवि का जीवन काव्य है। इसके गीत जीवन के कोलाहल में बैठकर नहीं, एकात के चिन्तनशील क्षणों मे लिखे गये हैं। इसलिए इनमें बौद्धिकता अधिक और भावुकता कम है। इसमे मानव के सामाजिक संघर्षों का सत्य नही है। गुंजन कवि की व्यक्तिगत साधना का परिणाम है जिसमें वह आन्तरिक द्वन्द्वो के ऊपर उठने की चेष्टा करता है। गुंजन का सत्य कवि-कल्पना का आदर्श सत्य है। पंत ने उचित ही इसे अपने प्राणों का उन्मन गुंजन कहा है। इसका कलेवर मानव-जीवन के अश्रु-हास के तारों से बुना है। इसके गीत विश्ववेदना के आँसू से धुले, आत्मानुभूति की मुसकान से स्नात और विश्व-सगीत से झंकृत हैं। गुंजन के कवि ने आज के संकट-संकुल भौतिकतावादी यन्त्रयुग को अध्यात्म की मांगलिक भावनाओं से नूतन जीवन दर्शन गढ़ने का सदेश दिया है। मागलिक काव्य कला की सीमा भी होती है।

प्रगतिवादी काव्य | यशदेव

काव्य-सौन्दर्य अनुभूति और वर्ण्यवस्तु के सम्बन्ध की मात्रा और दिशा या गुण पर अवलम्बित है। अनुभूति-शून्य कोई भी शब्द काव्य नहीं हो सकता, किन्तु केवल कवि का अनुभूति विषय भी काव्य का विषय नहीं हो सकता यदि वह सामान्य न हो, पाठक की अनुभूति को यदि प्रेरित न कर सकता हो। अनुभूति सदैव सामूहिक तत्त्वों से बँधी होती है, इसलिए उसका स्तर भी सदैव साधारण होता है। प्रायः प्रत्येक अनुभूति काव्य का प्राण हो सकती है।

इस दृष्टि से पन्त की युगवाणी और ग्राम्या का काव्य-सौन्दर्य देखते हुए एक कठिन समस्या उठ खड़ी होती है। युगवाणी को वे स्वयं गीत-गद्य कह चुके हैं और ग्राम्या को उन्होंने बौद्धिक सहानुभूति से प्रेरित कहा है। इस अवस्था में इनका काव्यगत मूल्य क्या हो सकता है?

पन्त के विचार में संक्रान्ति-काल में समस्याओं का कवि प्रायः बौद्धिक स्तर पर ही काव्य निर्माण कर सकता है, क्योंकि ये समस्याएँ अभी जातीय हृदय का स्पर्श नहीं कर चुकी होतीं; दूसरे इनका सुलझाव बौद्धिक स्तर पर ही अभीष्ट है, क्योंकि इनके प्रति भावुक होकर कोई इनका सुलझाव नहीं खोज सकता। यदि कवि जातीय-जीवन के निकट सम्पर्क में है, तो वह स्वाभाविक जीवनानुभूति से प्रेरित होकर इन समस्याओं को अनुभूति के स्तर पर ग्रहण कर सकता है और यही स्वाभाविक भी है। जैसे एक श्रमिक अपने वर्गीय जीवन के निकटतम सम्पर्क में होने से श्रमिक जीवन की समस्याओं को सहज जीवनानुभूति से प्रेरित होकर ही ग्रहण कर सकेगा। श्रमिक जीवन की समस्या उसके जातीय और वैयक्तिक जीवन का भी संकट होगी और इसीलिए वह समस्या अनुभूति को स्पर्श कर के ही उसे (व्यक्ति को) समाधान या प्रतिरोध

के लिए प्रस्तुत करेगी। जातीय जीवन के निकट सम्पर्क में होकर कवि समस्या के युग में भी तीव्र जीवनानुभूति से अनुप्राणित होकर अधिक सशक्त काव्य दे सकता है, और यह भी कि आज ऐसी काव्यरचना श्रमिक या कृषक वर्ग की ओर से ही सम्भव है, पूंजीवादी वर्गीय कवि की ओर से नहीं।

विवेचना के इस स्तर पर खड़े होकर हम सहज ही देख सकते हैं कि क्यों पन्त जी कृषक वर्ग को केवल बौद्धिक सहानुभूति ही दे सके; क्योंकि वे अपने वर्ग से असन्तुष्ट होकर कृषक वर्ग की ओर तो आए, किन्तु अपने व्यक्ति को उस समष्टि का अंग नहीं बना सके, उन्होंने उनकी समस्याओं को अपने (पूंजीवादी-व्यक्तिवादी) वृत्त से ही खड़े होकर देखा। पन्त इसका कारण देते हैं "ग्राम्य-जीवन में मिलकर, उसके भीतर से मैं इसलिए नहीं लिख सका क्योंकि मैंने ग्राम-जनता को रक्त मांस के जीवों के रूप में नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयवस्वरूप देखा है और ग्रामों को सामन्तयुग के खण्डहर के रूप में।" इतना ही नहीं, आगे वे यह भी कहते हैं कि "उनके साथ अनुभूतिगत सहानुभूति का अर्थ प्रतिक्रियावादी साहित्य को जन्म देना होगा।" यह एकदम ग़लत है, कृषक वर्ग के साथ अनुभूतिगत सहानुभूति का अर्थ पूंजी-वादी मानवतावादी ढंग से सोचना नहीं है, जैसा कि उन्होंने आगे अपने विचार रखते हुए कहा है "वह तो ग्रामीणों के दुर्भाग्य पर आंसू बहाने या पराधीन, क्षुधाग्रस्त किसानों को तपस्वी की उपाधि देने के सिवाय हमें आगे नहीं ले जा सकती।" ऐसी बात नहीं, कृषक वर्ग से हार्दिक सहानुभूति का अर्थ है अपने आपको उस वर्ग का ही एक सदस्य समझ कर उन समस्याओं के प्रति संघर्षशील होना, जैसे प्रेमचन्द या गोर्की थे। प्रेमचन्द ने गोदान में कृषकों की निम्नतम अवस्था और स्वभाव का उद्‌घाटन किया है, उसने उन्हें तपस्वी नहीं कहा, किन्तु उसे क्या कोई बौद्धिक सहानुभूति कह सकता है ? पन्त वास्तव में यहाँ एक मध्यमवर्गीय क्रान्तिकारी की भूमिका में ही आए हैं, जिसकी क्रान्ति बहुत कुछ सुधारवादी प्रवृत्ति की होती है। इससे इनके प्रगतिवादी काव्य के मूल्य का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

(क) युगवाणी में काव्य-सौन्दर्य

युगवाणी में पन्त ने प्रायः अपने विचारों को ही पद्य-बद्ध करने का प्रयास किया है, जिन विचारों को वे युग की विचारधारा का प्रतिनिधि समझते हैं।

अब हमें युग-वाणी के काव्य-सौन्दर्य पर ही दृष्टिपात करना चाहिए। इस दृष्टि-कोण से—मेरे विचार में—युगवाणी का कोई मूल्य नहीं। प्रकृति-वर्णन की कुछेक कविताओं में से चार-पाँच कविताएँ ही ऐसी चुनी जा सकती हैं जिनका कुछ साहित्यिक महत्त्व हो, किन्तु इनमें भी जहाँ बलात् युगवाणी लाने का प्रयास किया गया है वहाँ ऐसे काव्य के प्रति तीव्र विरक्ति हो उठती है। जैसे, गंगा की साँझ कविता से एक उदाहरण लें—

अभी गिरा रवि ताम्र-कलश सा, गंगा के उस पार,
क्लान्त-पांथ जिह्वा विलोल, जल में रक्ताभ प्रसार।
भूरे जलदों से धूमिल नभ, विहग छंदों से बिखरे,
धेनुत्वचा से सिहर रहे, जल में रोओं से छितरे।
शान्त-स्निग्ध-संध्या सलज्ज-मुख, देख रही जल तल में,
नीलारुण श्रंगों की आभा, फहरी लहरी जग में।

इस वर्णन में यथार्थ में बहुत हल्के रंग भरे गए हैं, जो उसी में घुल-मिलकर एक हो गए हैं, यहाँ वस्तु और आकृति भिन्न-भिन्न दिखाई नहीं पड़ते। अतः यह वर्णन बहुत ही सुन्दर और आकर्षक है; किन्तु कवि अपनी युग-वाणी उद्घोषित करना यहाँ भी भूलता नहीं, वे लिखते हैं—

(किन्तु) मानव की सजीव सुन्दरता, नहीं प्रकृति-दर्शन में।

इससे सम्पूर्ण चित्र-पट ही बदल जाता है, हमारे सामने पहेली आ खड़ी होती है, आखिर मनुष्य और प्रकृति में कौन अधिक सुन्दर है? यदि यह अनुभव करके कहा गया होता, तब और ही बात होती; तब तो मानव-सौन्दर्य प्रकृति-सौन्दर्य को कम किए बिना ही हमारे हृदय में साकार हो उठता, किन्तु हम यहाँ न तो मानव-सौन्दर्य के लिए ही कोई प्रेरणा पाते हैं और न प्रकृति-सौन्दर्य के लिए। इसी प्रकार गंगा का प्रभात में भी हम देखते हैं। इस कविता में भी प्रकृति चित्रण काफी कुशलता से किया गया है, देखें—

गलित ताम्र-भव, भृकुटिमात्र रवि,
रहा क्षितिज से देख,
गंगा के नभ-नील-निकष पर,
पड़ी स्वर्ण की रेख।

लहर-लहर जीवन कम्पन से
गिर गिर अपने आप,
बेयस लहराने को लहराता,
मृदु लहर कलाप।

यहाँ प्रथम पद में वर्णन इतना सजीव है कि हमारे सम्मुख अर्ध-उदित सूर्य और आकाश में धनुषाकार फैलती किरणों की रेखाएँ सहज ही मूर्त हो उठती हैं। भृकुटि और निकष से वर्णन में चित्रमयता बहुत ही उभड़ी है। दूसरे पद्य में लहरों की मस्ती, अल्हड़ता, बेपरवाही और मौज अत्यन्त सजीव हो उठी है, यद्यपि वातावरण में एक उदासी और नीरवता सी प्रतीत होती है, जो इनमें कुछ हल्कापन सा देती है। सम्भवतः कवि गहराई से इस सौन्दर्य में आत्म-विभोर नहीं हो सका है। आगे वे इस दृश्य को कुछ दार्शनिक चित्रपट भी देते हैं, जिससे यह नीरवता सार्थक और सजीव हो उठती है—

सृजन-तत्त्व की सृजन-शीलता से हो अवश अकाम,
निरुद्देश्य जीवन-धारा, बहती जाती अविराम।
देख रहा अनिमेष,—हो गया स्थिर निश्चल सरिताजल,
बहता हूँ मैं, बहते तट, बहते तरु, क्षितिज, अवनि-तल।

दूसरे पद्य में दृष्टि की सूक्ष्मता से कवि जो यथार्थ अंकित कर सका है वह बहुत ही आकर्षक है। प्रथम पद्य की काव्यमय दार्शनिकता के कारण जो नदी की धारा जीवन-धारा के रूप में परिवर्तित हो जाती है, दूसरे पद्य में 'बहता हूँ मैं, बहते तट, बहते तरु, अवनि, क्षितिज-तल' आदि के साथ फिर उसी अपने रूप में आ जाती है, किन्तु उस पर उसकी थोड़ी-सी छाप स्पष्ट रहती है, और दूसरे पद्य को यथार्थ और प्रतीकात्मकता का मिश्रण-सा बना देती है। इससे यह सब और भी सुन्दर और मंजुल प्रतीत होने लगता है। इसके एकदम ही पश्चात्—

मानव-जीवन, प्रकृति-संचालन में विरोध है निश्चित,
विजित प्रकृति को कर उसने की, विश्व सभ्यता स्थापित।

स्पष्ट है कि यह नृतत्त्व-शास्त्रीय मूल्यांकन गंगा के प्रभात वर्णन से कोई अवान्तर संबंध भी नहीं रखता। इस पद्य में उन्होंने जो कुछ कहा है वह हमारे

तर्क को प्रेरणा देता है अनुभूति को नहीं, अतः यह न केवल काव्यत्व-हीन पद्य मात्र है, वरन् असंगत भी है। प्रसिद्ध प्रकृति-कवि पन्त को प्रकृति से कोई विशेष प्रेरणा नहीं मिली, वे बस कुछ लिखने के लिए लिख डालते हैं। युगवाणी में कुछेक कविताएं शुद्ध प्रकृति वर्णन की भी हैं, जिनमें युग-वाणी का कोई हस्तक्षेप नहीं, किन्तु वे नीरस और कभी-कभी तो असंगत भी हैं। असंगत कल्पनाओं को बांधना तो शायद पन्त के भाग्य में ही बदा है, अतः उनका इसमें कोई दोष नहीं। एक पद्य देखें—

ओस बिन्दु! लघु ओस-बिन्दु!
नीले, पीले औ हरे लाल, चंचल तारामों से जल जल,
फैलाते शीतल सजल ज्वाल।

और फिर—

ये पक्षी, मधुमक्खी, तितली,
जुगनू, मछली, रवि, ऋक्ष, इन्दु,
निज नाम रूप खो जान बूझ,
सब बने हुए हैं ओस-बिन्दु।

इस निचले पद्य का क्या अर्थ बना?—समझ नहीं आया। पक्षी, मक्खी, तितली, जुगनू और भालू-चाँद आदि में मेल क्या है? फिर ये ओसबिन्दु भला कैसे बने होंगे? और सब तो कुछ-कुछ शायद बन भी सकते हों, मधुमक्खी भी सम्भव है किसी तरह सफेद हो गई हो, या दर्शक उसे प्रतिच्छायित समझ ले, किन्तु भालू बेचारे को उसमें समाने को कहना तो बड़ा अनर्थ है! पन्त ने यद्यपि कहा है कि नाम रूप खोकर वे ओसबिन्दु बने हैं, पर तब तो पन्त भी बन सकते थे! इसी प्रकार एक और कृष्ण-घन से उदाहरण लें—

दिग्विदीर्ण कर भर गुरु-गर्जन,
घोर तड़ित से धंध-आवरण,
उमड़ घुमड़ घिर रुम-झूम,
बरसाओ नव-जीवन के कण।

यहाँ कवि जी ने लगभग सारा जोर शब्द ध्वनि उत्पन्न करने में लगाया है, किन्तु अनुभूति-शून्य शब्द अलंकरण कितना छिछला रह जाता है यह हमें

कवि केशवदास से सीख लेना चाहिए। 'रुम-झूम' या 'दिग्विदीर्ण' जबरदस्ती की 'कसरत' के अतिरिक्त और कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते।

युगवाणी से ऐसे उद्धरण कितने ही दिए जा सकते हैं, क्योंकि इसमें पन्त का 'प्रकृति-प्रेम' खूब उमड़ा है; किन्तु पाठक इन्ही से सब अनुमान लगा सकते हैं, इसलिए व्यर्थ अधिक उद्धरणों से हाट सजाना लाभप्रद नहीं हो सकता। फिर भी एक और उदाहरण देखना ही चाहिए।

पाठकों मे से बहुतों ने 'काफिया-बाँधना' सुना होगा, इसको हिन्दी मे 'तुक-जोड़ना' कहते हैं, किन्तु इसमें वह ध्वनि नही जो काफिया-बाँधने में है, अत: आप इसे ही ध्यान मे रखें और निम्न पद्य आम्र-विहग मे से देखें—

विश्वास ग्रंथ,
संघर्ष द्वंद्व,
बहु तर्कवाद,
उर के प्रमाद,
गत रूढ़ि रीति,
मृत धर्म नीति,
ये हैं जगती की ईति-भीति।

हों अन्त
दैन्य जग के दुरन्त,
आवे वसन्त,
जीवन दिगन्त,
फिर से हो स्मित कुसुमित वसन्त।

इनमें पहिले पद्य में तो 'षडेताः ईतयः स्मृताः' के स्थान पर मौलिक उद्भावना की गई है और दूसरे में आम्र-विहग से, जैसे स्वर्णकिरण के 'कोविदार के शकुनि' (कव्वे) से, समिद्-पाणि होकर प्रार्थना की गई है। दोनो ही पद्यो में कवि का न तो आम्र-विहग से कोई हृदयगत सम्बन्ध है और न वसन्त के लिए प्रार्थना मे। और वास्तव में बुद्धिगत शृङ्खला भी नही है।

(ख) ग्राम्या में काव्य-सौन्दर्य

युगवाणी में पन्त का मुख्य उद्देश्य काव्य सृजन नही था, जैसा कि उन्होने

स्वयं भी कहा है ; अतः यहाँ हमने कुछ प्रकृति-सौन्दर्य की कविताओं को ही काव्य के अन्तर्गत रखा। ग्राम्या में वे काव्य-ही निर्माण कर रहे हैं; सिद्धांत-स्थापना नहीं, अतः इसकी सब कविताओं का मूल्यांकन मुख्यतः काव्य-दृष्टि से ही हो सकेगा, सैद्धान्तिक आलोचना से नहीं। पन्त ने इसके आमुख में ही इसे 'ग्रामीणों के प्रति बौद्धिक सहानुभूति' की प्रेरणा कह कर इसके काव्यगत मूल्य का पूर्वाभास करवा दिया है, किन्तु फिर भी हम इसका नाप-तोल करेंगे ही।

हम एक बार ग्राम्या को पल्लव से भी उत्कृष्ट कह चुके हैं, यद्यपि कोमल-कल्पना के प्रसिद्धतम काव्य-संग्रह के प्रति हमारी यह सम्मति बहुतों को पसन्द नहीं होगी। इस में कोमल-कल्पना आकाशीय है। ग्राम्या में यह निराधार उड़ान कहीं भी नहीं, अतः वह कम से कम इस आधारभूत दोष से तो मुक्त है ही।

इसके प्रायः सभी गीत ग्राम्य जीवन से अथवा ग्राम के प्रति कवि की प्रतिक्रिया से ही सम्बन्ध रखते हैं। इनमें भी दूसरे प्रकार के गीत ही अधिक हैं। ग्राम्या का कवि अपने युग और समस्याओं की ओर सजग है और अपने काव्य की सीमा उसी के अनुसार निश्चित करना चाहता है, अतएव कभी-कभी उसके छन्दों में समस्याएं काव्य से अधिक प्रधान हो उठी हैं; और दूसरे, उसे वही लिखना है, जो उन समस्याओं से सम्बन्धित हों। इस कारण से ग्राम्या में ग्राम्य जीवन के कुछ थोड़े से पहलू, वह भी गौण रूप से, आ पाए हैं। अनुभूति-हीनता के लिए यह कोई ठीक बहाना नहीं, जैसे निम्न पद्य में देखें—

यहाँ नहीं शब्दों में बंधती, आदर्शों की प्रतिमा जीवित,
यहाँ व्यर्थ है चित्र गीत में, सुन्दरता को करना संचित।
यहाँ धरा का मुख कुरूप है, कुत्सित गर्हित जन का जीवन,
सुन्दरता का मूल्य यहाँ क्या, यहाँ उदर है क्षुधित, नग्न तन ?

ग्राम्य जीवन का यह तटस्थ अवलोकन है; कवि की करुणा का एक भी कण 'गर्हित-जन' के क्षुधित उदर और नग्न तन के लिए व्यय नहीं हुआ। ऐसे स्थानों पर कवि की तटस्थता उसकी अयोग्यता का ही प्रमाण है। ऐसे पद्य ग्राम्या में बहुत कम नहीं, अतः उन्हें उद्धृत कर सकना भी सम्भव नहीं। ग्राम्या में उत्कृष्ट कविताएँ भी बहुत हैं, और कुछेक तो विशेष भी। इसके प्रकृति चित्रों में मांसलता, वर्णन में एक विचित्र दक्षता और साधारणता तथा चित्रों में सजी-

मता, यथार्थता और ग्राम्यता; पल्लव की नपुंसक और निर्बल कोमलता से कहीं अधिक चित्ताकर्षक है। ग्राम में 'सन्ध्या के बाद' का एक दृश्य देखें—

माली की मँड़ई से उठ, नभ के नीचे नभ की धूमाली,
मन्द पवन में तिरती, नीली रेशम की सी हल्की जाली।
बत्ती जला दुकानों में बैठे सब कस्बे के व्यापारी,
मौन मन्द आभा में, हिम की ऊँघ रही लंबी अँधियारी।
धुआँ अधिक देती है टिन की ढिबरी, कम करती उजियाला,
मन से कढ़ अवसाद श्रांति, आँखों के आगे बुनती जाला।
छोटी सी बस्ती के भीतर, लेन देन के थोथे सपने,
दीपक के मंडल में मिलकर, मँडराते घिर सुख-दुख अपने।
कँप-कँप उठते लौ के सँग, कातर उर क्रन्दन मूक निराशा
क्षीण ज्योति ने चुपके ज्यों, गोपन मन को दे दी हो भाषा।

यहाँ ग्राम मे सन्ध्या की घिरती हुई उदासी का वर्णन है। भाषा भी असलायी और उदासीन-सी, जैसे स्वयं उदासी अपनी कथा कह रही है। वर्णन में कल्पना बस हाथ भर बंटाती है, बाकी सब यथार्थ ही प्रतिबिम्बित है। अन्तिम पद्य तो बहुत ही आकर्षक है। गहन अधकार मे दीपक की लौ का कम्पन कैसा होता है—उससे 'कातर-उर के क्रन्दन' और 'मूक निराशा के कम्पन' में तो व्यंजकता बहुत ही काव्यात्मक है। आगे इस कविता में ही ग्राम पर पूंजीवाद का प्रभाव और सामन्तवादी गतिहीनता से उत्पन्न निर्जीवता को दिखाते हुए पन्त कुछ अधिक गद्यमय हो गए हैं, फिर भी छिछलापन सीमा तक नहीं पहुँचा। अस्तु, एक चित्र गाँव की दीनता का भी देखें—

बृहद् ग्रंथ मानव-जीवन का, काल ध्वंस से कवलित,
ग्राम आज है पृष्ठ, जनों की करुण-कथा का जीवित।
घर घर के बिखरे पन्नों पर, नग्न क्षुधार्त कहानी,
जन-मन के दयनीय भाव, कर सकती प्रकट न वाणी,
मानव-दुर्गति की गाथा से, ओत-प्रोत मर्मान्तक,
सदियों के अत्याचारों की, सूची यह रोमांचक।

यहाँ करुणा यद्यपि तीव्र नहीं, और इसकी हमे आशा करनी भी नहीं

चाहिए, किन्तु फिर भी उसकी हल्की आहट ही यहाँ पीड़ा को काफी गहरा कर रही है। दूसरे पद्य में तो यह बहुत ही गहन हो उठा है। इसी प्रकार—

यह रवि-शशि का लोक, जहाँ हँसते समूह में उड़गन,
जहाँ चहकते विहग बदलते क्षण क्षण विद्युत्प्रभ घन।
यहाँ वनस्पति रहते, रहती खेतों की हरियाली,
यहाँ फूल हैं, यहाँ ओस, कोकिला आम की डाली,
प्रकृति धाम यह, तृण-तृण कण-कण जहाँ प्रफुल्लित, जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण, जीवन-मृत।

सूर्य-चन्द्र-ताराओं के इस नित्य-प्रकाशित प्रदेश में, जहाँ प्रकृति घनी अमराइयों में अपनी सुषमा का वैभव बिखरा देख स्वयं मुग्ध हो उठती है, मनुष्य इस प्रकार क्यों वंचित है? उसका सांस्कृतिक उत्तराधिकार आज उसे क्यों प्राप्त नहीं? 'तृण-तृण, कण-कण जहाँ प्रफुल्लित' हैं वहाँ 'मानव ही चिर विषण्ण, जीवन-मृत' क्यों है? यह विरोधाभास मिटना ही चाहिए।

ग्राम्या में ग्राम्य जीवन के भी कुछ चित्र हैं जिनमें चित्रात्मकता बहुत ही कलात्मक तथा व्यंग्यात्मक हैं। इनमें नृत्यों का स्थान प्रमुख है। ऐसे वर्णन या चित्रण हिन्दी के लिए आज भी अपूर्व हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि ये महान् हैं। पन्त के ये 'नृत्य-चित्रण' काव्य बहुत सजीव हैं, देखें—

उसके पैरों में घुँघरू कल
नट की कटि में घंटियाँ तरल,
वह फिरकी सी फिरती चंचल,
नट की कटि खाती सौ-सौ बल,
लो छन छन, छन छन,
छन, छन, छन छन,
ठुमक गुजरिया हरती मन।

यह काम-शिखा सी रही सिहर, नट की कटि में लालसा-भँवर,
कँप-कँप नितम्ब उसके थर-थर, भर रहे घंटियों में रति स्वर,
फहराता लँहगा लहर-लहर, उड़ रही ओढ़नी फर, फर, फर,
चोली के कन्दुक रहे उभर, (स्त्री नहीं गुजरिया, वह है नर)

इस उद्धरण में ग्रामीणों की कला का अत्यन्त चुभता चित्रण है और 'स्त्री नहीं गुजरिया, यह है नर' में तो उन्होंने उस पर असह्य रूप से कटु व्यंग्य किया है। वास्तव में यह यथार्थ है, किन्तु पहिला सारा वर्णन इस यथार्थ को भी व्यंग्य बना देता है, और फिर यह यथार्थ ही क्या हमारे समाज के प्रति कटु व्यंग्य नहीं ? अब जरा चमारों का नाच भी देखें—

> अररर......
> मचा खूब हुल्लड़ हुड़दंग, धमक धमाधम रहा मृदंग,
> उछल-कूद, बकवाद, झड़प में, खुल रही खुल, हृदय उमंग,
> यह चमार चौदस का ढंग।
> मजलिस का मसखरा करिंगा, बना हुआ है रङ्ग-बिरङ्गा,
> भरे चिरकुटों में यह सारी, देह हँसाता खूब लफंगा,
> स्वांग युद्ध का रच बेढंगा।
> बँधा चाम का तवा पीठ पर, पहुँचे पर मद्धी का हुंटर,
> लिये हाथ में ढाल टँड़ही, मुँहा सी बल खाई सुन्दर,
> इतराता बन वह मुरलीधर।

इसमें भी चित्र खूब उघड़ा है। इन दोनों ही नृत्य-चित्रों के शब्द भी विषय के ही समान ग्रामीण हैं और असभ्य तथा भोंडे भी, जिससे वर्णन में बहुत स्वाभाविकता आ गई है। पन्त की शब्द-कुशलता पल्लव में नहीं, यहाँ अधिक सराहनीय है।

गाँवों में आज भी सभ्यता के पहले काल तक के तत्त्व विद्यमान हैं। ये नृत्य-गीत-सौन्दर्य बोध, शृङ्गार, सामूहिक जीवन की स्थिति तथा विवाह आदि की रीतियाँ न केवल वर्तमान से ही पिछड़ी हुई हैं, सामन्त-युगीन नागरिक प्रगति से भी पीछे हैं। गाँवों में यही नहीं, भूख है, प्यास है, अभाव है और दीनता भी है; और ये ग्रामीण ही हमारे आज के वास्तविक प्रतिनिधि हैं। पन्त ने इस चित्रण में नृत्य और दर्शकों की उमगों को दिखा कर इस असंस्कृत रुचि को उघाड़ कर रख देने का प्रयास किया है। इसमें वे काफी सफल रहे हैं। इन चित्रों का महान् काव्य की दृष्टि से तो कोई स्थान नहीं, किन्तु हमारे जीवन के विशेष पहलू को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत कर सकने के कारण यह सराहनीय है और इसका इसीलिए विशेष स्थान भी है। ऐसे चित्र इसी प्रकार

से पद्यों में ही, प्रस्तुत किये जा सकते हैं, गद्य में नहीं, किन्तु हिन्दी-साहित्य में किसी को अवकाश ही नहीं मिला कि वह इस ओर ध्यान दे, इसलिए इनका महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। इसी प्रकार 'कहारों का रुद्र नृत्य' भी ग्राम्या में है, किन्तु वह अच्छा नहीं बन पाया, इसमें वे कुछ दार्शनिक रूप में ही वर्णन करने लगे हैं, जिससे नृत्य का हुल्लड़,हुड़दंग चित्रित नहीं हुआ। एक पद्य देखें—

> रङ्ग रङ्ग के चीरों से भर, अंग चीर वासा से,
> दैन्य शून्य में अप्रतिहत जीवन की अभिलाषा से,
>
> * * *
>
> हुलस नृत्य करते तुम अटपट, पर पद्-पद, उच्छृङ्खल,
> आकांक्षा के समुच्छ्वसित, जन-मन का हिला धरातल।
> फड़क रहे अवयव-आवेश-विवश मुद्राएँ अंकित,
> प्रखर लालसा की ज्वालाओं सी अंगुलियाँ कंपित।
> उष्णदेश के तुम प्रगाढ़ जीवनोल्लास से निर्भर;
> बर्हभार उद्दाम कामना के से खुले मनोहर।

यहाँ दूसरी, चौथी और सातवीं पंक्तियाँ शिथिल और दार्शनिक हैं, सातवी तो निरर्थक भी है, क्योंकि उष्ण देश के जीवनोल्लास से वे वंचित हैं और ग्राम्या का भी यही दृष्टिकोण है। इसी प्रकार

> खोल गए संसार नया तुम मेरे मन में क्षण भर

इसमें भी वही रोमांटिक फिलासफी ही है। वास्तव में चाहे उनके हृदय मे उनसे जन-संस्कृति का सौन्दर्य-स्वप्न जागृत हुआ हो, किन्तु यहाँ तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे इसे उचित और आवश्यक समझते हों और महसूस न करते हों। ऐसे और भी अनेक पद्य हैं।

इसी प्रकरण में यद्यपि कुछ भिन्न रूप से, ग्राम-वधू का भी स्थान है। इसे लेकर पन्त को काफी भला-बुरा कहा गया है, क्योंकि इसमें पन्त ने यथार्थ का वह रूप ही सामने रखा है जो मधुर नहीं, जब कि यथार्थ का एक दूसरा पहलू भी था। हमारा सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व शकुन्तला का चतुर्थाङ्क ही कर सकता है, पन्त की ग्राम-वधू कविता नहीं। काव्य की दृष्टि से भी गृह-वियोग की उस

मधुर विह्वलता में जो महत्ता और उदात्तता है वह इसमें सम्भव ही नहीं; उसमें हमारी पारिवारिक संस्कृति और दुहिता का बाबुल (पिता), भाई और माता, से सम्बन्ध, नैहर से प्यार बहुत ही मधुर और गौरवपूर्ण है। यह उदात्तता जब केवल रूढ़ि रह गई हो, जैसे प्रताप के वंशजों का भूमि-शयन, तब ? पन्त यहाँ यही दिखाने बैठे हैं; इनका प्रकरण ही भिन्न है। इसलिए शकुन्तला का गृह-वियोग यहाँ संगत ही न होता। इसलिए वे इस मधुरता के मोह को छोड़ कर इस हृदय-शून्य प्रथा पर ही चोट कर रहे हैं—

भीड़ लग गई सो स्टेशन पर,
सुन यात्री ऊँचा रोदन-स्वर,
झाँक रहे खिड़की से बाहर,
  जाती ग्राम वधू पति के घर।
चिन्तातुर सब, कौन गया मर,
पहियों से दब, कट पटरी पर,
पुलिस कर रही कहीं धर पकड़,
  जाती ग्राम वधू पति के घर।

सूरदास के प्रेम-लीला के गीत स्पृहणीय हैं, किन्तु नाथूराम शंकर की मूर्ति-पूजा पर चोट भी काव्य-दृष्टि से या सांस्कृतिक दृष्टि से भी, खीझने योग्य नहीं, शकुन्तला का चतुर्थ अंक मधुर है, किन्तु पन्त की ग्रामवधू भी अवांछनीय नहीं। ऐसी कविताओं के लिए तो सहानुभूति की बात भी नहीं उठाई जा सकती, क्योंकि इन प्रथाओं पर तो प्रहार कर ही इन्हें समाप्त किया जा सकता है। एक पद्य और देखें जो अत्यन्त तीक्ष्ण है—

नहीं आँसुओं से तर अंचल,
* * *
होती वह रोने का अवसर,
* * *
लो अब गाड़ी चल दी भर भर,
बतलाती धनि पति से हँस कर
जाती ग्राम वधू पति के घर।

मैं नहीं समझता कि यह यथार्थ नहीं और इस पर मधुरता और आध्यात्मिकता का मोह छोड़ कर चोट नहीं करनी चाहिए, किन्तु ऐसी कविताएँ काव्य के महत्व की नहीं होतीं।

आज पूँजीवादी अन्तर्विरोधों के कारण हमारे समाज में जो नैतिक मूल्य निर्धारित हो गए हैं, जो व्यक्ति और समाज को दो भिन्न और कभी-कभी विरोधी भी, चेहरों के रूप में ला खड़ा करते हैं, उससे व्यक्ति में आज एक द्वंद्व-ग्रंथि उत्पन्न हो गई है, जो उसकी मानसिक शिथिलता और रुग्णता का कारण बनती है। इस पर भी पन्त ने वज्र-प्रहार किया है। इसको लेकर उन्होंने हमारी नागरिका पर कुछ व्यंग्य कसे हैं। एक स्थान पर वे ग्रामीण-नारी के प्रति कहते हुए नागरिका के लिए कहते हैं—

कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता,
उद्दीप्त न करता, उसे भाव-कल्पित मनोज।

इसे सकारात्मक वाक्यों में नागरिका के लिए कहा जा सकता है, और पन्त का यही उद्देश्य भी है। 'कृत्रिम-रति की आकुलता' और 'भाव-कल्पित मनोज' हमारे युग की द्वंद्व-ग्रंथि जनित रुग्णता को जितनी गहराई से अंकित कर सके हैं उतना अन्यत्र मिलना कठिन है, कम से कम मैंने नहीं देखा। यह यथार्थ है और इसका अभिधेयार्थ ही वास्तविक अर्थ है, तब भी यह इतना तीव्र व्यंग्य है कि कोई तिलमिलाए बिना नहीं रह सकता। और यह यथार्थ इतना घृणित है कि उस पर चोट होनी ही चाहिए, किन्तु यह पूँजीवाद की उपज होने से उसके साथ ही समाप्त होगा।

इन कविताओं में पन्त ने हमारे गाँवों की परिस्थितियों का आभास देकर हमारे समाज को उनके प्रति उद्‌बुद्ध करने का प्रयास किया है, और इसमें (चित्रण में) आप काफी सफल भी रहे हैं, किन्तु इनका लक्ष्य सामाजिक रीतियाँ ही अधिक हैं, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ नहीं। इसलिए ये सुधारवादी प्रवृत्ति तक ही सीमित रहे हैं। जहाँ कहीं इनका संकेत है भी, वह इतना शिथिल और गौण है कि उससे सामाजिकता की ही प्रतीति होती है। वास्तव में वे आर्थिक परिस्थितियों को समझते ही गौण हैं, जैसा कि इनकी भूमिका से भी ज्ञात होता है।

इन सुधारवादी कविताओं और व्यंग्यों के पश्चात् कुछ फुटकल कविताओं

का स्थान है जिनमे तीन-चार तो निश्चित रूप से काफी सफल हैं। ग्राम्य-जीवन के, प्रभावात्मक चित्रो के अतिरिक्त ग्राम्या में बहुत कम ही कविताएँ शेष रह जाती हैं; इनमे दो-तीन प्रकृति चित्र, भारतमाता तथा राष्ट्रगीत और नक्षत्र इत्यादि कविताएँ विशेष महत्व की हैं। और इनमें पृथक् किन्तु महत्व की कविता ग्राम-युवति है, जिसको लेकर काफी छीछालेदर हुआ है। अनेक छायावादियो ने तो यहाँ तक ताने कसे "नागरिका से हट कर गाँवों की मेड़ों पर क्या इसीलिए भटके थे ?" और बस प्रगतिवादियो के विरुद्ध यह मुहावरा ही बन गया जो उनके लिए बरता जाने लगा। अक्सर आलोचक लिखते "आज कवि मृणाल-कोमल भुज लताओ का आलिंगन छोड कर मजदूरनी के कृश-कर्कश भुजदण्डो मे बँधने की बात कहता है।" यही लोग यानी शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि एक दूसरी बात पन्त के प्रगतिवादी होने (यद्यपि पन्त जी ने प्रगतिवाद को कभी भी नही समझा) पर आक्रोश प्रकट करते हुए कहते हैं, "पन्त के स्वभाव के यह अनुकूल नही, और वास्तव मे आज भी मूलतः वे वही हैं जो पहिले थे।"

जो भी हो प्रगतिवादी मजदूरनी की बाहुओ मे लिपटने को कभी नही भटके थे और न ही पन्त ने 'स्वाद-बदलने' के लिए मृणाल-बाहुओं को छोड़ा था। पन्त की 'ग्राम-युवति' का भी यह अभिप्राय नही है, उन्होने साधारण रूप-चित्रण मात्र किया है जिसमे कुरुचि की कोई आहट भी नहीं। महादेवी को इस पर विशेष आपत्ति है। वे कहती है, "छाया-युग को छाया से आया हुआ यथार्थवादी सौन्दर्य का ऐसा सस्कार लेकर आया जो अपना व्यापक चित्राधार छोड़ कर रीति-युग की सौन्दर्य-दृष्टि से भिन्न नही रह सका।" ऐसी बात भी नही है। छाया-युग की छाया पूँजीवादी नैतिक भावों के विरोधाभासा का ही परिणाम थी जिसमे पूँजीवादी कवि का ही दम घुटा जा रहा था; अचल इत्यादि के यथार्थवाद का यही रहस्य है, और वह वास्तव मे स्वाभाविक भी था। छाया-युग के व्यापक चित्राधार का फूलो-कलियो के चुम्बन मे आत्म-तृप्ति खोजने के अतिरिक्त और कुछ भी अर्थ नही। निराला की 'जुही की कली' तथा 'गीतिका' के अनेक गीत, और प्रसाद के नाटको के बहुत से गीत तथा प्रायः कविताओं मे कली मधुपो की उन्मद नोक-झोंक में चलने वाले निष्ठुर चुम्बन-परिरम्भण वाली छायावादी कविताओ के सामने बेचारी मेडों पर घूमने वाली ग्राम-युवति की क्या मजाल ? क्या फूलों की ओट ही वासनाओ की असामाजिक

अभिव्यक्ति को शिष्ट बना देगी ? महादेवी की यह भी शिकायत है कि 'स्त्री के वात्सल्य का मूल्यांकन न कर उन्होंने उसका शृङ्गारिक वर्णन ही किया है।' स्त्री के वात्सल्य और सहृदयता का अनन्त मूल्य है, किन्तु उसका मूल्य केवल वात्सल्य और सहृदयता ही नहीं, शृङ्गार भी है। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास ने स्त्री के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन क्या नहीं किया ? रहस्यवादी रवीन्द्रनाथ या प्रसाद ने उसके वात्सल्य का कितना वर्णन किया है ?

पन्त ने ग्राम-युवती के चित्रण में उसकी स्वस्थता, चपलता और खुले वातावरण के खुलेपन को ही विशेष रूप से चित्रित किया है। पहिले एक मजदूरनी का चित्र देख लें। इससे अभिप्राय स्पष्ट हो जाएगा—

तुम प्रिय हो मुझे, न छूती तुम को काम-लाज

* * *

यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप-सा तन से।

यहाँ निचली पंक्ति में उसका स्वास्थ्य वर्णित है, जो उसके वातावरण और कर्म निरत जीवन के सौन्दर्य का प्रतीक है, यद्यपि यह यथार्थ नही। इसी प्रकार ग्राम-नारी का भी एक चित्र देखें—

स्वाभाविक नारी-जन की लज्जा से वेष्टित,
नित कर्म-निष्ठ, अंगों की हृष्ट-पुष्ट सुन्दर,
श्रम से है जिसके क्षुधा-काम चिर मर्यादित,
वह स्वस्थ ग्रामनारी, नर की जीवन-सहचर।

यहाँ भी कहीं वात्सल्य नहीं शरीर का ही वर्णन है जो श्रम से पुष्ट कहा गया है, यद्यपि यहाँ कवि का जोर श्रम पर है। ग्राम-युवति में युवती के अंगो का वर्णन भी बड़ी ललित भाषा में है, किन्तु मुझे उसमे लिप्सा और उत्तेजकता यहीं नहीं दीख पड़ी। एक चित्र देखें—

तन पर यौवन सुषमा शाली
मुख पर श्रम-कण, रवि की लाली,
सिर पर धर स्वर्ण-शस्य वाली,
वह मेंड़ों पर आती जाती,

उर मटकाती,
कटि लचकाती,
चिर वर्षातप हिम की पाली,
धनि श्याम वरण
श्लथ मन्द चरण,
अधरों से धरे पकी बाली ।

यहाँ रेखांकित पंक्तियों को देखें; इनमें और ग्राम-नारी से उद्‌धृत पिछले पद्य में क्या अन्तर है, सिवाय इसके कि इसमें एक गति है, और चित्रण में अधिक कुशलता है। 'उर मटकाती, कटि लचकाती', उसके स्वस्थ शरीर का स्वाभाविक वर्णन है, जिसमें यौवन की स्वस्थ अभिव्यक्ति स्वतः फूट पड़ती है। और अन्त में—

रे दो दिन का उसका यौवन,

कहने का अर्थ 'मनुष्य के अनुरंजन के लिए प्राप्त स्वास्थ्य' के मिटने की चिन्ता नहीं

दुःखों से पिस,
दुदिन में घिस,
जर्जर हो जाता उसका तन,

पर ज़ोर है, जो ग्राम्या का प्रकरण है। महादेवी को छायावाद की छायामयता से इतना मोह है कि वे फूलों की ओट में दृप्तवासना का प्रदर्शन ही देख सकती हैं।

ग्राम-युवति कविता में लय की गति, चित्रांकन की कुशलता तथा शब्दों में मधुरता और नृत्यमयता बहुत ही उत्कृष्ट और कलात्मक है। एक चित्र देखें—

उन्मद यौवन से उभर,
घटा सी नव-असाढ़ की सुन्दर,
अति श्यामवरण,
श्लथ मन्द चरण,

इठलाती आती ग्राम-युवति,
वह गज-गति सर्प डगर पर।

निचली पंक्ति की गतिमयता विशेष दर्शनीय है। प्रथम दो पंक्तियों में उसके श्यामवर्ण, उन्मद यौवन तथा मादक सौन्दर्य का चित्र बहुत कलात्मक है। इसी प्रकार उसके सहज-प्राकृतिक-जीवन का भी एक चित्र लें—

कानों में गुड़हल खोंस धवल,
या कुँई, कनेर, लोध, पाटल,
वह हरसिंगार से पट सँवार,
मृदु मौलसिरी के गूँथ हार,
गउओं से करती वन-विहार,
पिक चातक के संग दे पुकार,
वह कुन्द-काँस से, अमलतास से,
आम्र, मौर, सहजन, पलाश से,
निर्जन में रच ऋतु-सिंगार।

इस पद्य में भी ग्राम-युवति का सहज-प्राकृतिक-जीवन ही वर्णित है; इस वर्णन में यदि उसके स्वस्थ अंगों का भी वर्णन हो तो कोई आपत्तिजनक काम नहीं होगा। दो-एक स्थलों पर अंग वर्णन में कुछ अधिकता भी है अवश्य किन्तु वह इतनी खटकने वाली नहीं, कम से कम वह असभ्य तो बिल्कुल भी नहीं। जैसे—

पनघट पर, मोहित नारी नर!—
जब जल से भर भारी गागर,
खींचती उबहनी वह, बरबस—
चोली से उभर-उभर कसमस,
खिंचते सँग युग रस भरे कलश;—
जल छलकाती,
रस बरसाती,
बल खाती वह घर को जाती,
सिर पर घट,
उर पर धर पट।

यहाँ वर्णन में रंगमता कुछ अधिक है; 'उभर-उभर कगमग' तथा 'रंगभरे कलस' में तो यह बहुत अधिक हो गई है। उनका 'रंगभरे' विशेषण अच्छा संकेत नहीं करता, और आज के कवि के लिए तो यह बहुत बड़ी बात है। इस पद्य से सारी कविता को ही बुरा नहीं कहा जा सकता। छायावाद की छाया का नाम लेकर तो इसे कुछ भी कहना हिमाकत है।

ग्राम्या की इस महत्वपूर्ण कविता के पश्चात् नदतटादि पूर्वोक्त फुटकल कविताओं का स्थान है, और कुछ प्रकृति-चित्र भी हैं। 'स्वीट पी के प्रति' कविता काफी स्वीट (मधुर) है, किन्तु इसमें फूल अपनापन खोकर सुकुमार कुलवधू ही बन गया है। शेष प्रकृति-वर्णन की कविताएँ कोई विशेष महत्व नहीं रखतीं।

भारत माता और राष्ट्रगीत दोनों ही कविताएँ काफी अच्छी हैं। भारत माता को यहाँ किसी अप्सरा के रूप में चित्रित नहीं किया गया, जैसा कि प्रायः किया जाता है, और न उसके 'स्पन्दित उरोज उभार' पर घूर्ण होते आँसुओं का ही वर्णन है, जैसा कि पंत कर रहे हैं। वह यहाँ हमारे ग्राम के समान ही शोषित, पराजित और निष्पलित है; उसका आँचल तारकोज्ज्वल नहीं, मलिन और जीर्ण है; कुछ पद्य देखें—

भारत माता, ग्राम-वासिनी,

खेतों में फैला है श्यामल, धूल भरा सा मैला आँचल,
गंगा-यमुना में आँसू-जल, मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी।
तीस कोटि सन्तान नग्न तन, अर्ध-क्षुधित शोषित निरस्त्र-जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन, नतमस्तक तरुतल निवासिनी।

किन्तु ये मूढ़, असभ्य कैसे सज्ञान और सभ्य बनें? प्रगतिवादी पन्त कहते हैं—

पिला अहिंसा स्तन्य-सुधोपम,
हरती जन-मन-भय, भव-तम, भ्रम।

इस कविता में भारत माता की दीनता, परवशता और व्यथा हमारे हृदयों को स्पर्श करती है—इसमें सन्देह नहीं। भारत माता का यह वर्णन भी भाव-वाचक नहीं, यहाँ कोटि-कोटि निरस्त मनुष्यों की आवाज है। राष्ट्रगीत से भी कुछ पद्य देखें—

जन भारत हे।
भारत हे।
समुच्चरित शत शत कण्ठों से
जन-युग स्वागत हे,
सिन्धु-तरंगित, मलय-श्वसित,
गंगा जल ऊर्मि निरत हे,
शरद-इन्दुस्मित अभिनन्दन हित
प्रतिध्वनित पर्वत हे,
स्वागत हे, स्वागत हे,
जन भारत हे,
जाग्रत भारत हे।

यह गीत सामूहिक गान में बहुत आकर्षक प्रतीत होता है। राष्ट्र-गान में जो अन्य विशेषताएँ—देश की महत्ता, उदात्तता, पवित्रता तथा श्रद्धेयता का चित्रण आवश्यक है वे भी इसमें पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। गंगा और हिमालय आदि के द्वारा देश की सीमाएँ भी रखी गई हैं, 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' के समान व्यापकता नहीं। कवि जन-युग, कृषक-श्रमिक युग के द्वारा सुन्दर भावी की ओर भी संकेत करता है, यद्यपि अहिंसास्त्र मे उसकी गाधीवादी धारणाएँ ही स्पष्ट होती हैं।

ग्राम्या के प्राय: अन्त मे नक्षत्र (अपनी कॉटेज के प्रति), आँगन से तथा याद कविताएँ बहुत अच्छी हैं। ये तीनो ही आत्मपरक कविताएँ हैं, अतः इनमें संवेदना अधिक है। नक्षत्र तो इन सब मे उत्कृष्ट है, देखें—

मेरे निकुंज नक्षत्रवास,
इस छाया वन के मर्मर में, तू स्वप्न-नीड़ सा निर्जन में,
है बना प्राण-पिक का निवास।

आती जग की छवि स्वर्ण-प्रात, स्वप्नों की नभ की रजत-रात,
भरती दिशि दिशि में चार वात तुम में वन वन की सुरभि साँस।
तू मुझे छिपाए रह अजान, निज स्वर्ण-मर्म में लग समान,
होगा अग-जग का कण्ठ-गान, तेरे इन प्राणों का प्रकाश।

अपनी एकान्त कुटीर के प्राकृतिक सौन्दर्य में बैठा कवि जब कुटीर और अपने हृदय के सूनेपन का अनुभव करता होगा, उस समय उसका हृदय स्वभावतः अद्वितीय परस्पराश्रितता की अनुभूति से विह्वल हो उठता होगा। इस कविता के मूल में कवि की यह अनुभूति गहरी है। यह स्वर्ण-मर्म का अर्थ समझ में नहीं आया, क्योंकि स्वर्ण मर्म का कोई अच्छा विशेषण प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार आँगन से कविता भी काफी सुन्दर है। एक पद्य लें—

> रोमांचित हो उठे आज नव-वर्षों के स्पर्शों से,
> छोटे से आँगन मेरे, तुम रीते थे वर्षों से।
> जन-निवास से दूर, नीड में वन-तरुओं के छिप कर,
> भू उरोज से उभरे इस एकान्त-मौन भीटे पर।
> एक ओर गहरी खाई में सोया तरुओं का तन,
> केका-रव से चकित, बिखेरे सुख-स्वप्नो का सम्भ्रम।
> हरित भरित वन-नीम उच्छ्वसित, शाखाओं का विह्वल,
> वक्ष-भार हाँ, रहे झुकाए, मेरे ऊपर कोमल।

यहाँ कवि एकान्त-सौन्दर्य मे मुग्ध-सा विश्रान्त भाव से अपने आँगन और चहुँ ओर की प्रकृति-सुषमा को निहार रहा है। यहाँ भी अपने छोटे से आँगन से उसकी आत्मीयता बहुत गहरी है। छोटे से आँगन मे तो करुणा-आँगन के प्रति भी और अपने प्रति भी—थकन के कारण—बहुत ही विह्वल हो उठी है। याद कविता भी लगभग इसी अनुभूति से लिखी गई है और वह काफी सफल है, यद्यपि इनसे कुछ कम।

अब हम ग्राम्या की काव्य-दृष्टि से प्रायः सभी कविताओं को देख चुके हैं। इनमें कुछ उत्कृष्ट, कुछ साधारण और कुछ निकृष्ट कविताएँ भी थी; किन्तु निकृष्ट कविताओं को प्राय. नही लिया गया। इस मूल्यांकन के आधार पर ग्राम्या को सहज ही पल्लव से आगे रखा जा सकता है। ऐसा मैं प्रगतिवादी दृष्टि से नही कह रहा हूँ, क्योंकि इसे मैं किसी भी दृष्टि से एक प्रगतिवादी कृति नही समझता, यह सब मैं काव्य-दृष्टि से ही कह रहा हूँ, ग्राम्या मे बहुत सी कविताएँ सरस, हृदयस्पर्शी हैं, और उनकी यह सरसता पल्लव की कोमल-निर्बल-कल्पनाओ से उत्पन्न सरसता के भ्रम जैसी नहीं। उदाहरणार्थ, छाया कविता हृदयस्पर्शी नही, उसका भ्रम है, क्योंकि उसमें कोई भी कल्पना सगत

नहीं। सरसता का भ्रम वहाँ इसलिए उत्पन्न होता है, क्योंकि वर्ण्य-विषय प्रकृति है और उपमाएँ या उत्प्रेक्षाएँ करुणाजनक या शृङ्गारिक कथाओं से ली गई हैं, अथवा ऐसे उपमान रखे गए हैं जो मधुर रूप में प्रसिद्ध हैं। ग्राम्या में यह बात नहीं है; वहाँ तो कवि को उपमा-उत्प्रेक्षाओं के बिना ही काम चलाना पड़ा है। इसलिए ऐसी कविताओं में सरसता उसकी हृदगत ही है शब्दों या उपमाओं की नहीं। भाषा की दृष्टि से पल्लव बहुत उत्कृष्ट है, क्योंकि उसके शब्दों में कोमलता है; किन्तु ग्राम्या की भाषा भी कम उत्कृष्ट नहीं, क्योंकि उसके शब्दों में एक शक्ति और दृढ़ता है। यह मुकाबला इन दोनों तक, अथवा पन्त-काव्य तक ही सीमित है, अन्यथा ग्राम्या कोई विशेष उत्कृष्ट कृति नहीं है।

इस तरह युगवाणी और ग्राम्या की पृष्ठभूमि प्रगतिवादी नहीं है, इसका इस दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। शायद बहुत से आलोचक इस पर हँसेंगे और कहेंगे कि अन्य प्रगतिवादियों की तरह यह भी मार्क्स के विचारों का कविता मे अनुवाद चाहता है। मैं इसे बुरा नहीं समझता। मार्क्स के विचारों की भी एक परम्परा है; उस दृष्टिकोण से अनुभूत वस्तु-सत्य या भाव-सत्य जब अभिव्यक्ति पाएगा, तभी उसे प्रगतिवादी कहा जा सकेगा, अन्यथा नहीं।

पन्त किधर ? | चन्द्रबली सिंह

पंत की युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या रचनाओं को देखकर कुछ लोगों को यह भ्रम हो चला था कि वे मार्क्स के क्रान्तिकारी दर्शन को अपनाते जा रहे हैं। उनकी आँखें अब उनकी स्वर्ण-किरण को देखकर खुल जायँगी। छायावाद अपना काम पूरा कर चुका था, उसे केवल कल्पना के सहारे जीवित रखना असंभव था और इतिहास की माँग थी—इसीलिए पंत ने छायावाद को पृथक कर दिया, किन्तु अपने अतीत से वे सम्बन्ध-विच्छेद न कर सके। इसीलिए वे समन्वयवादी ही बनकर रह गये। यह प्रक्रिया केवल उन्हीं के विषय में नहीं है; अनेक छायावादी कवियों और आलोचकों के साथ भी वही घटना घटी। महादेवी ने लिखा —"स्थूल की गहराई का अनुभव करनेवाला देहात्मवादी मार्क्स भी अकेला ही है और अध्यात्म की स्थूलगत व्यापकता की अनुभूति करनेवाला अध्यात्मवादी गाँधी भी।" परन्तु हम हृदय से जानते हैं कि अध्यात्म के सूक्ष्म और विज्ञान के स्थूल का समन्वय जीवन के स्वस्थ और सुन्दर बनाने में भी प्रयुक्त हो सकता है।" स्वयं पंत ने लिखा—"मैं अध्यात्म और भौतिक, दोनों दर्शनों के सिद्धांतों से प्रभावित हुआ हूँ। पर भारतीय दर्शन की—सामन्तकालीन परिस्थितियों के कारण—जो एकांत परिणति व्यक्ति की प्राकृतिक मुक्ति में हुई है, और मार्क्स के दर्शन की—पूँजीवादी परिस्थितियों के कारण—जो वर्गयुद्ध और रक्तक्रांति में परिणति हुई है—ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।" शांतिप्रिय द्विवेदी ने इसको इस प्रकार कहा है—"पंत वैज्ञानिक गाँधीवाद अथवा आध्यात्मिक मार्क्सवाद चाहते हैं।" स्वयं शांतिप्रिय द्विवेदी इन दोनों के सामंजस्य से एक नयी कला के उपक्रम की संभावना में विश्वास करते हैं और उसका नाम ललितवाद रखते हैं। समाजवाद को एक नयी

संस्कृति या संस्कृति-मात्र भी वे मानने को तैयार नहीं; बल्कि उसे एक सीढ़ी भर मानते हैं गाँधीवाद तक पहुँचने के लिए। उनके हिसाब से मानव के मनोविकास का क्रम यह होगा— (१) समाजवाद की वाह्य गति, (२) छायावाद की बहिरन्तर गति, और (३) गाँधीवाद की आन्तरिक गति। प्रगतिवादी युग में अशन-वसन की चिंता से निश्चिन्त हो जाने पर मन की रागात्मक समस्याओं में फिर किसी छायावाद का जन्म होगा।

पंत की स्वर्ण-किरण को देख यदि शांतिप्रिय द्विवेदी उछल पड़े हों तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि ललितवाद के विषय में की हुई उनकी भविष्यवाणी इस रचना में सच बन गयी है। उनसे भी कहीं अधिक उछल पड़े हैं श्री इलाचन्द्र जोशी जो प्रायः दस साल पहले एक दूसरी भविष्यवाणी कर चुके थे—"मेरी यह धारणा है कि वर्तमान युग का विश्वव्यापी ध्वस्त-विध्वस्त तथा छिन्न-भिन्न जीवन जिस घोर अशांति तथा अस्थिरता से ग्रस्त है उसे कभी प्रगतिवादी नामधारी प्रतिक्रियात्मक प्रतिभा के विद्रोह से स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकती।" उनके अनुसार संसार को उपचार के लिए फ्रायड के पास जाना होगा। पंत की इस नयी प्रतिभा पर मुग्ध होकर उनका कहना है—"हमें सचेत रूप से मानवीय अवचेतना के अगाध सागर का मंथन करना होगा, और उस मंथन के फलस्वरूप जो सूक्ष्म भाव-सत्य उठेंगे उनका विश्लेषण एक अनुभवी रासायनिक की तरह करके उनके द्वारा व्यक्ति तथा समाज का सुसंयोजित कल्याण-पथ निर्देश करना होगा।" इस प्रकार हम देखते हैं कि गाँधीवादी, फ्रायडवादी और अरविन्दवादी सभी एक ही केन्द्र पर आ मिलते हैं। अवश्य ही इन तीनों दर्शनों में कोई मौलिक एकता है, संसार की विषमताओं के समाधान का कोई एक ही सदेश है। इस एकता का रहस्य एक गाँधीवादी और एक फ्रायडवादी के कथनों से स्पष्ट हो जायगा। जोशी की नयी प्रगतिशीलता (समन्वयात्मक प्रगतिवाद) यह कहती है—"वर्तमान युग में व्यष्टियों तथा समष्टियों के भीतर समान रूप से जो विरोधाभास, जो संघर्ष, जो स्वयं तथा पर को छिन्न-भिन्न करनेवाली द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियाँ चल रही हैं, उनसे मुक्ति पाने का एकमात्र निश्चित उपाय है अंतर्प्रगति तथा वाह्य-प्रगति की धाराओं का संतुलनात्मक समन्वय।" इन सब समन्वयवादियों का सिद्धान्त अगर मान लिया जाय, तो इसका अर्थ यह होगा कि समाजवाद के लिए किसी सामूहिक संघर्ष या क्रांति की कोई आवश्यकता नहीं; हर व्यक्ति अपने मनोविकारों को स्वस्थ

और युद्ध कर ले, फिर दुनिया सुधर जायगी। फ्रायड के व्यक्तिप्रधान मनोविज्ञान और अरविन्द के महामानव के दर्शन में इस दृष्टिकोण से कोई अन्तर नहीं रह जाता। इन समन्वयवादियों के विचार में जैसे आज की आर्थिक परिस्थितियों का सामाजिक प्राणी के मनोविज्ञान के निर्माण में कोई हाथ ही नहीं। ये इसका विचार ही नहीं करते कि फ्रायड का मनोविज्ञान वास्तव में पूँजीवादी समाज की विषम आर्थिक परिस्थितियों का मनोविज्ञान है। पंत के नये रूप को हमें इसी दृष्टिकोण से देखना होगा और साथ-ही-साथ यह भी याद रखना उचित होगा कि इस प्रकार का स्खलन कोई हिन्दी के कुछ साहित्यिकों में ही दृष्टिगत नहीं, वरन औरों में भी होता है। अंगरेजी के प्रगतिशील कवि ऑडेन धीरे-धीरे फ्रायड की ओर खिंच गये हैं। और उनके विचार मे आज की समस्या आर्थिक नहीं, मनोवैज्ञानिक है।

आज के पंत कुछ ऐसे ही बदले हुए रूप में आये हैं। पूरे मार्क्सवादी तो वे कभी न थे और जनभीरु होने के कारण शोषित जनता के प्रति उनकी सहानुभूति केवल बौद्धिक थी; किन्तु स्वर्ण-किरण में तो उनका कायाकल्प ही हो गया है। अब वे ग्राम्या की इन पंक्तियों से नाता तोड़कर एक दूसरी ही जगह आ पहुँचे हैं :—

ललकार रहा जग को भौतिक विज्ञान आज,
मानव को निर्मित करना होगा नव समाज।—

अथवा—

आज पर, जग जीवन का चक्र
दिशा गति बदल चुका अनिवार,
सिंधु में जनयुग के उद्दाम
उठ रहा नव्य शक्ति का ज्वार !
आज मानव जीवन का सत्य
धर रहा नये रूप आकार
आज युग का गुण है—जन-रूप,
रूप-जन संस्कृति के आधार !
स्थूल, जन आदर्शों की सृष्टि
कर रही नव संस्कृति निर्माण,

स्थूल—युग का शिव, सुन्दर, सत्य,
स्थूल ही सूक्ष्म आज, जन-प्राण !

आज पंत के सामने न तो जनता की नव्यशक्ति का ज्वार है और न स्थूल-युग का शिव, सुन्दर सत्य है। आज तो स्वर्ण-किरण में उनकी विचार-धारा समाज और संघर्ष से हटकर व्यक्ति की ओर है—

व्यक्ति विश्व में व्यापक समता
हो जन के भीतर से स्थापित।

अथवा—

जनमत के विकास पर निर्भर सामाजिक जीवन निश्चित।

इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन करने की जगह उनका संदेश है व्यक्ति के उठने का। इसी नुसखे से राजा भोज और भोजवा तेली बराबर हो जायेंगे। सामाजिक क्रांति की आवश्यकता क्या है, व्यर्थ का रक्तपात क्या है ?

ग्राम्या में गाँव के शोषित बुड्ढे किसान की आँखों पर उन्होंने लिखा था—

अंधकार की अतल गुहा-सी
अह, उन आँखों से डरता मन
वर्ग-सभ्यता के मंदिर के
निचले तल की वे वातायन !

अब राम स्वर्ण-किरण में स्वर्ण-चेतना के प्रतीक हैं और उनके विषय में उन्होंने लिखा था—

श्री राम रहे सामंत काल के ध्रुव प्रकाश,
पशुजीवी युग में नव कृषि संस्कृति के विकास !
कर सके नहीं वे मध्य युगों का तम विनाश,
जन रहे सनातनता के तब से क्रीतदास !

आज उनके उठने में न तो वर्ग-सभ्यता से घृणा है और न सनातनता से। वह इन दोनो की पुष्टि करती है। अब उनका समाज-निर्माता, युग-युग का शोषित और जगा हुआ साधारण मानव नहीं, वह योगी अरविन्द का महामानव

है। इलाचन्द्र ने स्वर्ण-किरण में एक नये वाद (पतवाद) को सिद्ध करने का प्रयत्न तो बहुत किया है, किन्तु जैसा कि उनके साथ बहुधा होता है, वे जोशी-वाद की रूपरेखा सामने रखने लगते हैं और इसमें फ्रायड और योगी अरविन्द एक कर दिये गये हैं। जहाँ तक पंत की विचार-धारा का प्रश्न है वह योगी अरविन्द के महामानव के सिद्धान्त के स्वर पर तिरती कुछ टुकड़ियों से भिन्न और कोई वस्तु नहीं। उस उर्ध्व चेतना का पंत इस प्रकार स्वागत करते हैं—

दीप शिखा-सी जगे चेतना
मिट्टी के दीपक से उठकर
तैल धारवत् मर्म स्नेह पा
स्वर्ण विभा से दे भूतल भर !—

अथवा—

ऊर्ध्व चेतना को चलना भू पर धर जीवन के पग
समदिक् मन को पंख खोल चिद् नभ में उठना व्यापक

और स्थूल-युग का शिव, सुन्दर, सत्य गाने के स्थान पर वह फिर अमूर्तता की ओर झुक पड़े हैं —

चिर अमूर्त ही भव में मूर्तित
वह अज्ञेय, स्वतः संचालित, एक, अखंडित !

इसी चिर अमूर्त और ऊर्ध्व चेतना के आधार पर उनका विश्व-संस्कृति की एकता का स्वप्न टिका है। प्रतीक के हेमन्त अंक में अपने रचना-काल पर लिखते हुए, स्वर्ण-किरण के विषय मे उनका यह कहना है—स्वर्ण-किरण में मैंने पिछले युगो मे जिस प्रकार सांस्कृतिक शक्तियों का विभाजन हुआ है, समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसमे पाठको को विश्व-जीवन एवं धरती की चेतना सम्बन्धी समस्याओ का दिग्दर्शन मिलेगा। भिन्न-भिन्न देशों और युगों की संस्कृतियो को विकसित मानववाद मे बाँधकर भू-जीवन की नवीन रचना की ओर सलग्न होने का आग्रह किया है।" यह समन्वय-वाद इतिहास की आवश्यकता से कितनी दूर है यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि एक समय पंत से कहीं अधिक बड़े ब्रह्मवादी और उसी के द्वारा क्रांति

का स्वप्न देखनेवाले निराला बाद में संघर्षवादी बन गये थे। उनकी इधर की रचनाओं में वर्ग-सभ्यता के प्रति विद्रोह और संघर्ष की चेतना बाढ़ में उमड़ी हुई नदी की भाँति दहाड़ती है। जो चीज उन्हें अपने ब्रह्मवादी दर्शन से न मिली वह उन्हें जीवन से मिली और दर्शन तथा जीवन के द्वन्द्व में उन्होंने जीवन को अपनाया। यही कारण है कि अपने दर्शन के बावजूद वे दिन-प्रतिदिन अधिक ओजस्वी वाणी बोलते गए, अमूर्त से मूर्त की ओर खिंचते आये, समन्वय से संघर्ष की ओर। पंत की आँखों से जीवन की पीठिका ओझल होती गयी। इसलिए उनकी आध्यात्मिकता समाजवाद में समाजवादिता एक आवरण-मात्र है और आध्यात्मिकता का अर्थ है प्रतिक्रिया।

निश्चय ही पंत अब उस स्थान पर भी नहीं रह गये, जहाँ वे छायावाद के युग में थे—समाजवाद, विश्व-संस्कृति, जन-जीवन इत्यादि शब्दों के स्वर्ण-किरण में आ जाने से। इलाचन्द्र जोशी ने यह सिद्ध करने के लिए कि स्वर्ण-किरण में पंत की चेतना के अणु का क्रांतिकारी स्फोट हुआ है, उनके छायावाद युग को छाया में डालते हुए लिखा है कि तब अवचेतना-लोक में उत्सारित रत्नच्छाया की तरह इन्द्रधनुषी रंगीनी और मधुमादक स्वप्नों की प्रतिच्छवि अज्ञात ही रूप से चित्रित हुई है। विजनवती के लेखक के विषय में शायद ये बातें सच हैं, किन्तु छायावाद की यह परिभाषा उसके प्रगतिशील कार्य के महत्त्व को छिपा देती है। स्वयं पंत की उस काल की रचनाओं में स्वच्छन्दता, मुक्ति और जागरण की भावनाएँ काफी उभर आती हैं—

हम जगती के नियमों पर
अनियम से शासन करते। —पल्लविनी

अथवा—

तू ने ही पहले बहुदर्शिनि!
गाया जागृति का गाना
श्री सुख सौरभ का नभ-चारिणि!
गूँथ दिया ताना बाना! —पल्लविनी

अथवा

मेरे मधुर गान में अविकल
सुमुखि! देख लो दिव्य स्वप्न-सा
जग का नव्य प्रभात! —पल्लविनी

अथवा

मुक्त गगन है जग जीवन का
उड़े खोल इच्छाओं के पर,
हो अपार उड़ने की इच्छा,
है असीम जग का अम्बर ! 　　—पल्लविनी

यह व्यक्तिवाद, उद्दाम वासना और जीवन की तृषा उन तत्कालीन बन्धनों के प्रति हैं, जो सामंतकाल के अवशेष के रूप मे चले आ रहे थे। छायावाद के इस पहलू की उपेक्षा कर उसे अन्ध अन्तर्मुखीनता कहकर सतोष करने से काम नही चल सकता। इसलिए यह स्पष्ट हो गया कि जिन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सस्थाओ के प्रति विद्रोह की यह प्रेरणा छायावादियो में जगी थी, पन्त का आध्यात्मिक समाजवाद आज उन्ही सस्थाओ का समर्थन करता है। मनश्चेतना चूर्ण की इस घनघोर वर्षा ने बस उन्ही के लिए उर्वर भूमि तैयार की है।

इस उर्ध्व-चेतना के प्रतीको पर भी ध्यान रखना आवश्यक होगा। ऋषियो ने भी ब्रह्म और आत्मा के मिलन की समता सभोग से की है, लेकिन वे पंत की भाँति नारी के सौन्दर्य मे रम नही गये हैं। कहीं-कही तो यह कहना आसान नही कि कवि की प्रतिभा इस उर्ध्व चेतना से अथवा नारी की नगी जाँघो या उनके माणिक सर मे स्वर्ण वाष्प का घन लटका देखकर मुग्ध है। यहाँ पर रीतिकालीन कवियो को पन्त ने उन्ही के मैदान मे पछाड़ दिया है। हमे यह आश्चर्य होता है कि कैसे कालिदास का यक्ष मेघ से यह कहता है—

प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातस्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।

इस जीवन-दर्शन को अलग रखकर यदि पन्त की नयी ललितयावी कला की ओर मुड़ा जाय तो और भी अनोखी चीजें मिलेंगी। हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों में शायद वे ही पहले हैं, जिन्होने भावो को पद्य मे गद्य का रूप देने में इतनी अधिक सफलता पायी है। स्वर्ण-किरण की कविताओं में कहाँ तक जीवन के सत्यों को पत ने हृदय के माध्यम से ग्रहण किया या सँवारा है। इस सारे अनोखेपन में केवल ह्रास के चिह्न है। ऐसा जान पड़ता है कि पत मे अब आग नहीं रह गयी। केवल राख को फूँक-फूँक कर वे उसे फिर दहकाना चाहते हैं।

इस प्रयास मे भले ही एक-दो चिनगारियाँ उड़ जायँ, किन्तु साथ ही राख के तो बादल छा जायँगे। इन कविताओं में जीवन कहाँ से आता जब इनमे आज के समाज और जीवन की नसों में बहता हुआ रुधिर ही नहीं है। स्वर्ण-किरण में शब्दों को उनकी गरदन पकड़-पकड़कर कविता की पंक्तियों में बैठने के लिए बाधित किया गया है। शब्द मानो कवि के अधिकार से बाहर चले जा रहे हों, उसके हाथों से फिसलते जा रहे हों। एक दूसरे संदर्भ में कही गयी स्वयं पंत की स्वर्ण-किरण की ये पंक्तियाँ उनकी स्थिति पर प्रकाश डालती हैं—

खो गया जीवन-रस
रहस स्पर्श
सृजन का मुक्त रभस
निखिल-हर्ष !

उनकी प्रतीक-गाथा अशोक-वन को ही लीजिए। स्वर्ण-किरण की विचार-धारा को ही अशोक वन की कथा का प्रतीकत्व दिया गया है। जन-मंगल की मूर्ति सीता, धरती की आकांक्षा सीता, वह सीता जिसकी काया जग-जीवन है, चिद्-शक्ति सीता, अशोक-वन में रावण की तामसी माया मे नही आती और दानवों का विनाश होता है। उनका मिलन राम से होता है और जन-मंगल के बाँध खुल जाते हैं। रावण भौतिक-शक्ति का चरम प्रतीक है, वह दानव है। रघुपति उस दानव का नाश करते हैं, जो यह समझता था कि—

निखिल भुवन इस अचित् शक्ति की
सृजनशीलता पर बलिहारी !

लंका का राज्य फिर विभीषण या भौतिक शक्ति को दे दिया गया; क्योंकि विभीषण की भौतिकता में आध्यात्मिकता है। अब लंका में स्वर्ण की मोहकता दूर होकर ज्योति का प्रवेश होता है—

लंकापति की मूर्ति गई गल
सजल हिरण्य शेष अब पावन !

और अब—

मनुज जाति मर्यादा पथ पर
देवि, चलेगी बन प्रभु अनुचर।

इस प्रकार मेघनाद के शब्दों में—

सद् विकास का बीज, असद् भी
इस जग में परोक्ष है कारण !

अथवा यही इलाचन्द्र जोशी के शब्दों में मानवीय अवचेतना ज्योतिर्मयी उषा भी है अन्धकारमयी कालरात्रि भी। यदि सामूहिक मानव जीवन वास्तविक स्वर्गिकता की स्थापना करना चाहता है तो अवचेतन लोक के उसी नारकीय अन्धकार की यथार्थ मिट्टी के आधार पर ही यह हो सकता है। उस अन्धकार के ठोस आधार के बिना केवल किसी हवाई किले की ही स्थापना हो सकती है।

यह है अशोक वन की प्रतीकात्मकता। यदि कवि के लिए यह एक विशाल और जीवन्त समस्या है तो आशा की जा सकती है कि ऐसी समस्या की उद्भावना में काव्य तथा जीवन के उपकरणों को उसी विशाल मापदण्ड पर एकत्र और प्रयुक्त किया जायगा।

स्वर्ण-किरण बहुत पूर्व के एक जीवन्त कवि का अवशेष है। उसकी घायल प्रतिभा कहीं-कहीं रुधिर के निशान छोड़ गयी है।

विचारक कवि पन्त | रामधारी सिंह 'दिनकर'

पन्त के अनेक काव्य-ग्रन्थों में से पल्लव और गुंजन, ये दो ग्रन्थ ऐसे हैं जो सबसे अधिक पढ़े गये हैं। आग की पहली लपट कुछ ज्यादा खुबसूरत होती है। ज्यों-ज्यों कवि आगे बढ़ता है, उसके अंगारे तो तेज होते जाते हैं, किन्तु, लपटों की रंगीनी मन्द पड़ती जाती है। सरस्वती की जवानी कविता और बुढ़ापा दर्शन है। और काव्यरसिक जनता की रुचि दर्शन में कम, कविता में अधिक हुआ करती है। इस नियम की चोट पन्त-काव्य को भी सहनी पड़ी है, क्योंकि सहृदय पाठकों ने युगान्त अथवा ग्राम्या तक पंत जी को जिस उत्साह से पढ़ा, उस उत्साह से वे उनकी युगान्त के बाद की रचनाओं को नहीं पढ रहे हैं। और विचित्रता की बात यह है कि केवल पाठकों ने ही नहीं, पंडितों और आलोचकों ने भी युगान्त के बाद के पंत-काव्य पर बहुत ही कम ध्यान दिया है। अभी भी पंत-काव्य के विशेषज्ञ का लक्षण यह है कि वह पल्लव और गुंजन को भली भाँति पढ़े होता है।

हर्ष की बात है कि मित्रों के इस अधूरे प्रेम का पंत पर कोई अनिष्टकारी प्रभाव नहीं पड़ा। इससे उनकी प्रेरणा पर कोई चोट नहीं पहुँची, न वे यह सोच कर कभी दुःखी हुए हैं कि वे जिनके बीच रहकर काव्य-रचना कर रहे हैं, उनमें से अधिकाश लोग बहरे नहीं, तो अधबहरे जरूर हैं। युगान्त के बाद, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्णधूलि, स्वर्णकिरण, उत्तरा, रजतशिखर, शिल्पी, अतिमा और सौवर्ण, एक के बाद एक, इन नौ संग्रहों का प्रकाश में आना यह बतलाता है कि कवि की कविसुलभ लोकैषणावाली वृत्ति गौण हो गयी है एवं अब वह जो कुछ लिख रहा है उसकी सारी प्रेरणा उसकी अन्तरस्थ आस्था से आती है और प्रशंसा तथा वाहवाही भी अब वह बाहर से नहीं, अन्तरस्थ देवता के ही

मुख से चाह रहा है। ये सवाल अत्यन्त श्रेष्ठ चिन्तक के हैं और, सचमुच ही, पन्त के साथ तब न्याय तभी हो सकता है जब आलोचक उन्हें कवि नहीं, चिन्तक-कवि के रूप में देखें। कवित्व चिन्तन से श्रेष्ठ होता है और अपेक्षया निरापद भी। कविता ऐसी भी लिखी जाती है जो सारे विचारों से तटस्थ रहकर पाठकों का मनोरंजन करती है और, इसीलिए, प्रायः, उसके शत्रु नहीं होते। हाँ, उनकी बात और है जो कविता से नहीं, कवि के व्यक्तित्व से चिढ़ा करते हैं। किन्तु, जो व्यक्तित्व से नहीं चिढ़ते, वे भी विचारों से चिढ़ जाते हैं। सबसे भयानक लड़ाइयाँ उन्हीं किलों के लिए लड़ी जाती हैं जो हवा में अवस्थित हैं। पन्त के हवाई किले को लेकर जो कुछ हुआ वह लड़ाई तो नहीं थी, हाँ, उसे हम इकतरफा प्रहार कह सकते हैं। प्रहार करने वाले लोग अब किले पर से लौट गये हैं। शायद, उन्हें यह सन्तोष है कि किला टूट गया। किला टूटा नहीं, वह दिन-दिन मजबूत होता जा रहा है। स्वर्ण-किरण के बाद उत्तरा, रजतशिखर, शिल्पी और अतिमा उसी किले के नये परकोटे नहीं तो और क्या हैं?

पंत का यह वैचारिक कोट है क्या चीज ? पल्लव और गुंजन की झिलमिल छाँह से बाहर निकलने के बाद से लेकर अब तक वे किस साधना में लगे हुए हैं ? और वह प्रेरणा कौन-सी है जो आलोचकों की चुप्पी के बीच भी उन्हें निरन्तर कार्यशील रख रही है ? अवश्य ही, बाहर से किसी भी चीज की आशा लगाये बिना अपना सारा आनन्द अपने ही भीतर से पाने की प्रेरणा किसी बड़े उद्देश्य से आती होगी। और मेरी तुच्छ सम्मति में पंत के सामने जो उद्देश्य है वह बहुत ही महान है और जिस लगन के साथ वे उसे मूर्त्त करने में लगे हुए हैं, उस लगन के साथ केवल वे ही कवि और विचारक अपने ध्येय की सेवा करते हैं जो, सचमुच, महान हैं, जो केवल सुयश के लिए नहीं, जीवन को प्रभावित और परिवर्तित करने के लिए काम करते हैं।

इस उद्देश्य की व्याख्या के पूर्व यह विचिकित्सा आवश्यक दीखती है कि पन्त कवि से विचारक कब बने और उनके विचार बारी-बारी से बदले हैं अथवा उनका विकास एक ही दिशा में होता आया है।

वर्गीकरण की सुविधा के लिए समस्त काव्य का विभाजन रूप-काव्य और विचार-काव्य नाम से किया जा सकता है। तब भी प्रत्येक रूप-काव्य के भीतर विचार और प्रत्येक विचार-काव्य के भीतर रूप का अंश शेष रहता है। फिर

भी यह कहा जा सकता है कि वीणा, ग्रन्थि और पल्लव,—ये रूपकाव्य के उदाहरण हैं। उनकी सारी महिमा रूपचित्रण की महिमा है और इससे यदि कुछ भिन्न सौन्दर्य है तो वह भावनाओं का सौन्दर्य है और भावनाएँ विचार से कुछ भिन्न होती हैं। पंत का विचारक-रूप पहले-पहल ज्योत्स्ना में दिखायी पड़ा था, किन्तु ज्योत्स्ना के बाद जब गुंजन प्रकाशित हुआ, उसमें फिर महत्ता रूप की ही दिखाई पड़ी, यद्यपि गुंजन की आरम्भिक कविताओं में कुछ विचार भी हैं। ये विचार ऐसे नहीं थे जिनसे कवि के चिंतक-रूप की प्रमुखता व्यंजित होती हो। उनसे केवल इतना ही पता चलता था कि कवि कल्पना से उतर कर पृथ्वी पर आ रहा है और अब उसकी रुचि कर्मठ जीवन-दर्शन की ओर है। यह सन् १६३२ ई० की बात है जिस वर्ष गुंजन का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था।

तब सन् १६३६ ई० में युगान्त निकला। युगान्त ने इतिहास के एक युग का अंत भले ही संकेतित न किया हो, किन्तु उससे कवि के अपने जीवन का एक युगान्त अवश्य सूचित हुआ; क्योंकि यही वह काव्य है जिसमें कवि की दृष्टि, निश्छल रूप से, पहले-पहल सपनों से निकल कर सत्य की भूमि पर आ गयी। कवि अपने आरम्भ-काल में शैली अथवा कल्पना की जिन रंगीनियों पर आसक्त हो जाता है उनमें से कुछ रंगीनियाँ अन्त तक उसके साथ रहती हैं। पंत की ऐसी आसक्ति परियों के देश पर हुई थी और, तदनुसार परियों के देश का वातावरण घूम-फिर कर अब भी उनकी रचनाओं में आ जाता है। अब ये लक्षण अवान्तर हो गये हैं। पन्त-काव्य में महत्त्व अब परियों के देशवाले वातावरण का नहीं, उन विचारों का है जो एक के बाद दूसरी पुस्तक में उत्तरोत्तर निखरते जा रहे हैं।

पंत के पल्लव वाले रूप से भिन्न, युगान्त में ऐसी कई बातें थीं जिनसे उनके प्रेमी पाठक उस समय चौंक उठे थे। पंत तब तक अमिश्रित सौन्दर्य के कवि माने जाते थे। किन्तु युगान्त में उनकी क्रान्तिकारी और सुधारवादी प्रवृत्ति दिखाई पड़ी।

> झरें जाति-कुल-वर्ण-पर्ण घन, अंध-नीड़-से रूढ़ि-ग्रसित छन,
> व्यक्ति-राष्ट्र-गत राग-द्वेष-रण, झरें, मरें विस्मृति में तत्क्षण।
> गा, कोकिल, बरसा पावक-कण।

पल्लव के कवि को यह पता नहीं था कि हरियाली, फूल, ओस, निर्झर, ताल और पर्वत के सिवा पृथ्वी पर एक जनारण्य भी है जिसमें हाहाकार मचा रहता है। उस समय इस जनारण्य की ओर कभी उसने झाँका भी तो उसे या तो स्वप्न-शिशु दिखाई पड़े, छाया दिखाई पड़ी, अथवा कानों तक चल चितवन का वन्दनवार तानने वाली बाल-युवतियाँ या फिर क्षणभंगुरता के वे भयानक दृश्य जिनका मर्मभेदी वर्णन, प्रायः सभी छायावादी कवियों ने किया है। गुंजन में आकर उसे जनारण्य की पीड़ाओं का परिचय तो प्राप्त हो जाता है, किन्तु उनसे उलझने की इच्छा उसमें नहीं जगती। वह अब भी छायावादी संस्कारों से पूर्ण है, अतएव वह पीड़ाओं को नीरव रहकर सहना चाहता है।

> तप रे, मधुर-मधुर मन।
> विश्व-वेदना में तप प्रतिपल, जग-जीवन की ज्वाला में गल,
> बन अकलुष, उज्ज्वल औ कोमल, तप रे, विधुर-विधुर मन!

युगान्त में आकर उसे यह अनुभव होता है कि बात इतनी आसान नहीं है। इन पीड़ाओं का कोई-न-कोई गभीर समाधान खोजना ही होगा। समाधान क्या हो, इसकी कोई सूचना युगान्त में नहीं मिलती। वस्तुतः युगान्त विचारक-कवि की कृति नहीं है। यह उग सौन्दर्य-भोगी कल्पक के अन्तर्द्वन्द्व की कविता है जिसे निरी कल्पना से अब सन्तोष नहीं मिलता, जो जीवन की समस्याओं पर सोचने को तैयार हो रहा है और इसलिए, उसकी दृष्टि कल्पना-लोक से उतर कर उस कर्मठ महापुरुष पर पड़ती है जो ज्ञान नहीं, कर्म से जीवन को सँवार रहा था। वस्तु-जगत की जो बातें गुंजन तक पंत की कविता में झलक भी नहीं मार सकती थी, वे बापू के प्रति नामक कविता में खुल कर बरस पड़ी हैं।

> साम्राज्यवाद था कंस, वन्दिनी मानवता पशुबलाक्रान्त,
> शृंखला, दासता, प्रहरी बहु, निर्मम शासन-पद शक्ति भ्रान्त।
> कारागृह में दे दिव्य जन्म मानव-आत्मा को मुक्त, कान्त,
> जनशोषण की बढ़ती यमुना तुमने की नत, पद-प्रणत शान्त।

गुंजन तक पन्त निर्द्वन्द्व प्रकृति-पुत्र थे। वे उस शोभा से छके हुए थे जिसकी धारा प्रकृति के अंग-अंग से फूटती है। वे ऊपर बादलों में विचर रहे

थे, फुनगी के पत्तों, मंजरियों और फूलों से खेल रहे थे; किन्तु नीचे जो त्रास मानव-जीवन को कुरेदते हैं, उनकी ओर तब तक उनका ध्यान नहीं गया था। साम्राज्यवाद, वन्दिनी मानवता, दासता की शृङ्खला, निर्दय शासन, जेल और यातनाएँ तथा शोषण और अनाचार, ये समस्याएँ तो पहले से ही जीवन को औंट रही थी। किन्तु पन्त ने उनकी आवाज़ पहले-पहल **युगान्त** में सुनी और उसके बाद **युगवाणी** में इन समस्याओं के निदान और समाधान का कार्य आरंभ हुआ जो निरन्तर आगे बढ़ता जा रहा है।

युगवाणी पहली बार सन् १६३६ ई० मे निकली जब पंत श्री अरविन्द के प्रभाव में नहीं आये थे। फिर भी तब से लेकर आज तक उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसे समझने में **युगवाणी** कुंजी का काम देती है। जो लोग पन्त-काव्य को ऐतिहासिक क्रम से नहीं देखे हुए हैं उनके मनो पर यह प्रभाव है कि पन्त पहले कल्पना के कवि थे, तब वे मार्क्सवादी हो गये और, अन्त में, मार्क्सवाद से भी निराश हो जाने पर मन से वे पाडिचेरी में वास करने लगे हैं। यह मत मुझे निराधार मालूम होता है। यह सत्य है कि एक समय साम्यवादी आलोचक पंत का बहुत सम्मान करते थे, किन्तु, इस सम्मान का कारण क्या था, यह वे मौसमी प्रेमी ही बता सकते हैं जो एक समय पंत के मित्र थे और अब उनके विरोध पर उतर आये हैं। मुझ-जैसे सामान्य पाठक को तो यही दिखाई देता है कि पंत के विचारों में आकस्मिक परिवर्तन कभी नहीं आया। कम-से-कम, उनके विचारो में क्रान्ति-जैसी कोई घटना नहीं हुई है। वे स्वाभाविक गति से वर्धित और विकसित होते रहे हैं।

अरविन्द-दर्शन से अपना सम्बन्ध दिखलाते हुए पन्त ने **उत्तरा** की भूमिका में लिखा है कि इस दर्शन से उनका परिचय सन् १६४२ के बाद अथवा उसके आसपास ही हुआ। उसके पूर्व ही उनके भीतर कुछ वैसी अनुभूतियाँ उदित होने लगी थी जैसी अनुभूतियाँ अरविन्द-दर्शन मे संपर्क के बाद आयीं और पुष्ट हुईं। "अपनी नवीन अनुभूतियों के लिए, जिन्हें मैं अपनी सृजन-चेतना का स्वप्नसंचरण या काल्पनिक आरोहण समझता था, मुझे किसी प्रकार के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक अवलब की आवश्यकता थी। इन्हीं दिनों मेरा परिचय श्री अरविन्द के भागवत जीवन (द लाइफ डिवाइन) से हो गया। उसके प्रथम खंड को पढते समय मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरे अस्पष्ट स्वप्नचिंतन को अत्यन्त सुस्पष्ट, सुगठित एवं पूर्ण दर्शन के रूप मे रख दिया गया है।" इस विश्लेषण

को मैं ठीक समझता हूँ, क्योंकि युगवाणी में व्यक्त विचारों की उन विचारों से भिन्नता नहीं है जो बाद की कविताओं में प्रकट हुए हैं। कहना यह चाहिए कि युगवाणी उस अभियान की पहली सीढ़ी है जो अब स्वर्णकिरण, उत्तरा और अतिमा तक पहुँच चुका है। और इस पहले सोपान पर पन्त ने यह समझ लिया था कि भूत और आत्मा में से प्रत्येक, अकेला रहने पर, अपर्याप्त है। मनुष्य का कल्याण इसमें है कि वह दोनों के बीच समन्वय स्थापित करे। यह भी कि केवल बहिर्जीवन के संगठन मात्र से मनुष्य के क्लेशों का अन्त नहीं होनेवाला है। राजनीति और अर्थनीति मनुष्य के बहिर्जीवन के सेवक हैं। आवश्यक यह है कि बहिर्जीवन के साथ मनुष्य के अंतर्जीवन का भी संगठन किया जाय और इस अन्तःसंगठन की बाधाएँ, मुख्यत: मानसिक हैं जो मनुष्य में मध्यकालीन मृत आदर्शों के लिए मोह उत्पन्न करती हैं, जो अन्धविश्वासों का समर्थन करती हैं एवं रूढ़ियों और शीर्ण नैतिकता को बल पहुँचाती हैं। युगवाणी की जिस भूमिका के आधार पर मैं ये बातें लिख रहा हूँ वह सन् १९४७ ई० वाले संस्करण में आयी थी। अतएव इस भूमिका में पंत की शब्दावली अरविन्द-दर्शन से प्रभावित मिलती है। किन्तु, इससे इस बात का खंडन नहीं हो जाता कि यह भूमिका उन कविताओं पर प्रकाश डालती है जो १९३९ ई० से पहले ही लिखी जा चुकी थी।

और युगवाणी में संगृहीत कविताएँ क्या साक्ष्य उपस्थित करती हैं ?

भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान,
जहाँ आत्म-दर्शन अनादि से समासीन अम्लान।

(बापू)

अरविन्द-दर्शन की एक सूक्ति को अंगीकृत करके पंत ने भूमिका में कहा है कि "पदार्थ (मैटर) और चेतना (स्पिरिट) को मैंने दो किनारों की तरह माना है जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित होता है।" इन्हीं दो किनारों में से एक भूतवाद है जिसके समर्थक मार्क्स हैं, जिसका समर्थन समस्त नास्तिक दर्शन करता है और जिससे प्रेरणा लेकर मनुष्य संचय करता है और जिसकी अति मनुष्य-मनुष्य और देश-देश के बीच घटित होनेवाली छीना-झपटी, शोषण और व्यापारिक युद्धों में देखी जा सकती है। दूसरा किनारा आत्मा का किनारा है जिसका समर्थन समस्त आस्तिक दर्शन करता है और जिसका संदेश यह है कि दूसरों को लूटकर धनी होने तथा दूसरों को मारकर जीवित रहने की लालसा निन्दनीय है।

युगवाणी की रचना के समय ही पंत साम्यवादियों के हाथों सम्मानित और पूजित हुए थे। युगवाणी में सब कुछ साम्यवादियों के अनुकूल नहीं था। इसी संग्रह की एक कविता में 'संकीर्ण भौतिकवादियों' को लक्ष्य करके कवि ने कुछ ऐसे प्रश्न उठाये थे जिन्हें पूछने पर पंडितों को क्रोध चाहे जितना भी चढ़ जाय, किन्तु, उत्तर उनसे देते नहीं बनता।

हाड़-मांस का आज बनाओगे तुम मनुज-समाज ?
हाथ-पाँव संगठित चलावेंगे जग-जीवन-काज ?
दया-द्रवित हो गये देख दारिद्रय असंख्य तनों का ?
अब दुहरा दारिद्रय उन्हें देंगे निरुपाय मनों का ?
आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम ?
मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम ?

साम्यवादियों की पद्धति को कवि ने केवल बहिर्जीवन-संगठन की पद्धति माना, जो आवश्यक तो है, किन्तु पर्याप्त नहीं है। मनुष्य में केवल हाड़-मांस ही नहीं हैं, उसके मन भी होता है और आत्मा भी होती है। और मनुष्य केवल रोटी ही नहीं चाहता, रोटी खाने के बाद वह स्वतंत्र रूप से चिंतन का भी आनन्द लेना चाहता है। साम्यवादी देशों में जो प्रयोग अब तक हुए हैं उनसे परिणाम यह निकला है कि तानाशाही में आदमी को रोटी तो मिल जाती है, किन्तु उससे चिंतन का अधिकार छीन लिया जाता है। और रोटी इच्छा मात्र से तो मिलती नहीं। साम्यवाद के अन्दर भी देशों को समृद्धि के लिए दीर्घकाल तक प्रयास करना पड़ता है। और उस प्रयोग-काल में मनुष्य रोटी और चिंतन, दोनों से विहीन हो जाता है। यह, सचमुच ही, दुहरा दारिद्रय है।

दया-द्रवित हो गये देख दारिद्रय असंख्य तनों का ?
अब दुहरा दारिद्रय उन्हें देंगे निरुपाय मनों का ?

भूत और आत्मा, ये तो नदी के दो किनारों के नाम हैं। वास्तव में, नदी जिस जल को लेकर नदी बनी है, वह मानवता का जल है। अतएव, भूत और आत्मा, स्थूल और सूक्ष्म तथा व्यष्टि और समष्टि के नारे लगाकर कलह मचाने से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। पंत के अनुसार, सत्य या तो इन सब से परे है अथवा वह इनके समन्वय में है।

मानव ! कभी भूल से भी क्या सुधर सकी है भूल ?
सरिता का जल मृषा ? सत्य उसके केवल दो कूल ?
आत्मा औ भूतों में स्थापित करता कौन समत्व ?
बहिरन्तर, आत्मा-भूतों से है अतीत वह तत्व।
भौतिकता-आध्यात्मिकता केवल उसके दो कूल,
व्यक्ति-विश्व से, स्थूल-सूक्ष्म से परे सत्य का मूल।

साम्यवादियों द्वारा युगवाणी के प्रशंसित होने का कारण यह भी था कि युगवाणी में धनपतियों की भर्त्सना और कृषक, श्रमजीवी आदि की प्रशंसा की गयी है। यही नहीं, प्रत्युत्, उसमें मार्क्स का भी स्तवन है और भूतदर्शन के लिए भी उसमें कुछ अच्छे शब्द कहे गये हैं। किन्तु, यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि मार्क्स की प्रशंसा तो कवि ने मुक्त हृदय से की है, किन्तु भूतदर्शन को उसने अपने निजी ढंग पर स्वीकार किया है। भौतिक दर्शन को पंत जी इस परिष्कार के साथ स्वीकार करते हैं कि स्थूल का अस्तित्व तो है, किन्तु, उसके भीतर सूक्ष्म का भी निवास है और बहिर्जीवन के परिवर्तनों का प्रभाव भी स्थूल और सूक्ष्म, दोनों पर पड़ता है। यहाँ पन्त ने द्वन्द्वात्मक नियमों को स्थूल के साथ सूक्ष्म पर भी लागू माना है और कहा है कि दर्शन (सूक्ष्म) और विज्ञान (स्थूल) के पारस्परिक द्वन्द्व से दोनों का विकास होता है और नये सत्य प्रकाश में आते हैं।

दर्शन-युग का अंत, अंत विज्ञानों का संघर्षण,
अब दर्शन-विज्ञान सत्य का करता नव्य निरूपण।

स्पष्ट ही, भूतदर्शन की सभी स्थापनाओं को स्वीकार करने में कवि को यहाँ कठिनाई हुई है। भूतदर्शन की प्रखर वास्तविकता उसे भासित तो होती है, किन्तु, उस दर्शन के साथ नास्तिकता आदि जो अवगुण लिपटे हुए हैं, उनके कारण वह उसे सर्वतोभावेन स्वीकार नहीं कर सकता। इसीलिए, वह सूक्ष्म के दावे को आगे लाता है; इसीलिए, विज्ञान के साथ-साथ वह दर्शनों का भी उल्लेख करता है।

इसी प्रकार, मार्क्स की प्रशंसा करने का अधिकार उन्हें भी है जो लेनिन और स्टालिन के प्रयोगों को शुद्ध नहीं मानते। मार्क्स ने पूँजीवाद के विरुद्ध जो कठोर

चिंतन किया उससे दो प्रकार की प्रेरणाएँ निकलीं। इनमें से एक प्रेरणा का उत्तराधिकार समाजवादी (सोशल डेमोक्रेट) चिंतकों को प्राप्त हुआ जो यह मानते थे कि पूँजीवाद को हटाकर उसके स्थान पर कोई ऐसी पद्धति चलानी चाहिए जिससे समाज में मानवीय स्वतंत्रता की वृद्धि हो। और दूसरी प्रेरणा लेनिन को मिली जो यह मानते थे कि पूँजीवाद को हटाकर उसकी जगह पर ऊँची आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था का प्रचलन ही मुख्य कार्य है और इस कार्य को संपन्न करने की प्रक्रिया में उन्होंने राजनीति को षड्यंत्रपूर्ण बना दिया तथा मनुष्यों की स्वतंत्रता को दबा डाला। ऊँची आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था चलाने के लिए मनुष्यों के स्वातंत्र्य-दलन की बात मार्क्स ने नहीं कही थी। यह शिक्षा लेनिन के प्रयोग से निकली और, बाद को, वह मार्क्सवादी चिंतन में ठूँस दी गयी। मार्क्स को यह बात कभी सूझी भी नहीं थी कि अपने मत का प्रचार के लिए यह आवश्यक है कि अपने विरोधियों का मुख बन्द कर दिया जाय। लेनिन ने अपनी पार्टी को छोड़कर अन्य सभी पार्टियों के मुँह पर ताले लगा दिये। और स्टालिन ने सोचने का अधिकार अपनी पार्टी से भी छीनकर उसे पार्टी की केन्द्रीय समिति में सीमित कर दिया और, धीरे-धीरे यह अधिकार केन्द्रीय समिति से भी निकल कर स्टालिन के पास चला गया। मार्क्स ने मनुष्यों को वर्गों में विभाजित देखा था। लेनिन को इस बात से भय हुआ कि हर आदमी कुछ-न-कुछ सोचता रहता है। स्टालिन यह मानकर चला कि आदमी या तो दुश्मन हो सकता है अथवा गुलाम।

मार्क्स से स्टालिन तक साम्यवादी प्रयोगों की जो प्रगति हुई उससे समृद्धि तो बढ़ी, किन्तु, स्वाधीनता का रूप बिगड़ता गया है और इस विकृति का अनुभव अब स्वयं रूस के नेतागण भी कर रहे हैं। साथ ही, यह बात भी दिनों दिन अधिक प्रत्यक्ष होती आयी है कि लेनिन और स्टालिन की अपेक्षा, कदाचित् सोशल डेमोक्रेट मार्क्स के अधिक करीब थे। मार्क्स ने स्वयं कहा था कि "एक बात सत्य है कि मैं मार्क्सवादी नहीं हूँ।" मार्क्स वैज्ञानिक थे और एक काल में बैठकर सभी कालों के लिए सिद्धान्त रचने में जो खतरा है उसे वे भली भाँति समझते थे। इसीलिए, वे अपने को किसी सर्वव्यापी सिद्धान्त का जनक नहीं मानते थे। उनके लेखों में से सर्वव्यापी सिद्धान्त निकालने का काम लेनिन आदि ने किया जो वैज्ञानिक न होकर केवल राजनीतिज्ञ थे। मार्क्स ने जो विज्ञान रचा था वह उनके राजनीतिज्ञ अनुयायियों के हाथ में पहुँच कर प्रचार

बन गया और यह प्रचार अब स्वाग भर रहा है कि मैं विज्ञान हूँ। पत द्वारा विरचित प्रशस्ति वैज्ञानिक मार्क्स की प्रशस्ति है तथा उनकी भक्ति साम्यवादी नहीं, समाजवादी कवि की भक्ति समझी जा सकती है।

युगवाणी असल मे पन्त के आन्तरिक सघर्ष की वाणी है। यह उनकी उस मनोदशा की कविता है जब वे मार्क्स और गाँधी के बीच भटके सा रहे थे, जब वे भूत और आत्मा के द्वन्द्व से ग्रसित थे, जब वे राजनीति और संस्कृति (लगभग धर्म के अर्थ मे) में से प्रत्येक को आवश्यक और प्रत्येक को अपर्याप्त समझकर किसी द्विधा की स्थिति मे ठहरे हुए थे। चिंतन की प्रक्रिया में अक्सर ऐसा होता है कि प्रश्न ही बदल कर उत्तर बन जाते हैं जैसे कली की परिणति फूल मे और फूल की परिणति फल मे हो जाती है। पन्त के सम्बन्ध मे भी यही हुआ है। उनके भीतर शका यह चल रही थी कि भूत और आत्मा मे से वरेण्य कौन है। द्रव्य आधार और आत्मा आधेय होती है। तब द्रव्य की उपेक्षा करने से यह कैसे सभव है को आत्मा उपेक्षा से बचायी जा सके? यही प्रश्न मार्क्स और गाधी के बीच का प्रश्न बन गया। गाँधी आत्मा को उत्थान देना चाहते थे, किन्तु, जिसे खाने को अन्न और पहनने को वस्त्र तथा शीत-घाम से बचने को घर नहीं है, उसकी आत्मा क्या उत्थान पा सकती है? फिर वही बात। आधार के बिना आधेय का अस्तित्व ही संकटपूर्ण हो जाता है। निदान, पत कल्पना करने लगे कि गाँधी को स्वीकार करते समय किसी-न-किसी दूरी तक मार्क्स को भी स्वीकार करना होगा एव आत्मा का वरण करते समय भूत या द्रव्य का भी सर्वथा त्याग नहीं चल सकता। यही पन्त की वे नवीन अनुभूतियाँ थीं जिनके लिए वे 'कोई बौद्धिक तथा आध्यात्मिक अवलब' चाहते थे और, अन्ततोगत्वा यह अवलब उन्हे अरविन्द-दर्शन मे प्राप्त हुआ। तब से द्विधा की स्थिति समाप्त हो गयी है और वे पूरी निश्चितता के साथ उस विश्व का काल्पनिक चित्रण कर रहे हैं जो भूत और आत्मा के सम्यक विकास एव सम्यक मिलन से उत्पन्न होगा।

अरविन्द-दर्शन

पत-काव्य पर अरविन्द दर्शन के प्रभावो की जाँच करते समय इस बात को याद रखना चाहिए कि पत की मुख्य प्रवृत्ति सामाजिकता की ओर है जब कि अरविन्द का सारा जोर अध्यात्म पर दीखता है। फिर भी, अरविन्द के

आध्यात्मिक दर्शन में सामाजिकता का उतना ही गहरा पुट है, आध्यात्मिकता का जितना गहरा पुट पंत अपनी कल्पना के समाज में डालना चाहते हैं।

एक समय था जब मनुष्य की वैयक्तिक मुक्ति ही उसके जीवन का सबसे बड़ा ध्येय मानी जाती थी। तब विज्ञान आया और वैयक्तिक मोक्ष की कल्पना लोगों को खोखली दिखाई देने लगी। विज्ञान की इस प्रवृत्ति का चरम विकास मार्क्स में हुआ जिनकी शिक्षाओं का सार यह है कि वैयक्तिक मुक्ति कोई चीज नहीं है। मनुष्य का सबसे बड़ा ध्येय इसमें है कि वह समाज के मोक्ष के लिए काम करे। तब महात्मा गांधी आये। गांधी मोक्ष तो व्यक्ति का ही मानते हैं, किन्तु, उनका भी कहना है कि इस वैयक्तिक मोक्ष का साधन अब संन्यास या वैराग्य नहीं है, व्यक्ति को भी अपनी मुक्ति के लिए समाजसेवा का व्रत लेना चाहिए अर्थात् समाज के मोक्ष के लिए ही काम करना चाहिए।

अरविन्द भी वैयक्तिक मोक्ष के समर्थक नहीं हैं। उनका कहना यह है कि जो सुख, शान्ति और आनन्द संसार से भागकर वैयक्तिक मोक्ष के लिए प्रयास अथवा उसे प्राप्त करने में है उसका उपभोग सभी मनुष्यों को इसी जगत में, पदार्थ के धरातल पर, सुलभ होना चाहिए। मुक्ति मरे हुए मनुष्य को नहीं मिलती, वह तो उसे जीवन-काल मे ही प्राप्त हो जाती है। जीव ब्रह्म का अंश है और वह ब्रह्मस्वरूप हो सकता है, यह बात भारत में बहुत दिनों से कही जा रही थी। अरविन्द ने इस संभावना को सत्य माना है और घोषणा की है कि मनुष्य मर कर नहीं, जीते-जी ब्रह्मस्वरूप हो सकता है, इसी पृथ्वी पर वह अमरता का वरण कर सकता है तथा इसी जीवन को वह भागवत जीवन में परिणत कर सकता है। यह भी कि मनुष्य चाहे तो अपने पार्थिव शरीर को भी मृत्यु के हाथों विघटित होने से बचा सकता है। मनुष्य की इच्छा-मृत्युवाली कल्पना अरविन्द को संभाव्य दीखती है, बल्कि उनकी आशा है कि मनुष्य इसी शरीर में अमर हो सकता है।

संसार के अन्य अध्यात्मवादियों के विपरीत, अरविन्द मैटर अथवा भूत की सत्ता खुलकर स्वीकार करते हैं। यही नहीं, उनका कहना है कि जैसे मस्तिष्क का विकास प्राणतत्व से हुआ है, वैसे ही, प्राणतत्व का उद्भव मैटर या द्रव्य से होता है। द्रव्य में जो अज्ञानता है, अरविन्द उसे शंकर की माया के समान मिथ्या नहीं मानते। उनका कहना है कि अज्ञानता भी एक प्रकार का ज्ञान है। जिसे हम अविद्या कहते हैं वह भी एक प्रकार की विद्या है जिस

पर धूल जमी हुई है। यह अज्ञानता अथवा अविद्या अनादि माया अथवा अनादि पाप नहीं है। सृष्टि के विकास-क्रम में यह अज्ञानता अथवा अविद्या भी एक सोपान है जो मनुष्य की साधना और प्रयास से ज्ञान में रूपान्तरित हो जाती है। अज्ञान की सत्ता अरविन्द नहीं मानते। सृष्टि में जो कुछ भी है, वह ज्ञान ही है। हाँ, कहीं तो वह जाग्रत है और कहीं सुप्त और जहाँ वह सुप्त है वहाँ भी वह जग सकता है।

अरविन्द मानते हैं कि सबसे पहले द्रव्य था। उसमें से प्राणतत्त्व निकला और प्राणतत्त्व के भीतर से पहले उपचेतन और बाद को मस्तिष्क प्रकट हुआ। किन्तु मस्तिष्क भी पूर्ण नहीं है। इस मानस-धरातल से उठकर मनुष्य को अतिमस्तिष्क अथवा अधिमानस के धरातल पर जाना है। संसार में रोग-शोक, छल-प्रपंच, युद्ध-विभीषिका आदि जो अनेक समस्याएँ छिड़ी हुई हैं, अरविन्द का विचार है कि वे मात्र युद्ध अथवा राजनीतिक एवं आर्थिक क्रान्तियों या संगठनों से शमित नहीं होंगी। इनका सम्यक समाधान यह है कि मनुष्य अपने वर्तमान धरातल से ऊपर उठे, वह अपने मन, स्वभाव और शक्ति का परिमार्जन और विकास करे। मनुष्य की समस्या युद्ध और शोषण नहीं है। युद्ध, शोषण और अनाचार किसी भीतरी रोग के बाह्य लक्षण हैं और वह गंभीर रोग तभी दूर होगा जब मनुष्य उद्विकास (इवोल्यूशन) के मार्ग पर आगे बढ़े, एक बड़ा कदम उठाकर उस सोपान पर पहुँचे जो अधिमानस का सोपान है।

अधिमानस के स्तर पर मनुष्य पहुँच कैसे सकता है? अरविन्द का कथन है कि इसके लिए दोनों ही बातें आवश्यक होंगी। कुछ तो मनुष्य को तपोनिष्ठ बनकर ऊपर उठने का प्रयास करना होगा और कुछ भगवत्कृपा होगी जिससे मनुष्य का यह ऊर्ध्व अभियान आसान हो जायगा। मनुष्य के ऊपर उठने के प्रयास को अरविन्द 'एसेंट' अथवा आरोह कहते हैं और भगवत्कृपा के अवतरण का नाम उन्होंने 'डीसेंट' अथवा अवरोह रखा है।

अरविन्द-दर्शन के सामाजिक पक्ष की विशेषता यह है कि उसमें अद्वैतवाद की कठोरता नहीं है, न वह शांकर मायावाद के समान निराशामूलक सिद्धान्त है। जहाँ तक भोग और वैराग्य का सम्बन्ध है, अरविन्द यतियों के कृच्छ्र मार्ग के उतने ही विरोधी हैं जितने भौतिकवादियों की भोग-वृत्ति के। साथ ही, वे दोनों की उपयोगिताओं को भी स्वीकार करते हैं। भोग-वृत्ति भौतिकवादी विश्वासों का स्वाभाविक परिणाम है; किन्तु भौतिकवाद सर्वथा हेय नहीं है।

उनकी दृष्टि हेतुवादी होती है। वह सम्यक कारणों की खोज किये बिना किसी भी बात को नहीं मानता। शका, जिज्ञासा और बुद्धिवाद की इसी प्रवृत्ति के चलते जीवन के निचले स्तरों के बारे में मनुष्य का ज्ञान इतना समृद्ध हो सका है। इसी प्रकार, यतियों ने आनन्द से मुख मोड़कर अपने जीवन के प्रति चाहे जैसा भी कठोर व्यवहार किया हो, वे ही बराबर यह सूचना देते रहे हैं कि मैटर ही एकमात्र सार नहीं है, न सारी वास्तविकता वहीं तक समाप्त हो जाती है जहाँ तक हमारे चर्मचक्षु देख सकते हैं। दृश्य वास्तविकता के आगे एक और वास्तविकता है जो अदृश्य है, इस अनुमान को जीवित रखने का श्रेय अरविन्द इन्हीं यतियों, ससार-त्यागियों और भौतिकवाद के विरोधी वैरागियों को देते हैं।

अरविन्द के अनुसार, सर्वव्यापी वास्तविकता न तो केवल भूत है, न केवल आत्मा। भूत और आत्मा इस महा सत्य के दो छोर हैं, दो किनारे हैं जिनके बीच से होकर सारी वास्तविकता प्रवाहित हो रही है। भूत और आत्मा के बीच उन्होंने आठ सोपान या धरातल माने हैं। सबसे नीचे का धरातल भूत, द्रव्य, मैटर या जड़ तत्त्वों का धरातल है। उसके ऊपर प्राण, उससे भी ऊपर उप-चेतन और उनसे भी ऊपर क्रमशः मन, अतिमन, आनन्द और चेतना-शक्ति तथा सबके ऊपर आत्मा अथवा दिव्य महाजीवन का स्थान है। यह गणना मैंने आरोह की भाषा में की है। यदि यही गणना अवरोह की भाषा में की जाय तो पहले महाजीवन (ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, जो कहिये) आयेगा और वही उत-रते-उतरते मैटर में सुप्त मिलेगा। मैटर की अतिजागृति महाजीवन है और महाजीवन की निद्रावस्था द्रव्य अथवा जड़ता की स्थिति। इसलिए अरविन्द द्रव्य और आत्मा अर्थात् मैटर और स्पिरिट को महासत्य के दो छोर समझते हैं। और इसीलिए, अरविन्द-दर्शन से आंशिक समर्थन उन मतों को भी प्राप्त हो सकता है जो भौतिक विश्व की शुद्धि, परिष्कार अथवा समृद्धि पर जोर देते हैं और उन मतों को भी जो मनुष्य से यह कहते हैं कि शरीर नश्वर है, अत-एव, उसकी आराधना छोड़कर अपनी आत्मा का विकास करो।

ये दोनों प्रकार के मतवाद अरविन्द-दर्शन में समाहित होते हुए भी अलग-अलग या परस्पर एक होकर उस दर्शन का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करते। अरविन्द-दर्शन मैटर और स्पिरिट के बीच होनेवाले समझौते का नाम नहीं है। जिस वास्तविकता का चरम विकास दिव्य जीवन अथवा आत्मा का जीवन है,

उसी की आरम्भिक स्थिति को अरविन्द मैटर या भूत कहते हैं। इस भूत के भीतर अनन्त शक्तियाँ छिपी हुई हैं, अनन्त सम्भावनाएँ सोयी हुई हैं। इसीलिए, भौतिकवादियों का यह कथन सत्य नहीं है कि मनुष्य केवल शरीर है, अतएव उसका सारा ध्यान केवल उन गुणों के विकास पर केन्द्रित होना चाहिए जो शरीर के गुण हैं अर्थात् जिनमे शक्ति, स्वास्थ्य और आधिभौतिक समृद्धि की वृद्धि होती है। और यदि अध्यात्मवादी लोग यह कहे कि आत्मा के उत्थान में शरीर बाधक है, अतएव उसे सुखा डालना चाहिए तो वह विचार भी एकांगी होगा। वास्तव में मनुष्य के विकास की गति तो ऊर्ध्व ही होनी चाहिए, किन्तु, उसके साथ मैटर के गुणों का भी वर्धन और परिष्कार आवश्यक है। भूत जब मथित, विकसित और परिष्कृत होता है तभी उसके सार-स्वरूप आत्मा की शक्तियाँ विकास पाती है। भोग की शिक्षा देनेवाला भौतिकवाद और त्याग की शिक्षा देनेवाला यतिवाद, ये दोनों एक हद तक आवश्यक, किन्तु उसके बाद अपर्याप्त हैं। अरविन्द-दर्शन दोनों को अपने भीतर समेटता हुआ दोनों से दूर आगे जाता है। अरविन्द के अनुसार द्रव्य आधार और आत्मा आधेय है। अतएव, आत्मा का स्वतन्त्र होकर फैलने का दावा उतना ही उचित है जितना द्रव्य का यह आग्रह कि वह इस प्रसार का साँचा या आधार बनेगा।

भूत और आत्मा के धरातलों के बीच जो चेतना विहार करती है उसकी अरविन्द तीन गतियाँ मानते हैं। यह चेतना निचले स्तर से ऊपर की ओर जाती है। इस गति का नाम आरोह अथवा एसेंट है। चेतना के नीचे से ऊपर की ओर जाने का अर्थ यह है कि मनुष्य निचले धरातलों की वृत्तियों से संघर्ष करके ऊपर उठने की चेष्टा करता है। किन्तु चेतना ऊपर से चलकर नीचे की ओर भी आती है अर्थात् जब मनुष्य नीचे से ऊपर उठने की कोशिश करता है तब उस पर ईश्वरीय कृपा की वृष्टि होने लगती है। जिस शक्ति को पाने के लिए वह प्रयास करता है, वह शक्ति स्वयमेव उससे मिलने को नीचे उतरने लगती है और प्रायः आधी राह में ही उसे प्राप्त हो जाती है। इस गति का नाम अवरोह अथवा डीसेंट है। स्पष्ट ही, आरोह कर्म है और अवरोह भक्ति का परिणाम। किन्तु इन दोनों गतियों के अतिरिक्त, चेतना की एक तीसरी गति भी होती है जो आन्तरिक गति है, जो समदिक् गति है और जिसका ध्येय पग-पग पर होनेवाले मानवीय विकास को सग्रथित (इंटिग्रेटेड) और परिपुष्ट

बनाना है। द्रव्य से प्राणतत्व निकला और प्राणतत्व से उपचेतना तथा मन। किन्तु मन के धरातल पर आ जाने के बाद मनुष्य ने द्रव्य, प्राण और उपचेतन को छोड़ नहीं दिया। यही सग्रथन का काम है जिसे समदिक् गति सपन्न करती है।

अरविन्द की आशा है कि मनुष्य मानवता की कोटि से निकल कर अतिमानवता की कोटि में जानेवाला है। अतिमानव क्या होगा, यह कल्पना स्पष्ट नहीं है। वह दैवी गुणों से सपन्न मनुष्य होगा। उसका शरीर कंचनवत कोमल, शक्तिशाली और प्रभापूर्ण तथा उसकी आत्मा अलौकिक शक्तियों से युक्त होगी। और संभव है, उसकी ज्ञानेन्द्रियां भी पाँच न होकर उससे अधिक हों। मन और अतिमन में अरविन्द ने जो भेद माना है, वही भेद आज के मानव और आनेवाले अतिमानव में होगा। मन के बारे में अरविन्द ने लिखा है, "मस्तिष्क उसका नाम है जो कुछ नहीं जानता, जो जानने की कोशिश तो करता है, किन्तु वास्तव में कुछ जान नहीं पाता। उसे जो कुछ दिखाई देता है वह धूमिल दर्पण में पड़नेवाली छाया के समान अस्पष्ट और अस्वच्छ है। तब भी इस शक्ति का एक उपयोग यह है कि वह सासारिक व्यवहार के प्रसंग मे सार्वभौम सत्य की एक प्रकार की सीमित व्याख्या कर सकती है। किन्तु, वास्तविक सार्वभौम सत्य का न तो उसे परिचय प्राप्त है, न वह मनुष्य को वहाँ तक पहुंचा ही सकती है।" एक अन्य स्थान पर भी उन्होंने कहा है, "तर्क सहायक था, किन्तु, तर्क ही बाधक हो रहा है।"

इसलिए, अरविन्द का सारा जोर अतिमन अथवा अधिमानस पर है। मनुष्य आज जिन समस्याओं से ग्रसित होकर तड़प रहा है उनका सम्यक समाधान मानस के धरातल पर नहीं मिल सकता। मनुष्य विकास के मार्ग पर एक बहुत बड़ा कदम उठाकर जब मानस से निकल कर अधिमानस के धरातल पर *आसीन* होगा, उसके सारे क्लेश आपसे आप दूर हो जायेंगे। तब वे सारे रहस्य उसके सामने सूर्य के प्रकाश के समान खुल पड़ेंगे जो आज बुद्धि से समझे नहीं जा सकते। वह उस एकता को स्पष्ट देख लेगा जो सभी जीवों के बीच वर्तमान है। और जो भी क्षुद्रताएं आज उसे विवश करके उससे गर्हित कार्य करवाती हैं वे समस्त क्षुद्रताएं अधिमानस के नीचे ही छूट जायेंगी। सावित्री काव्य का नायक सत्यवान, कदाचित् अतिमानव है और उसमें वे सारी शक्तियाँ विद्यमान दिखाई गयी हैं, जो अब तक दैवी समझी जाती थीं।

"देह की सीमाएँ टूट गयीं और उसका तेज अंतरिक्ष के तेज से मिल-कर एकाकार हो गया।"

"जो प्रकाश पहले सीमाओं में घिरा था वह असीम, अनन्त प्रकाश में परिणत हो गया।"

"आत्मा की गोधूलि से ऊपर और जीवन की रातों से झिलमिल रजनी के पार आध्यात्मिक दिवस की ऊषा चमक उठी।"

"वह ज्यों-ज्यों अपने बृहत्तर व्यक्तित्व के आकाश में उड़ता गया, मानवता के वे बन्धन, जो उसे बाँधे हुए थे, दिनों-दिन कम होते गये। एक बृहत्तर जीव के दृष्टिपथ में एक बृहत्तर संसार चमक उठा। मर्त्य मन चारों ओर सुरक्षा की रेखाएँ खींचे होता है और ये रेखाएँ मन की उड़ान को रोकती हैं, आत्मा को उभर कर अनन्तता के पारावार में डूबने नहीं देतीं। किन्तु, सत्यवान के भीतर की जिज्ञासा इतनी निर्भीक और दुर्दान्त थी कि उसके सामने होते ही ये रेखाएँ आप से आप मिट गयीं जैसे स्लेट पर लिखे हुए अक्षर मिट जाते हैं।"

"उसके भीतर जो दृष्टि (विज़न) उत्पन्न हुई वह सोचने के लिए रुकना नहीं जानती थी। सत्यवान एक दृष्टि में सारी प्रकृति को वैसे ही लपेट लेता था जैसे कोई किसी वस्तु को अपने भीतर समेट ले। उसकी दृष्टि चीजों के बाहरी रूप पर नहीं, सीधे उनके भीतर के प्रच्छन्न सत्य पर जा पड़ती थी और बाहरी रूपों से भ्रमित न होकर वह सीधे आत्मा को देख लेता था।"

अतिमानव की कल्पना जर्मन कवि नीत्से ने भी की थी, किन्तु नीत्से की कल्पना का अतिमानव, कदाचित्, वह व्यक्ति है जो सब को मार-पीट कर आगे निकल जाता है। चंगेज़ खाँ, सिकन्दर, नेपोलियन, हिटलर और स्तालिन नीत्से की कल्पना के अतिमानव से बहुत भिन्न नहीं लगते। भारत में अतिमानव की एक कल्पना उर्दू-फारसी के कवि इकबाल ने भी की है, किन्तु, वे उसे अति-मानव न कहकर पृथ्वी पर ईश्वर का नायब अथवा प्रतिनिधि कहते हैं। "नायब पृथ्वी पर भगवान का प्रतिनिधि है। वह खुदी की पूर्णतम प्रतिमा और मान-वता की मंजिल है। हममें जो मानसिक अशान्ति या विरोध है, वह नायब में जाकर अपना समाधान पा लेता है। उसमें ऊँची से ऊँची शक्तियाँ ऊँचे से ऊँचे ज्ञान से मिलकर एकाकार रहती हैं।...विकास के क्रम में हम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों हम नायब के समीप होते जाते हैं और उसके पास जाने की कोशिश में हम अपने आप को ऊपर उठाते जाते हैं। मनुष्य के शरीर और मन

का सम्यक विकास वह शर्त है जिसके बिना नायब का जन्म संभव नहीं होगा। मानवता का विकास होते-होते, मनुष्यों की एक ऐसी जाति उत्पन्न होगी जिसके सदस्य बहुत कुछ अनूठे व्यक्तित्ववाले होंगे और ऐसे ही माता-पिता से नायब उत्पन्न होगा।"

नीत्से ने सोचा था कि अतिमानवों की जाति नहीं होगी, वह कोई एक व्यक्ति होगा अथवा, संभव है वैसे कोई व्यक्ति उत्पन्न हो जायँ। इकबाल का नायब इस्लामी समाज में जनमेगा, ऐसा अनुमान उनकी कुछ अन्य कविताओं से होता है जो इसी प्रसंग में लिखी गयी हैं। अरविन्द की आशा है कि पृथ्वी पर अतिमानवों की पूरी जाति अवतीर्ण होनेवाली है वर्तमान मानवता जब मानस के धरातल से उठकर अधिमानस में पहुंच जायगी, उसके सारे दोष छूट जायेंगे, उसकी सारी सीमाएँ दूर हो जायेंगी और वह अतिमानव की जाति में बदल जायगी।

राजनीति नहीं, संस्कृति

पल्लव युग और स्वर्णकिरण के बीच का समय, पंत के कवि-जीवन का, कदाचित् वह समय था जब वे यह सोच रहे थे कि कल्पना की छाया से निकल तो आया, किन्तु इस धूप में करने योग्य दूसरा कौन-सा काम है। और इस आत्म-मंथन के समय अपनी सारी शक्ति लगाकर समाज के भौतिक रूप को आगे बढ़ाने की उमंग उनके भीतर उठी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। ठीक इसी समय उनके भीतर मार्क्स के लिए प्रशंसा के भाव जागे, किन्तु मार्क्स के साथ जो अमिश्रित भौतिकवाद का दर्शन लिपटा हुआ है, उससे उन्हें विरक्ति हुई। तब वे गांधी की ओर मुड़े और उन्हें दिखाई पड़ा कि गांधी राजनीति नहीं, संस्कृति का नेता है, बल्कि, राजनीति के भी अखाड़े का उपयोग वह मनुष्य के आन्तरिक गुणों के विकास के लिए कर रहा है। यह बहुत सही दृष्टिकोण था, क्योंकि चिन्तकों की दृष्टि में गांधी तकलीऽचरखा और स्वराज्य तक ही सीमित नहीं थे। उनके प्रयोगों को देखकर विश्व के चिन्तक यह प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे थे कि गांधी मानवीय समस्याओं का तात्कालिक समाधान नहीं चाहते, वे तात्कालिकता से ऊपर उठकर कुछ ऐसी बातों की खोज कर रहे हैं जो मानवता को कुछ शाश्वत परिष्कार दे सकें। मार्क्स और लेनिन ने मनुष्यों को सुधारने के लिए शासन की छड़ी उठायी थी; गांधी मनुष्य के भीतर प्रवेश

करते उसे नहीं थे बनाना चाहते थे। मार्क्स और लेनिन ने मनुष्यों की भौतिक आवश्यकताओं को ही उनकी एकमात्र आवश्यकता माना था; गांधी ने बताया कि मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकता भी महत्त्वपूर्ण है और दोनों ही आवश्यकताओं का समाधान साथ-साथ होना चाहिए। इसीलिए, उन्होंने श्रेष्ठ ध्येय के लिए अश्रेष्ठ साधन के प्रयोग को वर्जित माना, क्योंकि अच्छी आवश्यकता की भी पूर्ति यदि बुरे मार्ग से की गयी तो इससे मनुष्य की केवल भौतिक आवश्यकता ही पूर्ण होती है। जहाँ तक उसकी आध्यात्मिक वृत्तियों का प्रश्न है वे तो गर्हित साधनों के प्रयोग से और भी दूषित हो जाती हैं। युगवाणी में संकलित 'समाजवाद-गांधीवाद' नामक कविता में कवि की यही क्रिया प्रकट होती है।

मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन-विकास की साम्य योजना है अविवाद।

समाज-संगठन मार्क्स का अच्छा है और व्यक्ति वे अच्छे हैं जो गांधी को अपना नेता मानकर चलते हैं, किन्तु गांधी की व्यष्टि और मार्क्स की समष्टि का मेल कैसे हो? अनुमान किया जा सकता है कि गांधी का जनतंत्री ढाँचा, उस समष्टि का रूप ले ले जिसकी कल्पना मार्क्स ने की थी। मार्क्स के दलवाले तो व्यष्टि का अस्तित्व ही नहीं चाहते। फिर वे व्यक्ति को व्यक्ति रहने की स्वाधीनता देंगे कहाँ से? अजब नहीं कि कुछ इसी प्रकार की चिंताओं से निराश होकर पन्त साम्यवाद की अनेक व्याख्याओं से विमुख होने लगे हों। अथवा यह भी संभव है कि उन पर इस बात का प्रभाव पड़ा हो कि राजनीतिक प्रयोगों के परिणाम क्षणस्थायी होते हैं। मार्क्स का नाम लेकर चाहे जितनी भी कड़ाई बरती जाय, अन्ततः, मनुष्य कड़े बन्धनों को स्वीकार नहीं करेगा। राजनीति और अर्थनीति के प्रयोग मनुष्य की त्वचा पर किये जाते हैं। इससे अधिक श्रेष्ठ और टिकाऊ वह प्रयोग है जो मनुष्य को भीतर से जगाने को किया जाता है। अतएव, राजनीति और अर्थनीति की अपेक्षा संस्कृति अधिक काम्य है। इस विचार की अनुभूति युगवाणी के बाद ग्राम्या में प्रकट हुई।

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख,
अर्थ-साम्य भी मिटा न सकता मानव-जीवन के दुख।

आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
खंड मनुजता को युग-युग को होना है नव निर्मित।

और यही भाव 'सौवर्ण' में इस प्रकार प्रकट हुआ है :—

यह केवल आर्थिक न राजनीतिक ही संकट,
आज उपस्थित जो मानव-इतिहास में विकट,
वंचित जिससे नहीं कला-साहित्य-क्षेत्र भी।

विश्व में जो अशान्ति तथा असन्तोष है उसका कारण यह नहीं है कि सभी देशों की आर्थिक एवं राजनीतिक पद्धतियाँ दोषपूर्ण हैं, प्रत्युत् यह कि मनुष्य किसी अत्यन्त गंभीर संकट मे गिरफ्तार हो गया है और यह संकट मानवता के मौलिक प्रतिमानो का संकट है, मौलिक मूल्यों का संकट है। जब तक मनुष्य भीतर से नही सुधरता, राजनीतिक और आर्थिक पद्धतियाँ उसकी अशान्ति को दूर न कर सकेंगी और जब वह अन्दर से सुधर जायगा, वह प्रत्येक राजनीतिक एवं आर्थिक पद्धति को अपने अनुकूल बना लेगा। यह अनुभूति केवल पंत को ही नहीं हुई है। पश्चिमी पूँजीवादी देशों में जो आध्यात्मिक निराशा अनुभूत हुई है, इलियट की कविता उसी निराशा की कविता है। और साम्यवादी देश, भीतर ही भीतर, जिस निराशा का अनुभव करते हैं उसका उल्लेख करते हुए 'जिलास' ने लिखा है कि साम्यवादी प्रयोगों से जो निराशा उत्पन्न हुई उसके बारे मे ट्राटस्की का यह ख्याल था कि सर्वोच्च नेतृत्व का ढाँचा बदल जाय तो यह निराशा दूर हो सकती है। स्टालिन की मृत्यु के बाद नेतृत्व का ढाँचा तो बदल गया; किन्तु चीजें ज्यों की त्यों रह गयी। इससे ज्ञात होता है कि गड़बडी ऊपर नहीं, वह कहीं भीतर में है, वह जीवन के मौलिक प्रतिमानों में है।

ग्राम्या के बाद अरविन्द-दर्शन के संपर्क ने पंत जी के चिंतन को परिष्कृत एवं सुदृढ़ बना दिया वे मैटर के गुणों पर मुग्ध थे, किन्तु, आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखने के कारण भूत उन्हें सर्वतोभावेन ग्राह्य नहीं था। अरविन्द-दर्शन ने उन्हें बताया कि भौतिक गुण भी बिलकुल त्याज्य नहीं, एक सीमा तक ग्राह्य हैं, बशर्ते कि इन गुणों के विकास से आत्मा के उत्थान में बाधा न पडती हो। निष्काम भोग भारत में सदा से त्याग का पर्याय माना जाता रहा है। अरविन्द ने भौतिक गुणों को ग्राह्य बताकर भारत की इसी परम्परा को नवयुग की भाषा मे स्वीकृति प्रदान की है।

एक जोग में भोग है, एक भोग में जोग,
एक बुड़हि बैराग्य में, इक तरहि सो गिरही लोग।

प्राचीन युग में इस आदर्श के सबसे बड़े प्रतीक राजा जनक थे और मध्य-काल में आकर कबीर और नानक जैसे महात्माओं ने जब विवाह और गार्हस्थ्य को स्वीकार करते हुए अपना आध्यात्मिक विकास किया तब उन्होंने भी राजा जनक के ही आदर्श का पालन किया था। यह आदर्श नवयुग के संतों में फिर से झलक मारने लगा है। गाँधीजी सपत्नीक रहे, परमहंस रामकृष्ण सपत्नीक रहे और अरविन्द-आश्रम के साधक भी बाल-बच्चों के साथ रहकर ही अपनी साधना करते हैं।

अरविन्द ने भूत को एक हद तक प्रधानता दी और कृच्छ्र मतिवाद का पक्ष-समर्थन नहीं किया, इससे यह अनुमान तो निकलता है कि नारी और गृहस्थी के प्रति उनका हृदय सम्मानशील था, किन्तु साधकों के लिए काम त्याज्य है या नहीं, इस विषय में उनका भी प्रायः वही मत है जो परमहंस रामकृष्ण और महात्मा गाँधी का था अर्थात् नारी साथ रखने योग्य तो है, किन्तु काम त्याज्य है। सावित्री के रूप-वर्णन में अरविन्द ने कहीं से भी कोई ऐसा भाव आने न दिया जिससे काम की कोई उत्कट गंध आती हो।

'उसका शरीर अति दिव्य ऊषा के समान था जो प्रच्छन्न देवत्व के विश्राम-कुंज-सा लगता था, जो उस लोक के स्वर्ण-मन्दिर-द्वार-सा प्रतीत होता था जो लोक यहाँ नहीं, यहाँ से बहुत दूर आगे है। ..उसकी दृष्टि, उसकी मुस्कान स्वर्गीय चेतना को जगानेवाली थी। ..उसकी प्राणु वासना नील-निर्मल व्योम के समान संतुलित और शान्त थी।...उसकी परिखाएँ भी ज्योति की कन्दराओं के समान थीं...वह उस अगाध सागर के समान थी जिसमें जल के स्थान पर निष्कंप कौमार्य-वह्नि विराज रही हो'।

नारी-रूप के चित्रण में पंत इस संयम का पालन नहीं करते। मनुष्य के आगामी रूप की कल्पना उन्होंने बार-बार की है और उस कल्पना में अरविन्द की अतिमानसी कल्पना का स्पर्श भी प्रायः सर्वत्र दिखायी देता है, किन्तु उनकी अतिमानसी धरातल की नारी भी वैसी ही उद्दीपनमयी हो गयी है जैसी वह आज के धरातल पर पायी जाती है।

सुप्त स्वर्ण-चक्रांगों-से सुकुमार उरोजों पर स्थित
शुभ्र सुधा के मेघों की जाली उठती, गिरती नित।
ज्योति-भँवर-सी सुघर नाभि प्रिय रजत-फुहार उदर में,
स्वर्ण-वाष्प का घन लटका जघनों के माणिक-सर में।
स्वर्णिम निर्झर-सी रति-सुख की जंघाओं पर पेशल
लिपटी जीवन की ज्वाला निज दीपन करती शीतल।
(स्वर्णकिरण; सौन्दर्य-चेतना)

"ज्योति-भँवर-सी सुघर नाभि" की प्रेरणा अरविन्द की "ईवन हर गल्फस वेयर द सिक्रेसीज आव लाइट" से आयी हुई जान पड़ती है। किन्तु अरविन्द ने सावित्री-वर्णन में पवित्रता का जो वातावरण रखा है उसके कारण इस रूपक की वासना सावित्री-काव्य में नहीं भड़कती। किन्तु ऊपर के उद्धरण की अंतिम तीन पंक्तियों से उत्कट वासना की गन्ध आती है।

और इतना ही नहीं, अन्यत्र भी, पंत के विचार-काव्य में नारी के जिस रूप का वर्णन मिलता है, वह अत्यन्त मादक, उत्तेजक और मन को काम की दिशा में प्रेरित करनेवाला है।

सीप-छटा-सा उदर, नाभि मुक्ताफल-सी स्मित
पुष्प-पुलिन जघनों पर चिर लालसा तरंगित।
* * *
चिर अधखुले उरोजों पर जलते थे उडुगण,
रजस्राव के अभ्रक से ज्योतित भू-रज-कण।
वसुधा के उरोज-शिखरों से खिसका चल मलयांचल,
सरिता की जाँघों से सरका लहरा रेशम-सा जल।
(स्वर्णकिरण ; मनःस्वर्ग)

और उसी कविता में मुक्ति के वक्षस्थल पर हाथ धर कर सोये हुए सत्य का यह चित्र देखिये,

अर्ध-विवृत जघनों पर तरुण सत्य के सिर धर
लेटी थी वह दामिनि-सी रुचि-गौर कलेवर;
गगन-भृंग-से लहराये मृदु कच अंगों पर,
वक्षोजों के खुले घटों पर लसित सत्य-कर।

अतिमानसी धरातल की कल्पना स्वर्णकिरण की अपेक्षा उत्तरा में बहुत अधिक निखरी है और जिस मनुष्य की कल्पना स्वर्णकिरण में की गयी है उसके भावों और अनुभूतियों की कल्पना से सारी उत्तरा व्याप्त है। उत्तरा में भी नारी के भोग्य रूप पर ललचाने का वही भाव है जो स्वर्णकिरण में था।

लिपटे भू के जघनों से घन, प्राणों की ज्वाला जन-मावन,
नाभि-गर्त में घूम भँवर-सी करे मर्म आकांक्षा नर्तन।
(भू-प्रांगण)

कब तप्त लालसा के मुख पर छापोगे तुम शीतल चुंबन ?
शोभा के रहस उरोजों पर कब प्रीति धरेगी उपकृत कर ?
(गीत-विभव)

वह देवों के उपभोग हेतु मिय खोल रही निज वक्षस्थल,
उसके प्राणों का हरित तिमिर जीवन में निखर रहा उज्ज्वल।
(भू-स्वर्ग)

शृङ्गार के रंग मे डूबे हुए इन चित्रों पर शुद्ध साहित्य की दृष्टि से कोई बड़ी आपत्ति नही की जा सकती। जहाँ तक शील का प्रश्न है, उसका भी इतना भर उल्लंघन, कवि प्राय: करते ही आये हैं। शका मेरी यह है कि आध्यात्मिक प्रसगो में नारी-रूप और काम-भावना का ऐसा वर्णन किया जाना ठीक है या नही। कविता रचते समय कवि-कल्पना अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार ही काम करती है। अतएव, इन शृङ्गारिक चित्रणो का भी मुख्य कारण तर्क नहीं, भाव ही होगा। मुझे दो तर्कों का अनुमान होता है जो ऐसे वर्णन का समर्थन कर सकते हैं। पहला यह कि भूत जब सत्य है तब भौतिक आनन्द की व्याख्या या आख्यान दोष नही हो सकता। ऐसे आख्यानों से ही मनुष्य का वह संस्कार क्षीण होता है जिसकी शिक्षा यह है कि आत्मा को उन्नति में शरीर बाधा उपस्थित करता है, अतएव उसे दबाकर रखो। और दूसरा यह कि नारी को देखकर नर में और नर को देखकर नारी मे जो ललक और आकर्षण उत्पन्न होता है उसे दबाना नहीं चाहिए क्योंकि यौन आवेग दबाये जाने पर मन मे कुंठाओं को जन्म देते हैं।

एक दूसरी दृष्टि से विचार करने पर ये दोनों ही तर्क खंडित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, यह तो माना कि भूत सत्य है, अतएव दैहिक आनन्द

से मुँह नहीं फेरना चाहिए। इस आनन्द का रूप क्या होगा ? काम-भावना की शारीरिक अभिव्यक्ति अथवा उसका उन्नयन ? शरीर के धरातल पर काम-भावना की अभिव्यक्ति अत्यन्त साधारण मानवता का लक्षण है। उच्च मानवता का आरम्भ तब होता है जब व्यक्ति अपनी काम-शक्ति को खींच कर उसे शरीर से भिन्न, किसी ऐसे धरातल पर ले जाय जहाँ वह अपने आवेगों की अभिव्यक्ति कला, ज्ञान, विज्ञान और योग आदि क्रियाओं द्वारा कर सके। ऐसा करने से व्यक्तित्व में कुंठाएँ उत्पन्न नहीं होती, यह शिक्षा मनोविज्ञान से भी मिलती है और उन लोगों के जीवन से भी जिन्होंने अपनी शक्तियों का उपयोग रचनात्मक ध्येयों के लिए किया है। यहाँ, यह मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है कि स्वर्णकिरण, उत्तरा आदि काव्यों मे पंत जी अपने व्यक्तित्व का सूक्ष्मीकरण करते रहे हैं। अध्यात्म के प्रसंग में इसका उल्लेख कुछ अधिक संयत रूप में होना चाहिए। विशेषतः मानस से अधिमानस की यात्रा अत्यंत कठिन प्रक्रिया है और मनुष्य के पास एक ही इंजिन है जिसका नाम कामशक्ति है। अब चाहे वह इसे ट्रैक्टर में लगाकर खेत जोते या वायुयान मे बाँध कर ऊपर उड़ जाय। और कहीं अतिमानवी स्थिति में पहुँच जाने पर भी नर और नारी शारीरिक सुखों के लिए उसी प्रकार तड़पते रहे जैसे वे आज तड़पते हैं, तो फिर उस स्थिति की कोई अनुकूल कल्पना करने में हम असमर्थ हैं।

इन शृङ्गार-खंडो की आलोचना मैंने इसलिए की है कि उनका वर्णन अतिमानव के प्रसंग मे किया गया है अथवा यह दिखाने को किया गया है कि मनुष्य जब आगे बढ़ेगा तब उसके ये लक्षण होंगे। मेरा मत है, ये लक्षण तो उसमें बहुत दिनों से मौजूद रहे हैं। वास्तविकता यह है कि इन लक्षणों के परिमार्जित हुए बिना मनुष्य की आत्मिक प्रगति नहीं होती। यह वर्णन यदि वर्तमान मानवता के प्रसंग में पढ़ा जाय, तो फिर आपत्ति की कोई वैसी बात नहीं रह जाती।

नैतिकता

अतिमानव के प्रसंग मे पंत द्वारा वर्णित उद्दीपक शृङ्गार चाहे जितना भी अनुचित दीखे, किन्तु अपने भूत-अध्यात्म-मिश्रित दर्शन से उन्होंने नयी नैतिकता के जो सिद्धान्त निकाले हैं उन्हें मैं समाज के लिए उपयोगी मानता हूँ और मेरा अनुमान है कि उनके प्रचलन से दंपतियों के जीवन में सुख और शान्ति

की वृद्धि होगी। आधुनिक कवि की भूमिका में उन्होंने लिखा है, "सामन्त-युग के स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्यंत संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदंड स्त्री की शरीर-यष्टि रहा है। उस सदाचार के एक अंचल-छोर को हमारी मध्ययुग की सती और हमारी बाल-विधवा अपनी छाती से चिपकाये हुए है और दूसरे छोर को उस युग की देन 'वेश्या'। यह भी कि "भारत की मध्य युग की नैतिकता का लक्ष्य ही अतृप्त वासना और मूक वेदना को जन्म देना रहा है।" लक्ष्य रहा हो या नहीं, किन्तु यह ठीक है कि वेश्या-प्रथा का जन्म प्राचीन नैतिकता के ही कारण हुआ, यद्यपि इस कटु सत्य को वे लोग स्वीकार नहीं करते जो प्राचीन नैतिकता के पक्षपाती हैं। पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध में जो महत्त्व प्रेम को दिया जाना चाहिए था, वह महत्त्व प्राचीन नैतिकता ने उनके आचरणों की शुद्धता को दे दिया। और आचरणों की शुद्धता का पालन करवाने के लिए उस नैतिकता ने नारियों से वे सभी अवसर छीन लिये जिनका उपयोग स्खलन के निमित्त किया जा सकता था। पुरुष ऐसे सभी अवसरों से वंचित नहीं किया जा सका। परिणाम यह हुआ कि पुरुषों ने अपने मनोरंजन के लिए वेश्या-प्रथा का प्रचलन करवा दिया और नारियाँ बीसों प्रकार के छल-प्रपंचों, कुंठाओं और वंचनाओं का शिकार होती रहीं। ऊपर-ऊपर तुलसी के पत्तों का आवरण और भीतर-भीतर छल और वंचनाओं के खेल, यह स्थिति प्राचीन नैतिकता के ही कारण उत्पन्न हुई है।

इस नैतिकता के स्थान पर पन्त जी जिस नयी नैतिकता का प्रचलन चाहते हैं उसका प्रथम सूत्र यह है कि नर-नारी का दैहिक मिलन घृणा की वस्तु नहीं है, वह स्वाभाविक प्रवृत्ति है, और उससे जो निश्छल प्रेम की धार फूटती है वह प्रेमियों के लिए सुधावृष्टि के समान है। फिर ऐसी नैसर्गिक क्रिया से झेंपना क्या?

धिक् रे मनुष्य! तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुंबन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर?
मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके, गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से कायर?
क्या क्षुधा, तृषा और स्वप्न-जागरण-सा सुन्दर
है नहीं काम भी नैसर्गिक जीवन-द्योतक?

मत कहो मांस की दुर्बलता हे जीव प्रवर!
है पुण्य-तीर्थ नर-नारी-जन का हृदय मिलन।
आनन्दित होओ, गर्वित, यह जीवन का वर,
गौरव दो द्वन्द्व-प्रणय को, पृथ्वी हो पावन!

(ग्राम्या)

और यही भाव युगवाणी मे इस प्रकार उतरा था :—

क्षुधा-तृषा ही के समान युग्मेच्छा प्रकृति-प्रवर्तित,
कामेच्छा प्रेमेच्छा बन कर हो जाती मनुजोचित।

(युगवाणी : नारी)

ऊपर मैंने कहा है कि अरविन्द आध्यात्मिक और पन्त मुख्यतः सामाजिक हैं। पंत ने नर-नारी-सम्बन्धों की व्याख्या जिस रोचकता और गहराई से की है उससे यह बात और स्पष्ट हो जाती है। अरविन्द ने दिव्य जीवन और सावित्री की रचना इस उद्देश्य से की है कि मनुष्य का भूत-भ्रमित मन अध्यात्म की ओर मुड सके। पन्त ने अरविन्द से जो प्रेरणा पायी उसका उपयोग उन्होने अधिक सुन्दर समाज की कल्पना करने में किया है। असल में, मनुष्य के शरीर पर पंत भूतवाद का शासन मानते हैं, उसके मन पर प्राणिवाद का तथा हृदय पर अध्यात्म का। भौतिक शरीर में प्राणिशास्त्रीय मन और आध्यात्मिक हृदय, पन्त की कल्पना के मनुष्य के ये तीन लक्षण प्रधान हैं।

वही सत्य कर सकता मानव-जीवन का परिचालन
भूतवाद हो जिसका रजतन, प्राणिवाद जिसका मन,
औ अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गभीर चिरंतन
जिसमें धूल सृजन-विकास के, विश्व-प्रगति के गोपन।

(स्वर्णधूलि : लोकसत्य)

उसी संग्रह की कोटन की टहनी नामक कविता में पन्त ने मानव की तुलना उद्भिज से की है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जैसे पौधों के सम्यक् विकास के लिए आकाश और वायु के अतिरिक्त मिट्टी की भी आवश्यकता होती है, वैसे ही मनुष्य के लिए भी आधिभौतिक सुख आवश्यक हैं।

यह सच है, यह किरण-पलकियों का पाता प्रिय चुम्बन,
पर, प्रकाश के साथ चाहिए प्राणों को रज का तम।
पौधे हो क्या, मानव भी यह भूजीवी निःसंशय,
मर्म-कामना के विरवे मिट्टी में फलते निश्चय।
(स्वर्णधूलि)

इसलिए पन्त नर-नारी-मिलन को आत्मा की प्रगति में बाधक नहीं मानते। बाधा वह तभी होता है, जब जोड़ों के बीच निश्चय प्रेम नहीं हो। शारीरिक मिलन में जो दोष या मैल है वह सात्त्विक प्रेम-प्रवाह से धुल जाता है। यही नहीं, प्रीति में ऐसी शक्ति है कि वह स्खलितता को भी पवित्रता प्रदान कर सकती है। स्वर्णधूलि की पतिता शीर्षक कविता की नायिका लुटेरों द्वारा दूषित कर दी गयी थी, किन्तु उसका पति वैभव जब यह समाचार सुनता है, उसे आक्रोश, ग्लानि या परिताप नहीं होता। वह कहता है, देह तो सदैव कलुषित ही होती है, उसे क्या देखना? देखना यह चाहिए कि मन में मैल है या नहीं।

मन से होते मनुज कलंकित, रज की देह सदा से कलुषित,
प्रेम पतित-पावन है, तुम को रहने दूंगा मैं न कलंकित।

शरीर और मन के इस भेद में दूर-दूर की व्याप्तियाँ दिखायी देती हैं जिन में दो तो बहुत ही प्रखर हैं। एक यह कि समाज-पद्धति की विवशता से जो नारी रूप का व्यापार करके जीवन-निर्वाह कर रही है, पंत जी की नैतिकता में उस अभागिनी का स्थान कहाँ बनेगा? और दूसरा यह कि पति-पत्नी यदि एक-दूसरे के प्रति प्रेमासक्त न हों तो यह नैतिकता उन्हें किस दृष्टि से देखेगी? स्वर्णधूलि की परकीया शीर्षक रचना में पन्त ने इन दोनों समस्याओं का समाधान दिया है। पहली समस्या का समाधान यह है कि यदि वेश्या का मन उसके व्यवसाय में नहीं है तो उसे पतिता समझने का कोई आधार नहीं है।

यद्यपि जबाला-सदृश आपको अर्पित कर अपना यौवन-धन
देना पड़ा मूल्य जीवन का तोड़ बाह्य सामाजिक बंधन।
फिर भी लगता मुझे, आपने किया पुण्य-जीवन है यापन,
बतलाती यह मन की आभा, कहता यह गरिमा का आनन।

पंकिल जीवन में पंकज-सी शोभित आप देह से ऊपर,
वही सत्य जो आप हृदय से, शेष शून्य जग का आडंबर।

और दूसरे प्रश्न का भी उत्तर इसी न्याय से निकलता है। पति-पत्नी यदि परस्पर प्रेमासक्त हैं तो उनके कामाचार में कोई दोष नहीं है। अन्यथा विवाह केवल कामाचार का समर्थन मात्र है। उसे हम दो आत्माओं का मिलन नहीं कह सकते।

पति-पत्नी का सदाचार भी नहीं मात्र परिणय से पावन,
कामनिरत यदि दंपति-जीवन, भोग मात्र का परिणय साधन।

इस नयी नैतिकता का सारा जोर प्रेम पर है। जब तक प्रेम है तब तक विवाह है। प्रेम के खंडित होते ही विवाह को खंडित हो जाना चाहिए। इसी प्रकार, जो सम्बन्ध विवाह पर आधारित नहीं है, वहाँ भी यदि नर-नारी में सात्त्विक प्रेम हो तो उनका मिलन दूषित नहीं, पवित्र माना जाना चाहिए। स्वकीया और परकीया का जो परम्पराभेद है उसका रूप इस नैतिकता के सामने विलुप्त हो जानेवाला है।

अतः स्वकीया या परकीया जन-समाज की है परिभाषा,
कामयुक्त औ प्रीतियुक्त होगी मनुष्यता, मुझको आशा।

नारी-जागरण और छायावाद

छायावाद-युग में नारी को देखनेवाली कवि-दृष्टि अत्यन्त पवित्र थी। वह नारी के रूप पर केवल विस्मित होना जानती थी। वह नारी के सौन्दर्य को महासौन्दर्य से एकाकार मानती थी। अतएव छायावादी कवि नारी रूप को दर्शन तथा चिंतन के धरातल से नीचे लाने के विरुद्ध थे।

वास्तव में छायावाद नारी-समस्या पर इस दृष्टि से विचार नहीं करता था कि नारी पुरुष के साथ समकक्षता कैसे प्राप्त कर सकती है। वह नारी को समस्त भव्य प्रेरणाओं का उद्‌गम मानता था। वह उसे जीवन पर फैली हुई चाँदनी और स्वप्नों की प्रतिमा कहता था और उसकी चेष्टा थी कि नारी कोमल, मृदुल, मोहिनी और आकर्षक बनी रहे जिससे पुरुष उसे देखकर अपनी क्लान्ति भूलने में समर्थ हो। स्पष्ट ही, यह आग्रह पुरुष की वासना की तृप्ति

का आग्रह था। छायावाद के उपचेतन में नारी का मोहिनी-रूप निवास करता था, केवल ऊपरवाले मन से छायावाद नारी को दिव्या के पद पर आसीन रखना चाहता था। स्पष्ट ही यह दृष्टि उसकी दृष्टि नहीं हो सकती जो नारियों को सचमुच पुरुषों का समकक्ष बनाना चाहता हो। नारी के अनेक बन्धनों में से एक बहुत बड़ा बन्धन काम भी है और उस बन्धन का रूप यह है कि नर नारी की कोमलता पर मुग्ध है तथा इस कोमलता और मृदुलता की रक्षा के लिए वह नहीं चाहता कि नारियाँ सचमुच पुरुषों की समकक्षिणी हो जायँ, क्योंकि समकक्षता पाने के लिए उन्हें आर्थिक स्वाधीनता के लिए प्रयास करना होगा और आर्थिक स्वाधीनता तभी मिल सकती है जब वे खेतों और कल-कारखानों में काम करें। और परिश्रम करने से तो पसीना चलता है और उससे प्रसाधन धुल जाते हैं।

युगवाणी के बाद से पन्त इस छायावादी संस्कार से निकलने लगे हैं। रजतशिखर का युवक जब युवती को छायावादी शैली में अपने प्रेम की याद दिलाता है तब युवती उससे कहती है,

जो भी समझो, यह केवल कैशोर प्रणय था !
अभी नहीं छूटी क्या मुग्ध तुम्हारे मन से
मेहँदी की लाली-सी वह कैशोर भावना
जिसने निज यौवन-उन्मुख प्रच्छन्न राग से
था अजान रंग दिया कपोलों को व्रीड़ा को ?
आज प्रेमविषयक इन मध्ययुगी शुक-जल्पित
उद्गारों की कीर्ति तुम्हारे मुख से सुनकर
मेरा मन अवसन्न, हृदय उद्विग्न हो उठा।
(रजतशिखर)

और तब युवक को भी यह ज्ञान होता है कि काम की शुद्धि के बिना जीवन की वास्तविक सुन्दरता नहीं निखर सकती।

काम शुद्ध कांचन की प्राणोज्वलता से ही
जीवन-शोभा की प्रतिमा हो सकती निर्मित।
(रजतशिखर)

यह कामशुद्धि होगी कैसे ? उसका एक उपाय काम को प्रेम पर आधारित करना है जिसकी अभिव्यक्ति पंत के विचार-काव्य में अनेक स्थलों पर पायी जाती है।

प्रीति-पाश में बँध सुन्दरता काम-भीति से हो अकलंकित।

*   *   *

स्वस्थ हृदय तारुण्य प्रणय को करें युग्म निज अर्पित।

*   *   *

बहता स्निग्ध स्पर्श प्राण में अमर चेतना-सा नव,
उर को होता चिर-प्रतीति की मधुर मुक्ति का अनुभव।

(स्वर्णकिरण)

केवल प्रेम क्या यथेष्ट है ? दिमागी काम का रोग प्रेमी को भी होता है। प्रेम की सार्थकता इतनी ही मानी जा सकती है कि उससे कामाचार निर्दोष हो जाता है। प्रेम भावना है और भावनाएँ, अन्ततः ज्ञान का ही अंग होती हैं। स्वस्थ जीवन के लिए ज्ञान और कर्म, प्रेम और कर्तव्य, दोनों का समन्वय चाहिए। नर-नारी परस्पर प्रेम के बन्धन में बँधे रहें, यह ठीक है, किन्तु स्वस्थ काम की स्थिति उन्हें तब भी प्राप्त नहीं हो सकती। मनुष्य का मानसिक स्वास्थ्य काम को याद रखने मे नहीं, उसे भूल जाने में है, अपने जीवन में उसे गौण कर देने में है। और इसका सरल उपाय यह है कि नर और नारी श्रम का कोई काम करें, समाज को अपनी सेवाएँ अर्पित करने में लग जायें। तभी काम का स्वस्थ रूप प्रकट हो सकता है। इसीलिए, मेरा विचार है कि नर-नारी-समस्या का जो समाधान रोमांटिक कवियों और चिन्तकों ने दिया है वह किसी काम का नहीं है। इस समस्या का श्रेष्ठ समाधान वह है जिसकी ओर इंगित गांधी और मार्क्स अथवा गांधी या मार्क्स ने किया है। यह समाधान ग्राम्या की "मजदूरनी के प्रति" कविता में झलक मारता है। काम-जनित सभी मानसिक हलचलों की महौषध कर्म है, अध्यवसाय है, मन को किसी न किसी ठोस काम में लगाये रखना है। जिस समस्या पर यहाँ विचार हो रहा है उसकी दृष्टि से आदर्श नारी वह नहीं है जो प्रेम में डूबी और भाँति-भाँति की कल्पनाओं से सिहरती रहती है, प्रत्युत् वह जो कोई ठोस काम कर रही है।

तुम प्रिय हो मुझे, न छूतो तुमको काम-लाज।
कुलवधू-सुलभ संरक्षणता से हो वंचित,
निज बंधन खो तुम ने स्वतंत्रता को अर्जित।
स्त्री नहीं, आज मानवी बन गयी तुम निश्चित
जिसके प्रिय अंगों को छू अनिलातप पुलकित।

(ग्राम्या)

पंत का नवीन दर्शन भूत और आत्मा के संघर्ष से उत्पन्न हुआ है। जीवन के भौतिक रूप को ग्रहण करने की प्रक्रिया में वे नारी को ग्रहण करते हैं और आत्मा के विकास की प्रक्रिया में वे नर-नारी संबंध को किसी उच्च धरातल पर अवस्थित करना चाहते हैं। यह उच्च धरातल उन्हें निश्छल प्रेम में दिखायी देता है जो एक सीमा तक ठीक है। किन्तु कर्मठता के अभाव में क्या प्रेम स्वस्थ रह सकता है ? फिर भी, कर्मठता का समर्थन केवल मजदूरनी कविता में है। बाकी सभी कविताओ मे पत केवल प्रेम की दुहाई देते रहे हैं। यह कदाचित् छायावादी सस्कार का अवशेष है।

व्यष्टि और समष्टि

बहुत कुछ इसी प्रक्रिया से उन्होने व्यष्टि और समष्टि के बीच भी समन्वय स्थापित किया है। पन्त के अनुसार, ऊर्ध्व और समदिक्, ये जीवन की दो गतियाँ है और जीवन के चौकोर विकास के लिए दोनो ही गतियाँ अनिवार्य हैं। ऊर्ध्व-गति मनुष्य के निजी व्यक्तित्व की गति है और समदिग् गति उसके सामाजिक रूप की। मनुष्य अपना भी उत्थान करता है और वह पूरे समाज को भी आगे ले जाता है। यह बहुत कुछ पृथ्वी की उभय गतियो के समान है। पृथ्वी अपनी कील पर भी घूमती है और सूर्य के भी चारों ओर। यह नही हो सकता कि पृथ्वी सूर्य के चारो ओर तो घूमती जाय, किन्तु अपनी कील पर घूमना वह छोड़ दे। कारण स्पष्ट है। यदि पृथ्वी अपनी कील पर नही घूम सकती तो फिर उसकी सारी गति मारी जायगी और वह सूर्य के भी चारों ओर चक्कर नही दे सकेगी। इसी प्रकार समाज की प्रगति मे भी सहायक वही मनुष्य होगा जो अपने निजी व्यक्तित्व को सहायता, प्रगति अथवा उत्कर्ष दे सकता है। समाज सुखी है, इसके मानी तो यही हैं कि समाज मे रहनेवाले व्यक्ति सुखी हैं। व्यक्ति की प्रगति से भिन्न समाज की प्रगति की

कल्पना करना बिलकुल अनर्गल बात है। इसलिए पन्त के दर्शन में व्यष्टि और समष्टि के बीच कोई विरोध नहीं है। ये दोनों सत्य हैं और दोनों को एक दूसरे से बल प्राप्त होता है।

ऊर्ध्व संचरण में रे व्यक्ति निखिल समाज का नायक,
समदिग् गति में सामाजिकता जनगण-भाग्य-विधायक।
(स्वर्णकिरण)

जो लोग व्यक्तिवाद का आश्रय लेकर समाज का शोषण और अपना वैभव-विकास करते हैं, उनकी और बात है। पन्त का दर्शन उनकी सहायता नहीं कर सकता। मुख्य प्रश्न यहाँ यह है कि व्यक्ति की रुझान आत्मा की ओर तथा समष्टि की शरीर की ओर होती है। इन दो स्थितियों का समन्वय इसमें है कि जो आत्मा के सेवक हैं उन्हें भी शरीर-सेवा की ओर उन्मुख होना चाहिए तथा जो शरीर को सँवारने में लीन हैं उन्हें भी यह ध्यान रखना है कि मनुष्य केवल शरीर नहीं है, उसके आत्मा भी होती है।

ऊर्ध्व चेतना को चलना भू पर धर जीवन के पग,
समदिक् मन को पंख खोल चिद् नभ में उठना व्यापक।
प्राणिशास्त्र को मानवीय बनना पीकर आत्माऽमृत,
मनःशास्त्र को ऊर्ध्व तथा नव भौतिक दिशि में विस्तृत।
(स्वर्णकिरण)

व्यष्टि और समष्टि का द्वन्द्व असल में भूत और आत्मा का ही द्वन्द्व है। जब तक भौतिक विज्ञान न बढ़ा था, व्यक्ति प्रत्येक देश में आज की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र था। किन्तु विज्ञान की बढ़ती के साथ शासन के लिए यह अधिक से अधिक आसान होता आया है कि वह चाहे तो राजधानी में बैठकर देश भर के लोगों को वैयक्तिक अधिकारों से, बहुत दूर तक, वंचित कर दे। विज्ञान के विकास से अधिकारों को एक स्थान पर केन्द्रित करने की प्रवृत्ति बढ़ती है और विज्ञान के कारण भी आज मनुष्य अपनी मर्यादा से हीन हो रहा है। रजतशिखर में कवि और वैज्ञानिक के संवाद में कवि कहता है,

किन्तु, पूछता हूँ मैं तुमसे, आज मनुज क्या
स्वामी है या दास प्रकृति का? वह विद्युत् पर

शासन करता है या विद्युत् वाष्प-यंत्र ही
अधिकृत उसे किये हैं ? हाय, मनुज का अंतर
चूर्ण हो रहा आज दर्प से, बहिर्जगत् की
अंध-वीथियों में शत खोकर, लक्ष्य-भ्रष्ट हो
हृदयहीन कर दिया उसे जड़ भौतिकता ने।

इस स्थिति से निकलने का उपाय क्या है ? क्या विज्ञान का त्याग ? वह असंभव है। दोष विज्ञान का नहीं, मनुष्य का है जो मलिन भावों से युक्त होने के कारण विज्ञान का सही ढंग से उपयोग नहीं कर सकता। अतः बाह्य संगठनों से मनुष्य का सम्यक् परिष्कार नहीं हो सकता। उसे अन्तःसंगठन की आवश्यकता है। विज्ञान के साथ मनुष्य के मानवीय गुणों का भी विकास होना चाहिए, यही पंत के उस दर्शन की सार्थकता प्रतीत होती है जिसके अनुसार मनुष्य की समदिक् और ऊर्ध्व, दोनों ही गतियाँ अनिवार्य हैं। रजतशिखर का वैज्ञानिक भी अन्ततः कवि के सामने स्वीकार करता है कि

……आज मुझे भी
महत् प्रेरणा मिली, मनुज अन्तर्जीवी है।
स्पष्ट देखता हूँ मैं, अन्तर का विधान ही
मानव है अन्त संयोजित, ऊर्ध्व-समन्वित।
आज मनुज मर गया; पराजित हो भीतर से
दौड़ रहा है वह बाहर व्यक्तित्वहीन हो।
व्यक्तिहीन सामाजिकता निर्जीव ढेर है।
महत् व्यक्ति चाहिए आज सामूहिक युग में।

(रजतशिखर)

चींटी से लेकर महाग्रहों तक और पल से लेकर महाकाल तक, सारा जीवन एक है। अतएव धर्म और विज्ञान, आत्मा और शरीर तथा व्यष्टि और समष्टि के बीच जो व्यवधान दिखायी देते है, वे ऊपरी व्यवधान हैं। वास्तव में ये व्यवधान परस्पर संघर्ष नहीं करते, वे एक-दूसरे को बल पहुँचाते हैं।

महाश्चर्य है! यही सत्य है! ऊपर है जो
शिखर, वही नीचे प्रसार है! एक संचरण

मात्र ! ऊर्ध्व हो अथवा समदिक्, दोनों ही पर
अन्योन्याश्रित हैं निश्चय ! दोनों के ऊपर
एक अनिर्वचनीय रहस्य, हृदय-रोमांचक।

(रजतशिखर)

इसी प्रकार विद्या और अविद्या के भेद भी ऊपरी भेद हैं। वस्तुतः अरविन्द-दर्शन के अनुसार अविद्या का अस्तित्व नहीं है। अविद्या भी ज्ञान ही है, किन्तु प्रच्छन्न। अतएव विद्या-अविद्या का विवाद भी उतना ही व्यर्थ है जितना व्यष्टि और समष्टि को लेकर चलनेवाला विवाद।

अंध तमस में गिरते वे जो मात्र अविद्या में रत,
उससे भूरि तमस में वे जो विद्या में रत संतत।
विद्याऽविद्या उभय एक में, भेद जिन्हें यह अवगत,
विद्यामृत पी मृत्यु-अविद्या से वे तिरते अविरत।
ब्रह्म-ज्ञान रे विद्या ! भूतों का एकत्व, समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक ज्ञान का परिचय।
आज जगत् में उभय रूप तम में गिरनेवाले जन।
ज्योति-केतु-ऋषि-वृष्टि करे उन दोनों का संचालन।

(स्वर्णकिरण)

स्वर्ग और पृथ्वी का विवाह

ऊर्ध्व और समदिक् संचरणों के इसी समन्वय से पंत के भीतर स्वर्ग और पृथ्वी को परिणय-सूत्र में बाँधने की वह कल्पना उद्भुत हुई होगी जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने बार-बार की है :—

बाँधो हे, इस इन्द्रधनुष को धरती की वेणी पर,
जीवन के तम की कबरी हो स्वर्ग-विभा से भास्वर।

(स्वर्णकिरण ; इन्द्रधनुष)

स्वर्ग और वसुधा का करने स्वर्णिम परिणय
इन्द्रचाप का सेतु रच रहे तुम ज्योतिर्मय !

(स्वर्णकिरण; अरविन्द दर्शन)

.....स्वर्ग की वेणी से मैं
इन्द्रधनुष को छीन धरा के तिमिर-पाश में
उसे गूँथ जाऊँगा। (रजतशिखर)

धरा-स्वर्ग को स्वप्न-सेतु में बाँध सुनहले
मैं सोपान बना जाऊँगा सुर-नर-मोहन। (रजतशिखर)

अमर कल्पना-पंख खोल रत्नच्छायास्मित
सेतु बाँध जो गये धरा को मिला स्वर्ग से। (शिल्पी)

जब से संसार में विज्ञान का बोलबाला शुरू हुआ, दिनों दिन आधिभौतिक प्रभावों में वृद्धि होती गयी है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इस युग में अध्यात्म की प्रगति नहीं हो रही है। सच तो यह यह है कि साम्यवादी देशों को छोड़कर, पूर्व और पश्चिम, दोनों ही गोलार्द्धों में आध्यात्मिक चिंतन प्रगति कर रहा है और उसके फलस्वरूप वैराग्य, सन्यास, मुक्ति और धर्म-सम्बन्धी हमारी भावनाओं में अनुकूल परिवर्तन भी घटित हो रहे हैं। यदि थोड़े में इस परिवर्तन की व्याख्या की जाय तो यह कहना चाहिए कि वर्तमान युग धर्म के औपचारिक अनुष्ठानों में विश्वास करना नहीं चाहता। आज के आस्तिक जगत् का अन्तर्मन धर्मों को छोड़कर धर्म को पकड़ना चाहता है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि सन्यास और गार्हस्थ्य के बीच की दूरी दिनों दिन क्षीण हो रही है। सन्यासी का जो महत्त्व पहले के युगों में था वह घट रहा है और गृहस्थ सन्यासियों से पहले जितना हीन समझा जाता था उतना हीन अब वह नहीं समझा जाता। धर्म पर से संन्यासियों, वैरागियों, पंडितों और पुरोहितों का एकाधिकार उठता जा रहा है और बड़ी ही क्षिप्रता से साथ, यह विचार प्रगति कर रहा है कि धर्म रविवार, मंगल या शुक्रवार की चीज नहीं है, वह प्रत्येक दिन बरता जाना चाहिए। इसी प्रकार, मन्दिरों और मस्जिदों की महिमा क्षीण होती जा रही है क्योंकि नवयुग का अन्तर्मन यह साक्ष्य देता है कि धर्म केवल मन्दिर और मस्जिद की ही वस्तु नहीं है, वह खेतों की मेड़ पर, व्यापारी की दूकान और राजनीतिज्ञों के महासम्मेलनों में भी बरता जा सकता है। मध्ययुगीन संतों ने तीर्थ-व्रत, पूजाविधि और धर्म के बाहरी आडम्बरों के विरुद्ध जो कुछ कहा था वह विचार अब अधिक विश्वसनीय हो रहा है। और महात्मा गांधी ने तो संसार

को यह विश्वास पूर्ण रूप से दिला दिया है कि कोई चाहे तो राजनीति-समेत जीवन के सभी क्षेत्र और अवसर धर्म-साधना के अत्यंत अनुकूल अवसर और क्षेत्र हो सकते हैं। धर्म की संगति से केवल सभा ही प्रार्थना-सभा नहीं हो जाती, कर्कश-कुटिल राजनीति भी मक्खन-सी मुलायम और तुलसीदल के समान पवित्र बन सकती है।

आगामी मनुष्य

पंत ने धरती और स्वर्ग के परिणय की जो कल्पना की है वह नवयुग की आध्यात्मिक भावनाओं के अत्यंत अनुकूल है। यदि हम कवि की कल्पना का विश्वास करें तो मनुष्यता के निराश होने का कोई कारण नहीं है। यह शीत-युद्ध की तनातनी, यह देशों का परस्पर का अविश्वास, यह शस्त्रीकरण की होड़ और प्रभावक्षेत्रों के प्रसार के लिए रचे जानेवाले ये विविध षड्यंत्र, शोषण, छीनाझपटी और धूर्तताओं में संलग्न ये सारे वर्ग, व्यक्ति और समाज तथा उद्जन बमों के ये भयानक विस्फोट, इनसे कवि तनिक भी भीत नहीं है। ये बाह्य क्रान्तियों के विस्फोट हैं, ये मानवता के समदिक् प्रसार की वेदनाएँ हैं। इनकी ओट में अथवा इनसे परे मानवता की ऊर्ध्व गति भी अपना काम कर रही है। मनुष्य प्राचीन रूढ़ियों को पहचान गया है। वह उनसे मुक्ति पाने के प्रयास में है। उसके भीतर एक नया स्वप्न आकार ग्रहण कर रहा है। यह स्वप्न जब पूर्ण रूप से साकार होगा, मनुष्य सारी क्षुद्रताओं से ऊपर उठ जायगा। उसके भौतिक शरीर के भीतर आध्यात्मिक मन का साम्राज्य होगा। उसकी नैतिकता नयी, उसका धर्म नया एवं उसके मानवीय संबन्ध भी नवीन हो जायेंगे।

> यह रे भू का निर्माण-काल, हँसता नव जीवन अरुणोदय,
> ले रही जन्म नव मानवता, अब स्वयं मनुजता होगी क्षय।
> धू-धू कर जलता जीर्ण जगत्, लिपटा ज्वाला में जन-अन्तर
> तम के पर्वत पर टूट रही विद्युत्-प्रपात-सी ज्योति प्रखर।
> संघर्षण पर कटु संघर्षण, यह दैविक-भौतिक भू-कंपन,
> उद्वेलित जन-मन का समुद्र, युग रक्त-जिह्व करता नर्तन।

(उत्तरा)

पंत की इस दृष्टि का स्रोत कहाँ से फूटता है? क्या वे यह देखकर आशा-

वान हुए हैं कि उनका देश स्वतंत्र होते ही शान्ति और सद्भाव के प्रचार में लग गया है? अथवा यह देखकर कि धनी देश निर्धन देशों का स्तर ऊँचा करने के निमित्त मुक्त हृदय से ऋण और दान दे रहे हैं? अथवा यह देखकर कि स्टालिन की मृत्यु के बाद से रूस कुछ उदार होने की चेष्टा में है? अथवा इन सारी आशाओं का केन्द्र पाडिचेरी के प्रति उनका अटूट विश्वास है? इन प्रश्नों का समाधान देना कठिन काम है और संकटपूर्ण भी। विश्वसनीय केवल इतना ही दीखता है कि यदि युग उसी मार्ग से गया जिसका संधान पंत ने किया है तो, निश्चित रूप से, आगे की पीढ़ियाँ उन्हें अवतारी, संदेशवाहक कवि के रूप में याद करेंगी। और यदि युग किसी अन्य मार्ग से गया तो भी इतना तो है ही कि पंत ने मनुष्य की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के उत्थान की कविता लिखी है। "रीझिहैं जु रसिक तो जानौं कविताई, ना तो राधा अरु स्याम सुमिरन को बहानो है।" इतना तो कहना ही पड़ता है कि अणुभीत सभ्यता के भीतर विश्व में आज एक ऐसा भी कवि है जो अत्यंत आशामय और अभीत है तथा जिसे समस्त विनाश के भीतर भविष्य का दिव्य जीवन लहराता हुआ दिखायी दे रहा है।

जहाँ तक नैतिक एवं सामाजिक व्याप्तियों का प्रश्न है, पंत का नवीन जीवन-दर्शन पूर्ण रूप से समझ में आने योग्य एवं व्याख्येय है। उत्तरा तथा अतिमा का धरातल सामाजिक नहीं है। स्वर्णकिरण तक पंत व्यष्टि-समष्टि धर्म-विज्ञान तथा आत्मा और भूत के पारस्परिक समन्वय की चेष्टा में थे। उत्तरा और अतिमा की विशिष्ट कविताओं का स्वर वह स्वर है जो इस समन्वय के धरातल पर से आगे उठता है। अतएव जब वे किसी अनिर्वचनीय आशा के शिखर से आगामी विश्व का आख्यान अथवा मानवता की संभावित प्रगति का गान करने लगते हैं तब पाठकों का हृदय उनका साथ नहीं देता। कठिनाई यह है कि पाठकों के सामने तो अभी जीवन की विभीषिकाएँ उलंग होकर नाच रही हैं। फिर वह उस जगत् के चित्र में विश्वास कैसे करे जो इन विभीषिकाओं के शमन के बाद प्रकट होनेवाले हैं? यही कारण है कि जब पंत यह पुकार करते हैं कि

गरज रहा उर व्यथा-भार से, गीत बन रहा रोदन,
आज तुम्हारी करुणा के हित कातर धरती का मन।

(उत्तरा)

तब तो पाठक उनके साथ अपनी सहमति प्रकट करता है, किन्तु जब वे, जो अभी होनेवाला है उसे हुआ मानकर यह कहने लगते हैं कि

कैसी थी स्वर्ग-विभा उँड़ेल तुमने भू-मानस में मोहन ?
मैं देख रहा मिट्टी का तम ज्वाला बन धधक रहा प्रतिक्षण।
ज्यों उषा-प्रज्वलित सागर में डूबता अस्तमित शशिमंडल,
चेतना-क्षितिज पर आभा-स्मित भूगोल उठ रहा स्वर्णोज्ज्वल।

(उत्तरा)

अथवा

जलते तारों-सी टूट रहीं अब अमर प्रेरणाएँ भास्वर,
स्वप्नों की गुंजित कलिकाएँ खिल पड़तीं मानस में निःस्वर।

(उत्तरा)

तब पाठक चकित रह जाता है कि पंत यह कौन-सी झाँकी दिखला रहे हैं। किन्तु साहित्य में एक यह शैली भी प्रचलित रही है। पाश्चात्य देशों में इसका नाम शायद फ्युचरिज्म है। हिन्दी में यह भविष्यवाद की शैली कही जा सकती है। इस शैली का उपयोग वहाँ किया जाता है जहाँ भविष्य का वर्णन वर्तमान के समान करना अभीष्ट हो। उत्तरा और अतिमा की कई कविताओं में इसका प्रयोग किया गया है। यह शैली उस शैली का ठीक प्रतिलोम है जिसमें भविष्यपुराण लिखा गया है।

उत्तरा और अतिमा मे ऐसी कविताएँ भी हैं जिन्हें हम आध्यात्मिक कोटि से अलग रख सकते हैं। सब मिलाकर इन दोनों पुस्तको का धरातल अध्यात्म का धरातल है, यद्यपि यह स्मरण रखने की बात है कि पंत के अध्यात्म में भौतिक स्पर्श भी समाहित रहता है। इन कविताओं की भाषा रुन्दे और रुवान के यथेष्ट प्रयोग से अत्यंत निखरी हुई है तथा उनके अन्दर जो भाव हैं वे बराबर हमें परिचित विश्व से निकाल कर अपरिचित की ओर ले जाना चाहते हैं।

इनमें कविताएँ रहस्यवाद-सी लगती हैं, किन्तु यह जायसी अथवा कबीर का रहस्यवाद नहीं है। इन्हे हम शुद्ध धार्मिक कवि की भी अनुभूति नहीं कह सकते। इनकी विशेषता किसी अपरिचित चिंतन को व्यक्त करने की बेचैनी से आक्रान्त भाषा में है। । "नील झील का जल" किस अतीन्द्रिय स्थिति का व्यंजक है ? "निःस्वर शिखर" मन के किस उच्च शृङ्ग की ओर संकेत करता

है ? स्वच्छ अन्तरात्मों की मौन मौनिमा में समाधि की जिस गहराई का बोध होता है ? मन से हम भी उस स्थिति का सूचित आभास पा रहे हैं जिसका संकेत इन शब्दों में है। किन्तु उसे प्रकाश करने योग्य भाषा का अभाव हम भी वैसे ही अनुभव करते हैं, जैसे यह कवि को अनुभूत हुआ है। इन कविताओं का स्वाद बहुत कुछ अरविन्द के 'सावित्री' काव्य के समान उज्ज्वल, कठोर और कुछ-कुछ अकथनीय है। भाषा की शक्ति वहीं प्रशंसनीय नहीं होती जहाँ सब कुछ सुस्पष्टता के साथ वर्णित हो जाता है। भाषा जब अरूप चिन्तन को लिबास पहनाने में पसीने-पसीने होने लगती है, उसका सौन्दर्य वास्तव में वहीं देखते बनता है। उत्तरा और अतिमा को देखकर यह अनुमान होता है कि समर्थ कलाकार के हाथ में हिन्दी भाषा वही चमत्कार दिखला सकती है जो विश्व की बड़ी से बड़ी भाषाओं ने दिखलाया है।

मानस से अतिमानस की यात्रा अत्यन्त दुरूह है। अतिमानसी प्रकाश की झाँकी किन्हीं-किन्हीं कविताओं में पहले भी उतरी थी, किन्तु मानस से निकल कर अतिमानस में जाने की राह किसी ने पहले नहीं बनायी। उस मार्ग के सर्वप्रथम प्रयोक्ता अरविन्द हुए हैं और हिन्दी में यह कार्य केवल पंत कर रहे हैं। यह भूमि अभी सर्वथा अपरिचित भूमि है। इस मार्ग में जो अनुभूतियाँ मिलती हैं उनका सही वर्णन करनेवाली भाषा धीरे-धीरे विकसित होगी। पंत फूलों के देश से निकल कर स्फटिक-भूमि में तो पहुँच गये हैं, इस भूमि की कथा कहते-कहते वे यह भी अनुभव करने लगते हैं कि बात सफाई से नहीं कही जा सकी। विचारों की जो ज्वाला उनके भीतर धधक रही है, वह वास्तव में किस वह्नि की ज्वाला है, इसका ठीक विवरण भाषा में अभी नहीं आ सकता।

एक आग है, हाँ, निःसंशय एक आग है।
राग-विराग-रहित, फिर भी यह एक राग है।
भौतिक आग नहीं यह, कायिक आग नहीं यह,
प्राणिक आग नहीं, न मानसिक आग सही यह!
आत्मिक आग? नहीं, पर, फिर भी, एक आग यह!
(अतिमा ; सृजन-वह्नि)

जो आग पंत के हृदय में उद्वेलित हो रही है वह न तो भौतिक है, न

आध्यात्मिक। वह ठीक-ठीक बौद्धिक भी नही है। तो यह आग है क्या चीज़? वह सुविकसित जीवन-कमल का पराग है। इस पराग से हमारा परिचय नही, अतएव जिस सृजनवह्नि से कवि हमें परिचित कराना चाहता है, वह वह्नि अपरिचित की अपरिचित रह जाती है। कवि जिस ईमानदारी के साथ बोल रहा है, उसके भीतर हम अभिव्यक्ति के लिए जो अधीर खुजलाहट देखते हैं, उससे यह तो प्रतीत होता है कि वह वर्तमान जीवन को अयथेष्ट मानकर किसी अधिक पूर्ण एवं भव्यतर जीवन की कल्पना से सिहर उठा है, किन्तु यह कल्पना है क्या, इसका समाधान नही मिलता। कारण शायद एक नही, दो हैं। कुछ तो यह कि मानस की भाषा अधिमानस के धरातल तक अभी विकसित नही हुई है। और कुछ यह कि अधिमानस की कल्पना ही अभी स्पष्ट नही है। इस दूसरे कारण का अनुमान पंत की निम्न पंक्तियो से होता है जिनमें वे यह सकेत देते हैं कि अधिक सुस्पष्टता से बोलनेवाले लोग पीछे आयेंगे।

मैं रे केवल उन्मन मधुकर भरता शोभा-स्वप्निल गुंजन,
कल आयेंगे उर-तरुण भृंग स्वर्णिम मधुकण करने वितरण।

(उत्तरा)

किन्तु इससे इस बात का खडन नहीं होता कि जैसे उन्होने छायावाद का नयन किया, जैसे उन्होने छायावादोत्तर काल मे प्रगतिवादी धारा को पथनिर्देश दिया, वैसे ही अब वे अध्यात्म की भूमि में भी अग्रणी कवि का काम कर रहे हैं। और इस अनुभूति से उनका पुलकित होना स्वाभाविक भी है।

मैं प्रकाश का रहा दूत नित, नव प्रकाश-संदेश-वाह स्मित,
नव विकास-पथ में मुड़ मैं अब क्यों न भोर बन फिर मुसकाऊँ?

(अतिमा)

और इन प्रयोगों से उनके आत्मविश्वास मे भी अपरिमित वृद्धि हुई है जिसकी अभिव्यक्ति इधर वे बार-बार कर रहे हैं।

यदि मरणोन्मुख वर्तमान से ऊब गया हो कटु मन,
उठते हों न निराश लौह-पग, रुद्धश्वास हो जीवन।

लो मेरे गीतों में देखो नव भविष्य की झांकी,
निःस्वर शिखरों पर उड़ता जाता सोने का पाखी।
दिव्य गरुड़ रे यह उड़ता तम्-रज प्रसार कर अतिक्रम,
पैने पंजों में दबोच मत काल-सर्प-सा भ्रम।

(अतिमा)

अतिमा में ही एक कविता है जिसका नाम विज्ञापन है। इस कविता में कवि अपने आपसे प्रश्न करता है कि मैं जो कुछ लिख रहा हूँ वह क्या कोरा गद्य है? मेरी कल्पना सुवर्ण की थी, किन्तु सुवर्ण क्या गल कर पानी बन सकता है? ये आक्षेप पालतू हैं। यह ठीक है कि गीत गल गये, किन्तु झंकार तो अभी कायम है। हुआ यह है कि फूल गंध में विलीन हो गया और गंध मेरे अस्तित्व में व्याप्त हो गयी है। कल्पना में जो सात रंग अलग-अलग चमक रहे थे, वे अब एक किरण में समाहित हो गये हैं। मैं जो समन्वय चाहता था वह मुझे प्राप्त हो गया है।

बस, अब रचना शेष सृजन-उन्मेष काव्य बन जाता,
सातों रंग घुल गये, किरण का शुभ्र हास मन भाता।

पाठक पंत से अब भी इन्द्रधनुष चाहते हैं, किन्तु कवि अब इन्द्रधनुष की अपेक्षा सूर्य के प्रकाश का अधिक प्रेमी बन गया है। उसकी नवीन रचनाएं इन्द्रधनुष नहीं, सविता की साक्षात् किरणें हैं।

इन्द्रधनुष? क्या इन्द्रधनुष स्थायी रहता अम्बर में?
वह छाया-केतन फहराता मेघों के खंडहर में।
तब क्या मोहक वाग्विलास यह था विकास कविता का?
शशि का विम्बित हास न समझो, यह प्रकाश सविता का।

(अतिमा)

इन्द्रधनुष और सविता का प्रकाश, तथा फूल और स्फटिक, इनमें से सामान्य पाठक की रुचि प्रायः इन्द्रधनुष और फूल की ओर होती है। इन्द्रधनुष और फूल, कविता की सारी पूँजी इतनी ही नहीं है। कविता उपनिषदों में भी है और गीता में भी तथा अरविन्द की कृति सावित्री भी दर्शन नहीं काव्य ही है। श्री नलिनीकान्त गुप्त ने एक स्थान पर लिखा है कि 'यूनान-

वाले कलाकार मनुष्य की मानवता का गीत गाते हैं और भारतवासी उसके देवत्व का। यह यूनानी प्रवृत्तियों का प्रभाव है जिससे हमारी रुचि में परिवर्तन आ गया है और हम यह भूल गये हैं कि पार्थिव जीवन और उसकी मिठास में जो कविता है, वैसी ही कविता अध्यात्म के कठोर धरातल पर भी लिखी जा सकती है। मनोरंजन और उद्वेलन, कविता के ये ही दो कार्य नहीं हैं। कविता प्रेरणा भी भरती है, मनुष्य में नवजीवन भी डालती है और वह उसे उठाकर ऊपर भी ले जाती है।' उत्तरा की भूमिका में पंत ने भी इससे मिलती-जुलती बात कही है। स्वर्णकिरण में मैंने अन्तर्जीवन-अन्तश्चेतना आदि को इतना अधिक महत्त्व इसलिए भी दिया है कि इस युग में भौतिक दर्शन के प्रभाव से हम उन्हें बिलकुल भूल ही गये हैं।'

आधिभौतिकता यदि एकमात्र सत्य नहीं है तो उस धरातल का भी अनुसन्धान आवश्यक है जिसे आत्मा का धरातल कहते हैं। मनुष्य अपनी जिस संस्कृति पर नाज़ करता है वह अधिकांश में उन संतों, चिंतकों और कवियों की कृति है जो आत्म के धरातल पर काम करते थे। आज से कोई दो सौ वर्ष पूर्व तक यही धरातल मनुष्य की दृष्टि में सबसे आदरणीय धरातल था। आधिभौतिकता का धरातल विज्ञान के उत्थान के साथ उभरा है, किन्तु इस नये धरातल की प्रसिद्धि से पहले का अध्यात्मवादी धरातल खंडित नहीं हो जाता। आवश्यकता इस बात की है कि इन दोनों धरातलों के बीच की खाई पाट दी जाय। अब तक पश्चिम की विशेषता आदर्श समाज की रचना और पूर्व की विशेषता आदर्श व्यक्तियों का निर्माण था। अब सर्वत्र यह अनुभव किया जा रहा है कि आदर्श व्यक्तियों से परिपूर्ण समाज ही आदर्श समाज हो सकता है। पंत आदर्श व्यक्तियों के इसी आदर्श समाज को संभव बनाना चाहते हैं। वे धर्म और विज्ञान, स्वर्ग और पृथ्वी तथा भूत और अध्यात्म के बीच समन्वय खोज रहे हैं। और इस प्रयास में वे जीवन से भागे नहीं हैं, इसमें सिद्धि का फल लाने को वे शिखर से शिखर पर घूम रहे हैं।

मैं स्वर्गिक शिखरों का वैभव हूँ लुटा रहा जन-धरणी पर
जिसमें जग-जीवन के प्ररोह नव मानवता में उठें निखर।
देवों को पहना रहा पुनः मैं स्वप्न, मांस के मर्त्य वसन,
मानव-आनन से उठा रहा अमरत्व ढँके जो अवगुंठन।

(उत्तरा)

पन्त और प्रकृति | विश्वम्भर 'मानव'

एक समय वह था जब कभी आत्म-रक्षा के लिए और कभी ऐसी सुन्दरियों के लिए जिनकी बाल्यावस्था में शशि उनके निकट बैठकर अमृत-रस पीता था, सोहा खटकता था और प्रकृति रक्त से रंग उठती थी; एक समय वह था जब बढ़ई को देखकर तरुवर डोलने लगते या रोकर ही बारह मास गंवा दिए जाते; एक समय वह था जब गिरि बूंदों का आघात उसी प्रकार सहते दिखाई देते जैसे खल के वचनों को संत सहते हैं या गुपाल के साथ तो प्रकृति प्यारी लगती पर बिन गुपाल यमुना का बहना, खगों का बोलना, कमलों का फूलना, अलियों का गुंजारना सब व्यर्थ लगता, और एक समय वह भी आया जब कीर, कमल, कोयल, कुरंग, अहि, कपि, सिंह, मराल एक ही डाल पर लटका दिए गए। पर आज कवि को लगता है जैसे सृष्टि के प्रारंभ मे जो उसने उषा के गाल चूमे थे इसी से प्रभातकाल मे लालिमा छा जाती है। आज वह अपने उपवन मे चंपा, कुंद, जूही, कमल के साथ डेफोडिल, डेज़ी, पेंजी, ट्यूलिप भी खिलाता है। आज वह समय आया है जब कवि की आत्मा पूर्ण रूप से यह स्वीकार करने लगी है कि प्रकृति का भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। उसका वाह्य रूप ही आकर्षक नही, उसके हृदय में भी मधु है। वह दूती ही नही, अभिसारिका भी है। वह चेतन है।

प्रकृति के सम्बन्ध में पन्त की चर्चा करते हुए कई बातों पर ध्यान जाता है। जैसा अभी ऊपर सकेत कर चुके है प्रकृति या तो आध्यात्मिक भावों के प्रकाशन के लिए प्रयुक्त होती थी, या उससे उपदेश दिलाए जाते थे, या फिर उद्दीपन और अलकार के रूप में वह आती थी। पन्त ने इन रूढियों को छिन्न-भिन्न करके प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता घोषित की। उसे आलंबन के रूप

में स्वीकार किया। इससे भी महत्त्वपूर्ण दूसरा काम उन्होंने यह किया कि उसमें चेतना का आरोप किया, उसे वाणी दी। 'तीसरी विशेषता उनकी यह है कि प्रकृति पर उन्होंने सबसे अधिक लिखा। वीणा से लेकर अतिमा तक उनके समस्त काव्य-ग्रंथ उनके प्रकृति-प्रेम के परिचायक हैं। उनका प्रकृति-प्रेम यहाँ तक बढ़ा हुआ है कि एक-एक विषय पर उन्होंने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से अनेक बार लिखा। छाया प्रकाश, संध्या प्रभात, नक्षत्र चाँदनी, सूर्य चन्द्र, पशु पक्षी, निर्झर सरिता, लहर सरोवर, ओस हरीतिमा, लता सुमन, बादल पवन, सावन शरद, पतझर वसंत, पर्वत समुद्र, पृथ्वी आकाश—सब उनकी दृष्टि-परिधि में खिंच आये। केवल वर्णन की दृष्टि से बड़ी भारी प्राकृतिक निधि उसके काव्य-ग्रंथों में सुरक्षित है।

वीणा के वर्ण्य विषय दो ही हैं—प्रकृति और मा। छाया, अंधकार, सरिता, निर्झर, लतिका, उषा और विहग-बाला पर छोटी-छोटी रचनाएँ इसमें पाई जाती हैं। कवि ने इस ग्रंथ में स्वयं को एक भोली बालिका के रूप में चित्रित किया है और प्रकृति के तत्त्वों को सजीव मानकर वह उनसे अनेक प्रकार के प्रश्न करता है। दो प्रवृत्तियाँ कवि में विशेष रूप से पाई जाती हैं—अनुकरण और एकाकार की। वह देखता है, प्रकृति की वस्तुओं में कुछ ऐसे गुण हैं जो प्रशंसनीय हैं और जिनका अनुकरण उसे करना चाहिए। छाया शीतलता प्रदान करती हुई पथिकों का श्रम हरती है। अंधकार रंग-रहित है और रश्मि के स्पर्श मात्र से वह स्वर्ण-वर्ण होना जानता है। सरिता का जैसा तन उज्ज्वल है वैसा ही मन भी। वह अनंत-पथ में पीछे मुड़ना जानती ही नहीं। विलक्षण है उसका कर्म-योग! छाया से वह प्रार्थना करता है कि वह उसका मनस्ताप हरे, अंधकार से कहता है कि वह उसे भी रंग-रहित होकर जीवन व्यतीत करना सिखलावे, सरिता से चाहता है कि वह उसी के समान गीत गा सके, निर्झर को देखकर उसकी कामना होती है कि वह भी उसी जैसा आँसुओं का दान दे सके। वीणा का कवि पहले प्रकृति के प्रति जिज्ञासा-भावना लेकर चलता है, फिर उसके गुणों पर मुग्ध होता है और फिर उसमें घुल-मिलकर एक होना चाहता है। प्रकृति के भावों और अपने भावों में तादात्म्य स्थापित करने के लिए कवि की आकुलता इस ग्रन्थ में देखने योग्य है।

पल्लव प्रकृति की चित्रशाला है। पल्लव की रचनाएँ लिखने के पहले ही कवि को प्रेम में आघात लगा। अतः इस संग्रह में तीन प्रकार की रचनाएँ पाई

जाती है—विरह-संबंधी चिंतन-प्रधान और प्रकृति-परक। प्रेम में हृदय के दग्ध होने का परिणाम यह हुआ कि वह अपना हृदय पूर्णरूप से प्रकृति को नही दे पाया। पर क्योंकि प्रेम की ओर लौटने का अवसर जीवन में नही, अतः कवि का अधिक झुकाव प्रकृति की ओर है। पल्लव में कुछ रचनाएँ तो पुराने विषयों पर ही हैं जैसे छाया, निर्झर, विहग पर कवि ने अनेक नये विषय भी लिये हैं जैसे-बादल, वीचि, नक्षत्र, पवन, वसंत, मधुकरी आदि। प्रवृत्ति में एक अंतर तो यह हुआ है कि कवि इन्हे स्वतन्त्र विषय मानकर उन पर अपने विचार व्यक्त करने बैठा है। इसी से इनमे से बहुत सी रचनाएं वर्णन-प्रधान हो गई हैं। वीणा की रचनाओ में यह बात नही। वीणा में छाया का वर्णन चार पंक्तियो मे है। पल्लव में उसी छाया का उसी प्रकार का वर्णन सौ पंक्तियों मे कर कवि ने उपमाओं की वहाँ झड़ी लगा दी है। छाया, बादल, नक्षत्र, वीचि-विलास आदि रचनाएँ सीमा से अधिक वर्णनात्मक हो गई हैं। भाव-पक्ष वहाँ जैसे दब गया है। पर वीणा मे भाव-पक्ष पूर्ण रूप से उभर कर आया है। पल्लव मे किसी वस्तु के प्रति जितनी भी कल्पनाएं सभव है कवि ने सब कर ली हैं। रचनाएँ वर्णन-प्रधान होने के साथ ही कल्पना-प्रधान हैं। भाव यदि कही झलक मारता है तो कल्पनाओ के भीतर से ही। यहाँ प्रकृति के सम्पर्क मे आकर बड़े भारी आनद का अनुभव कवि करता है। प्रकृति की एक-एक वस्तु से वह प्रश्न करता फिरता है; प्रकृति यहाँ सजीव है; अतः छायावाद की स्थापना इन्ही रचनाओ में व्यापकता से हुई है। प्रकृति मे अपने भावो का प्रतिबिंब ही वह नही खोजता फिरता, प्रकृति का प्रभाव भी अपने ऊपर वह पाता है।

गुंजन मे कवि जीवन की ओर बढ़ता है। इस सग्रह मे प्रकृति सबधी समस्त रचनाएं सौंदर्य और आनन्द की भावना से परिपूर्ण हैं। इन पर नारी-भावना का आरोप विशेष रूप से है। जैसे वीणा की रचनाएं भाव-प्रधान थी, पल्लव की कल्पना-प्रधान, वैसे ही गुंजन की प्रकृति-सम्बन्धी रचनाएँ विचार-प्रधान हैं। जैसे वीणा में अध्यात्म का आग्रह था, पल्लव मे प्रकृति का, वैसे ही गुंजन में जीवन का। गुंजन में वातावरण के संश्लिष्ट चित्रणों की ओर भी कवि का ध्यान है। पल्लव में अनेक कल्पनाएँ एक स्थान पर एकत्र थी, पर गुंजन की रचनाओं मे सभी पंक्तियों से एक पूर्ण चित्र उठता है। पल्लव की नक्षत्र और गुंजन की एक तारा रचनाओ की तुलना से यह बात स्पष्ट हो

जायगी। पल्लव के समान शुद्ध प्रकृति-वर्णन गुंजन की रचनाओं का लक्ष्य नहीं। कहीं कोई विशिष्ट विचार, कहीं कोई आध्यात्मिक भाव और कहीं निजी जीवन-दर्शन व्यक्त करना कवि का जैसे लक्ष्य बन गया है। कली, एक तारा और नौका विहार रचनाएँ इस बात की पुष्टि में उपस्थित की जा सकती हैं। जीवन की स्वीकृति के साथ जीवन के भोग की लालसा भी कवि के मन में अब जगी है। उस भोगवृत्ति की छाप इन रचनाओं पर भी पड़ी है। मधुवन शीर्षक रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं। पंत की दृष्टि दुःख से अधिक सुख की ओर रहती है। दुःख की भावना उगती है, कभी-कभी उन्हें घेर भी लेती है और अधिक विह्वल करती है, पर ठहर नही पाती। यह देखने की बात है कि 'वीणा', 'पल्लव', 'ग्रन्थि', गुंजन', 'युगांत' आदि ग्रन्थों का प्रारम्भ उन्होंने वसंत के स्वागत के साथ किया है।

युगांत की प्रकृति पर मानवतावाद का प्रभाव है। वहाँ कवि नवीन जीवन, नवीन चेतना, नवीन सृष्टि के लिए आकुल है; अतः नवीन प्रभात की कामना करता है। प्रकृति और जीवन दोनों पर जब वह दृष्टि डालता है तो देखता है कि प्राकृतिक जगत् प्रसन्न है और मानव जग मलीन। जगत की इस विश्री को धोने के लिए वह प्रकृति से प्रार्थना करता है। एक ओर वह कोकिल से प्रार्थना करता है कि मधुर गानों के स्थान पर अब पावक-कण बरसावे जिससे संसार की जीर्ण रूढ़ि-रीतियाँ जल जायँ, दूसरी ओर तारों से विनय करता है कि जग के तम में वे स्वर्गीय आलोक विकीर्ण करें जिससे मानवात्मा जग उठे। यह प्रकृति का एकदम नया प्रयोग है।

युगांत की परम्परा में ही युगवाणी और ग्राम्या की रचनाओं को लेना चाहिए। यहाँ प्रकृति से अधिक मानव पर उसकी दृष्टि है और आकाश से अधिक पृथ्वी पर। कवि का कहना है कि आज मनुष्य प्रकृति में वैसे उल्लास का अनुभव नहीं कर सकता जैसे पहले वह करता था। मनुष्य का जीवन अनेक प्रकार के अभावों से आज पूर्ण है। इनका प्रभाव उसके दृष्टिकोण पर पड़ता है। यह भी कहता है कि प्रकृति की अपेक्षा आज मनुष्य अधिक निर्जीव प्रतीत होता है। पर यह सब होते हुए भी वह निराशावाद को स्थान नही देता। जन-जीवन को उत्फुल्ल देखने की उसकी कामना ने एक नवीन आशावाद का संचार उसमें किया है। उसका संदेश है कि स्वस्थ आनन्द के उपभोग के लिए मनुष्य को श्रमशील होना चाहिए और सामाजिक भाव का जैसे-जैसे उसमें

विकास होगा वैसे-वैसे जीवन की जय निकट आवेगी।

ग्राम्या की प्रकृति मे गाँव की प्रकृति चित्रित हुई है—पैठ से लौटे हुए ऊँट-घोड़ों के साथ नाव पर जाते व्यापारी, विरहा गाते गाड़ीवान, घर को ओर लौटती हुई गाएँ, डालों पर चीखता घुग्घू, कगार पर जटाओं वाले पीपल, बबूल पर बया का घोंसला। यहाँ कवि जन-भावना के निकटतर आता दिखाई देता है।

स्वर्ण किरण मे प्रकृति के प्रति लिखी गई कविताएँ भिन्न प्रकार की हैं। वर्ण्य विषय हैं—हिमालय, समुद्र, सूर्य, कौआ आदि। हिमालय पर जो रचना है उसमे व्यक्तिगत सम्पर्क, व्यक्तिगत अनुराग और व्यक्तिगत सम्बन्ध की अधिक गन्ध और झलक है। इस रचना पर कालिदास की पंक्तियों का प्रभाव कही-कही स्पष्ट है। भूत की विभूति और आज के आकर्षण के मिले-जुले वर्णन ने इस रचना के कल्पना-वैभव को विचित्र सौंदर्य से मडित कर दिया है। कवि अब विशेषरूप से विराट् कल्पनाओ का प्रेमी हो गया है। हिमालय को कवि ने अपना मूक शिक्षक स्वीकार किया है। हिमाद्रि और समुद्र में हिमगिरि और सागर दोनो की तुलना है। कवि एक को आत्मा का गौरव कहता है, दूसरे को मन का आन्दोलन बतलाता है। कुछ रचनाएँ जैसे 'पूषण' या 'कौवे के प्रति' से उपयोगिता की भावना या उपदेश-वृत्ति झलकती है। 'मत्स्य गधाएँ' रचना कवि के सौंदर्य और मानसिक आदर्श की प्रतिष्ठा के लिए लिखी गई है। व्यक्ति और प्रकृति एक ही हैं, कवि इस परिणाम पर अब पहुँच चुका है।

स्वर्णधूलि मे प्रकृति सम्बन्धिनी रचनाएँ कम हैं। वर्षा पर कई कविताएँ हैं जिनमे इस ऋतु के वातावरण को अंकित करने का प्रयत्न किया गया है। इनमें ध्वनि और रग दोनो का अंकन सराहनीय है। शरद् चाँदनी उद्दीपन की दृष्टि से उल्लेखनीय है। कोटन की टहनी में धरती को प्यार करने की बात कवि अत्यन्त स्वाभाविक तर्कों और मार्मिक पद्धति पर उठाता है।

उत्तरा में शरद् और वसंत को वैसे ही अपनाया है जैसे स्वर्ण धूलि में वर्षा को। मानवीकरण के रूप में शरद् ऋतु के कही-कहीं पूर्ण नारी चित्र अत्यन्त भव्य उतरे हैं। सामान्य रूप से प्रकृति सम्बन्धिनी रचनाओं में शांति और पवित्रता का वातावरण अंकित हुआ है। कवि जैसे प्रकृति से अधिक प्रकृति की आत्मा को चित्रित करने के लिए यहाँ आकुल है। एक विलक्षण बात इन रचनाओं में यह पाई जाती है कि यहाँ प्रकृति से अधिक व्यक्ति प्रमुख हो गया है। कवि कहना चाहता है कि व्यक्ति के बिना प्रकृति अधूरी है। व्यक्ति

जैसे देवता है और प्रकृति उसकी उपासिका मात्र। कहाँ 'वीणा' की वह प्रवृत्ति जब व्यक्ति प्रकृति के चरणो में बैठकर शांति प्राप्त करता है और कहाँ 'उत्तरा' की यह प्रवृत्ति कि जब व्यक्ति प्रकृति को अपने चरणों में बिठा लेता है! इन दो विरोधी प्रवृत्तियों के दो कूलों के बीच मानसिक विकास की अनेक भाव-लहरियाँ कवि के अन्य काव्य-ग्रन्थों में उठकर प्रकृति-काव्य को समृद्ध कर गई हैं!

अतिमा में कई प्रकार का प्रकृति-वर्णन पाया जाता है। कुछ रचनाओं का ढाँचा थोड़े परिवर्तन के साथ बिल्कुल वैसा ही है जैसा पल्लव और गुंजन काल की रचनाओं का। इनमें मधुर कल्पनाओं के ऊपर मधुरतर कल्पनाएँ एवं सूक्ष्म विवरणों के ऊपर सूक्ष्मतर विवरण पाठक की बुद्धि को चकित करते हैं। कुछ रचनाओं में मानवीकरण की पुरानी प्रवृत्ति उभर आई है। ऐसे स्थलों पर पन्त छायावादी प्रवाह में एक बार फिर बह गए हैं। तीसरी बात यह कि इन रचनाओं में से कई को पन्त ने अपने विचारों के प्रचार का माध्यम भी बनाया है। अब शुद्ध प्रकृति के वर्णन बहुत कम पाए जाते हैं। बीच या अन्त में कहीं तो उपदेश की गंध उनसे आने लगती है और कहीं वे सहसा चेतना से मंडित हो अरविंदवाद की प्रतिष्ठा करने लगते हैं।

अब पन्त के प्रकृति-वर्णन की विविधता पर दृष्टि डालें। प्रकृति मे वस्तुओं का नाम गिनाना अत्यन्त साधारण कला समझी जाती है। पन्त भी किसी उद्यान की क्यारी-क्यारी मे घूम-घूम कर फूलो के नाम गिना रहे हैं। हो सकता है ये नाम उन्होंने किसी फल-फूलों के सूचीपत्र से एकत्र किए हों। इन नाम-परिगणन से काव्यत्व को किसी भी प्रकार सहायता नहीं मिलती—

नव वसंत की रूप राशि का ऋतु उत्सव यह उपवन,
सोच रहा हूँ, जन जग से क्या सचमुच लगता शोभन!
रंग रंग के खिले फ्लॉक्स, वरबीना, छपे डियांथस,
नत दृग ऐंटिह्रिनम, तितली सी पैंजी, पापी सालस;
हँसमुख कैंडीटफ्ट, रेशमी चटकीले नेशटरशम,
खिली स्वीट पी—एवंड्स, फ़िल बास्केट औ ब्लू वेंटम।

(ग्राम्या)

वस्तु-परिगणन में ही जहाँ वातावरण का चित्रण करने के लिए थोड़ी कला का प्रयोग किया है, वहाँ उसी मात्रा में प्रभाव आप से आप आ गया है। देखिए—

बाँसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट—
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी वी टी—टुट्-टुट् !

(युगांत)

संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने में पंत सिद्ध-हस्त हैं। यदि कोई साधारण कवि पर्वतों के निकट जायेगा, तो उनके आकार से प्रभावित होगा, वहाँ यदि फूल खिलते देखेगा तो उनके नाम गिनावेगा, कहीं निकट के ताल पर यदि उसकी दृष्टि पड़ गई तो उसका उल्लेख भी कर देगा। पर पर्वत, फूल और ताल को लेकर अपने में पूर्ण दृश्य भी अंकित किया जा सकता है, फूलों की आँखों से ताल के दर्पण में पर्वत अपने गर्वीले शरीर को निहारता हुआ महान् प्रतीत हो सकता है, यह कम लोग सोचते हैं—

पावस-ऋतु थी, पर्वत-प्रदेश;
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार;
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल !!

पल्लव की छाया कविता को लीजिए जो इतनी प्रसिद्ध हो गई। उस रचना के सौंदर्य के मूल में कवि की कल्पना का वैभव तो है ही, पर उसकी सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उसमें उपमाएँ जुटाते समय अत्यन्त मार्मिक, एकदम पूर्ण, बहुत ही स्पष्ट भूत और वर्तमान जीवन से संबंधित संश्लिष्ट चित्र अंकित किए गए हैं। वृक्ष के नीचे छाया सोई हुई है। कवि अतीत की एक परिचित घटना का आरोप करता हुआ पूछता है—

कहो कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई ?

हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई !

दमयन्ती के जीवन दृश्यों ने संभवतः कवि को बहुत लुभाया है। इसी से रोमांस का एक संश्लिष्ट चित्र उसने अपनी दूसरी रचना 'बादल' में दिया है—चाँदनी में रजत करों में मधुर ध्वनि करता मेघ हंस के समान उसे उसके प्रिय का संदेश दे रहा है !

दमयन्ती-सी कुमुद कला के
रजत करों में फिर अभिराम
स्वर्ण-हंस से हम मृदु ध्वनि कर
कहते प्रिय संदेश ललाम !

प्रकृति को नारी रूप में चित्रित करना भी पंत का प्रिय स्वभाव है। इस क्षेत्र में अत्यन्त रम्य कल्पनाएँ कवि ने की हैं। ये चित्र केवल वही कुछ अस्वाभाविक लगते हैं जहाँ दूसरी ओर के उपमान अधूरा चित्र जगाते हैं, या फिर कोई चित्र ही नही जगाते। पर रसग्राही पाठकों की दृष्टि प्रायः पूरे चित्र पर जाती है, अंग-प्रत्यंग के विश्लेषण पर नही। युगांत में संध्या का यह अवतरण देखिए जो निराला के संध्या-वर्णन से बहुत-कुछ मिलता-जुलता सा है—

कहो, तुम रूपसि कौन ?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छायाछवि में आप
सुनहला फैला केशकलाप
मधुर, मंथर, मृदु मौन !

इसी प्रकार गुंजन मे चाँदनी की कल्पना उन्होने एक मरणोन्मुखी रुग्ण बाला के रूप में की है। कल्पना कुछ लोक-धारणा के विपरीत अवश्य है, पर पूरी उतरी है। देखिए—

जग के दुख दैन्य-शयन पर
यह रुग्णा जीवन-बाला

रे कब से जाग रही, यह
आँसू की नीरव माला !

कवि लोग सदैव से नायिकाओं के शरीर को प्रकृति के रम्य उपादानों से विभूषित करते रहे हैं। जायसी की पद्मावती की माँग घन में दामिनी सी दमकती थी, तुलसी की मृग-शावकनयनी सीता जनक के उपवन में जिस ओर दृष्टि डालतीं, वहाँ श्वेत कमलों की वर्षा होने लगती, बिहारी की नायिका के झीने पट के घूँघट में चंचल नयन इस प्रकार चमचमाते मानों सुरसरिता के जल में दो मीन उछलते हों। विद्यापति की राधा के सौन्दर्य का तो कहना ही क्या है ? चन्द्रमा के सार को लेकर ही जैसे उनके नख का निर्माण हुआ था। अतः यह ढङ्ग भी कभी पुराना न होगा, चाहे सामान्य नायिकाएँ रहें या उनका स्थान कोई अलक्ष्य प्रेयसी ले ले। अब भी निराला की शूर्पणखा के कपोल कुसुमदल तुल्य, हँसी बिजली सी, कपोत सा कंठ, वल्ली सी बाहु, सरोज से कर दिखाई देते हैं; अब भी मैथिलीशरण की उर्मिला के घन-पटल से केश, विद्युत से वदन की झाँकी मिल सकती है। उपाध्याय की राधा का आनन अब भी राकेंदु-सा, दृग मृग-दृग से हैं। प्रसाद भी इसी प्रकार कहीं देव-कामिनी के नयनों से नील नलिनो की सृष्टि कराते, कभी बालो से घिरे मुख में पश्चिम गगन में श्याम घन को भेदते हुए अरुण रविमण्डल की कल्पना करते हैं और कभी किसी के शरीर का रंग तैयार करने के लिए बिजली को चाँदनी में घोलते हैं। पन्त भी जिस पर मुग्ध हैं उसकी उषा-सी सुन्दर छवि, नव वसंत सा उसका श्रृङ्गार, तारों सा हार, मेघों से केश और मलयानिल जैसी उसकी मुखवास है। 'ग्रंथि' और पल्लव दोनों में अपनी प्रिया का स्मरण करते हुए उसके अंग-प्रत्यंग की शोभा के रूप में बहुत से प्राकृतिक उपमानों को जुटाया है। नीचे हम 'गुंजन' की भावी पत्नी के प्रति रचना में से ऐसे रम्य उपमानों का एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—

अरुण अधरों की पल्लव-प्रात,
मोतियों-सा हिलता-हिम-हास;
इन्द्रधनुषी पट से ढँक गात
बाल-विद्युत् का पावस-लास;
हृदय में खिल उठता तत्काल

अधखिले अङ्गों का मधुमास
तुम्हारी छवि का कर अनुमान !

प्रतीक के रूप में प्राकृतिक वस्तुओं को कहीं-कही पन्त ने लिया है। कला के क्षेत्र में प्रतीक-विधान आधुनिक हिन्दी कविता की एक प्रमुख विशेषता है। कहीं-कहीं पन्त ने ऐसा किया है कि प्रतीक विधान और साग रूपक के सहारे किसी व्यापक क्रिया का वर्णन किया है। ऐसी दशा में मुख्य आशय लुप्त हो गया है और गौण बात प्रमुख बन बैठी है।

समष्टि के दृष्टिकोण से भी कवि ने प्रकृति को देखा है। केवल उनकी विहग पर लिखी रचनाएँ लीजिये। ऐसी रचनाएँ वीणा, पल्लव, गुञ्जन, युगांत, युगवाणी और स्वर्ण-किरण में पाई जाती हैं जहाँ उन्होंने किसी पक्षी को संबोधन कर जगत की किसी रूप में चर्चा की है। गुञ्जन में विहग के प्रति जो रचना है उसका मूल आशय यह है कि पक्षी वह जीवधारी है जो सूने वृक्षों को, सूने सायं-प्रातः को, सूने जीवन को और सूने जगत को अपने गानों से मुखरित रखता है। यदि वह न होता तो सृष्टि बड़ी सूनी लगती। कवि के शब्दों में ही, सुनिए—

विजन वन के ओ विहग कुमार !
आज घर-घर रे तेरे गान;
मधुर मुखरित हो उठा अपार
जीर्ण जग का विषण्ण उद्यान !

युगांत के उपरांत जब से पंत ने लोक-भावना को व्यापक रूप से अपनाया; तब से कही कौकिल और कहीं सामान्य विहग से जगत को बदलने के लिए कहा। युग-वाणी में आम्र विहग को संबोधित करते हुए उन्होने उन बातों का विवरण दिया गया है जिन पर वे विचार करते रहते हैं। जगत के वर्तमान स्वरूप, उसकी वर्तमान व्यवस्था से असंतोष और भविष्य में जीवन को सुन्दर सुखपूर्ण देखने की आकांक्षा दोनों स्पष्ट उभर आई हैं—

हे आम्र विहग !
तुम सुनो सजग,—
जग का उपवन
मानव जीवन

है शिशिर-ग्रस्त
यह व्याधि ग्रस्त !

पंत की रचनाओं में प्रकृति का वह पक्ष भी प्रबल है जहाँ कवि किसी प्राकृतिक दृश्य के आधार पर उसका दर्शन करते-करते चिंतन करने लगता है। ऐसी रचनाओं में या तो वह किसी विचार की प्रतिष्ठा करता है या दार्शनिक भावों की। गुञ्जन में कली पर एक रचना है। कवि देखता है लहर के आने के एक कली झर कर सलिल में बह जाती है। पर अन्य कलियाँ हैं कि लह-रियाँ उनके भी पास आती हैं। वे भी उनसे खेलती हैं, पर इस प्रकार वह नहीं जातीं, सँभली रहती हैं। एक वह सरला थी कि तनिक देर मे बह गई। लहरें तो आती ही रहती हैं, पर क्या वे किसी के पास ठहरती हैं ? इस पर कवि निर्णय देता है कि भावों के आदान-प्रदान मे तो कोई बुराई नहीं, पर अपने व्यक्तित्व की हानि किसी भी दशा मे ठीक नहीं। जिसने अपने व्यक्तित्व को खो दिया उसका सब कुछ चला गया समझो !

झर गई कली, झर गई कली !
चल-सरित-पुलिन पर वह विकसी,
उर के सौरभ से सहज-बसी,
सरला प्रातः ही तो विहँसी,
रे कूद सलिल में गई चली !

इसी प्रकार युग-वाणी मे सुमन के प्रति जो रचना है उसमें कवि रूप न देखकर रूप पर चिन्तन करने लगता है। रूप नश्वर है या अविनश्वर ? थोड़ी देर मे वह उत्तर देता है—

रूप नहीं है नश्वर !
सत्ता का वह पूर्ण प्रकृत स्वर !
रूप नहीं है नश्वर !

गुञ्जन की नौका-विहार कविता अनेक दृष्टियों से पंत की सुन्दरतम रचनाओं मे से है। रचना के अन्त में जब कवि की नौका किनारे पर लगने लगती है तब वह विचार करने लगता है। विचार शायद उसका स्वभाव बन गया है।

इसी प्रकार गुञ्जन में चाँदनी पर अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करते कवि अन्त में इस निष्कर्ष पर रुकता है—

यह है, यह नहीं, अनिर्वच,
जग उसमें, वह जग में लय !

यह प्रसग अधूरा ही रहेगा, यदि गुञ्जन की 'एक तारा' रचना की चर्चा इस प्रसंग में न की जाय। यह रचना भी नौका विहार की भाँति पन्त की श्रेष्ठतम रचनाओं में से है। नौका-विहार में जैसे नदी के रम्य दृश्यों के चित्रणो की भरमार है, वैसे ही यहाँ संध्या के वातावरण का चित्रण अपूर्व हुआ है। पर आदि और अन्त का सम्बन्ध जिस दार्शनिक भाव सूत्र से कवि ने जोड़ा है वह भी विलक्षण है। कवि देखता है प्रारम्भ में शून्य मे एक ही तारा रहता है। कुछ ही क्षणों में वैसे ही अनन्त तारो की सृष्टि हो जाती है। कवि इस दृश्य की तुलना उस घटना से करता है जिसमें एक ब्रह्म से अनन्त जीवों की सृष्टि हुई। उस तारे को कवि परमात्मा बतलाता है, इन अनन्त तारों के समूह को विश्व। देखिए—

जगमग जगमग नभ का आँगन, लद गया कुन्द कलियों से घन,
वह आत्म और यह जग-दर्शन !

कभी-कभी एक ही बात को जब बार-बार दुहराया जाता है तो वह अरुचिकर सी यदि नहीं, तो शिथिल सी अवश्य लगने लगती है। उसमें एक प्रकार की एकरसता आ जाती है। कवि लकीर पीटना ही जानता है, वर्णन की नवीनता और मौलिकता से उसका परिचय नहीं।

पन्त की वर्णन-पटुता की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। नीचे के वर्णनों में देखिए कि किस प्रकार कवि ने एक-एक, दो-दो पंक्तियों में प्रकृति की वस्तुओं के स्वरूप और आत्मा का चित्रण किया है—

—लहर—

१. सरिता की चंचल दृग-कोर !
२. अरी वारि की परी किशोर !
३. ओ अकूल की उज्ज्वल हास !

—नक्षत्र—

४. ऐ निशि जाग्रत वासर निद्रित !
५. आदि मग्न सौंदर्य निरामय !
६. नव प्रभात के अस्फुट अंकुर !
७. ऐ अनंत के हृत्कम्पन !

—बादल—

८. चातक के प्रिय जीवनधर !

—छाया—

९. ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसि !

—चींटी—

१०. भूरे बालों की-सी कतरन !

—खद्योत—

११. अँधियाली घाटी में सहसा,
हरित स्फुलिंग सदृश फूटा वह !

—तितली—

१२. या फूलों से ली अनिल-कुसुम
तुमने मन के मधु की मिठास ?

ये एक-एक दो-दो पंक्तियाँ ही जैसे अपने में पूर्ण कविताएँ हैं।

प्रकृति वर्णन की सूक्ष्मता के लिए 'नौका विहार' को लीजिए। गंगा जी का श्वेत निर्मल जल, उस पर चचल लहरों का उठना, उसमें नक्षत्र विजड़ित नील गगन का प्रतिबिंबित होना, कितने व्यापार हैं जिन्हें कवि ने तारा जड़ित नीली साड़ी परिधान किए एक गौर-वर्णी सुन्दरी के चित्र में अत्यंत कौशल से अंकित कर दिया है—

गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर

चाँदनी रात है। निर्मल जल मे कगार प्रतिबिंबित हो रहा है। नौका में बैठकर जब यह दृश्य देखा जाता है तो क्षण भर को ऐसा धोखा हो जाता है कि कगार दूना लंबा हो गया है। बिंब और प्रतिबिंब दोनों मिलकर एक हो गए हैं। अंतर का भान ही नहीं होता—

निश्चल जल के शुचि दर्पण पर, बिम्बित हो रजत-पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षणभर

नदी के बीच में से जब दूर दृष्टि फेंकी जाती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि तट की समानान्तर रेखाएँ एक ओर अधिक फैलकर और दूसरी ओर कम चौड़ी होकर सिकुड़ती आ रही हैं, मानो किसी की ये दो दीर्घ भुजाएँ नदी के कृश शरीर को आलिंगन में कस ही लेंगी—

दो बाँहों से दूरस्थ तीर धारा का कृश कोमल शरीर
आलिंगन करने को अधीर

और इस बेचारे विरही कोक को तो देखिए जो अपने ही प्रतिबिम्ब को अपनी प्रेमिका समझ कर जल के ऊपर चाँदनी रात में चक्कर काट रहा है—

यह कौन विहग ? क्या विकल कोक, उड़ता हरने निज विरह शोक ?
छाया की कोकी को विलोक

सूक्ष्म निरीक्षण के न जाने ऐसे कितने दृश्य पन्त के काव्य में भरे पड़े हैं।

आधुनिक कविता में प्रकृति चित्रण में एक और भी नवीन तथ्य पर दृष्टि गई। वह था वातावरण का चित्रण। इसमें वस्तुओं के वर्णन पर कवि की दृष्टि नहीं रहती है, रहती है उस वातावरण के चित्रण पर जिसका सम्पूर्ण अंग वे वस्तुएँ हैं। ऐसे चित्रणों में प्रभात का वातावरण, रात का वातावरण, वर्षा का वातावरण, पतझर का वातावरण आदि आते हैं। वातावरण चित्रण का प्रयोग और भी छोटे-बड़े कवियों ने किया है, पर इसमें पन्त का हाथ बहुत सधा हुआ है। गुंजन की एक तारा कविता में संध्या के वातावरण-अंकन की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

नीरव संध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रांत।
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर।

प्रकृति-चित्रण पन्त ने और भी कई अपरिचित नए क्षेत्रों में प्रवेश किया

है। उदाहरण के लिए वर्ण, ध्वनि, गंध और गति का बोध और उनका चित्रण उनके प्रकृति-काव्य को एक विशिष्टता प्रदान करता है।

कवि प्रकृति के रूप पर अवश्य मुग्ध हुआ है और इतने वेग से मुग्ध हुआ है कि जिस सौन्दर्य ने उसके प्राणों को भर दिया है, उसे वह अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहता, एक-एक प्राणी के उर मे उतारना चाहता है। और मधुकरी के साथ कुसुम के खुले कटोरों से उसने कुछ-कुछ मधुपान भी किया है—प्रकृति के रहस्य-रस का कुछ सचय भी कर लिया है; अतः बिना मोल लिए वह प्रकृति के अक्षय भण्डार से हृदय खोल मुक्त-हस्त सौन्दर्य लुटा रहा है, आनन्द की वर्षा कर रहा है। वह फूलो के हास को, तरल तुहिन वन के उल्लास को, वसंत में वन को डाल-डाल पर विचरण करने वाली कोकिल के कोमल बोल को, लोल लहरियो को, जलज पटों को खोल कर फूटने वाली शरद की रजत मुस्कान को लिए प्राणियो के नयनो और हृदयों की कुञ्ज गलियो मे पूछता फिरता है—

लाई हूँ फूलों का हास,
लोगी मोल, लोगी मोल?

इस तरह प्रकृति के अनन्य उपासक कवि ने प्रकृति से जो अपना सम्बन्ध स्थापित किया है उसमें एक अपना ढग है, एक विकास-क्रम है। प्रकृति की गोद मे पलने के कारण कवि उसके प्रेम का अधिकारी है; उससे आकर्षित होने पर वह उसी से प्रेम का पाठ पढ़ने जाता है और रस का संचय करने पर वह विश्व के मन को रस के स्रोत मे डुबा-डुबा देता है।

पहले प्रकृति कवि की जीवन-साधना रही है, यह स्वर्ण किरण की हिमाद्रि रचना से, जो बहुत पहले लिखी जानी चाहिए थी और बहुत बाद मे प्रकाशित हुई स्पष्ट होती है। हिमालय बचपन से ही कवि की प्रेरणा का उत्स रहा है; परन्तु जब से कवि मानवतावादी हुआ तब से प्रकृति संबंधी उसकी धारणा में भी अतर पड़ने लगा। और यह स्वाभाविक ही था। युगांत के बाद प्रकृति गौण हो गई और मानव प्रधान हुआ। पहले तो उसने कहा कि प्रकृति की जो प्राणमयता है वह प्रकृति के अपने कारण नही, मेरे कारण है। यह भावना युगांत और स्वर्ण किरण दोनों में पाई जाती है।

वह मानव-जीवन के संपर्क में जैसे-जैसे अधिक आता जाता है, मानव-

जीवन के सौन्दर्य को अधिक देखता है, मानव सुख-दुःख से अधिक तादात्म्य स्थापित करता है, वैसे ही वैसे प्रकृति की पूर्णता में उसे संदेह होने लगता है।

प्रकृति-सम्बन्धी भावना के विकास का अंतिम रूप पंत की रचनाओं में अभी तक यह है कि पुरुष प्रधान है, प्रकृति गौण; पुरुष देवता है, प्रकृति आराधिका; पुरुष प्रकृति के लिए आकुल नहीं, प्रकृति ही पुरुष के लिए आकुल है। चिर यौवना रमणी के रूप मे प्रकृति का चित्रण करते हुए कवि उत्तरा में कहता है—

> ना, तुमको भी क्या ढक लेगी
> धरती की वेणी अँधियाली?
> तुम भू के जीवन के तम में
> दो गूँथ उषा मुख की लाली!

पंत के काव्य-रूपकों—रजत शिखर और शिल्पी—में प्राकृतिक सौन्दर्य के अपूर्व चित्र पाए जाते हैं। अब तक वसंत को प्रकृति की सुन्दरतम ऋतु मानने की प्रथा-सी रही है; पर पंत ने अपने एक काव्य-रूपक में यह गौरव शरद ऋतु को प्रदान किया है। वहाँ निदाघ, वर्षा, हेमन्त, शिशिर और वसंत सभी ऋतुएँ शरद का अभिवादन करती हैं। शुद्ध प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से **रजत शिखर** का **शरद चेतना** शीर्षक काव्य-रूपक अनुपम बन पड़ा है।

अपने सभी काव्य-ग्रंथों में कवि ने प्रकृति के कोमल और कमनीय स्वरूप का ही चित्रण विशेष रूप से किया है; पर **शिल्पी** के **ध्वंस शेष** में पंत के पाठक उस प्रलय का वर्णन भी पाएँगे जो प्रकृति के भयंकर और वीभत्स रूप को सामने लाता है।

अतिमा में प्राकृतिक वस्तुओं का वर्णन करते समय उनकी सुन्दरता और कोमलता पर फिर कवि की दृष्टि एक बार कुछ अधिक देर तक जमी है, आकार-प्रकार का विवरण कुछ विस्तार से दिया गया है, अंग-भंगिमाओं को कुछ अधिक मुग्ध दृष्टि से देखा गया है, वस्तुएँ फिर युवतियाँ बन गई हैं। संक्षेप मे मानवीकरण की ओर उनकी रुचि फिर जगी है और इस प्रकार ये रचनाएँ एक बार फिर छायावादी प्रभाव में आ गई हैं।

प्रकृति के क्षेत्र मे पन्त की सबसे बड़ी विशेषता है **ज्योत्स्ना** में प्रकृति

के कल्याणकारी स्वरूप को चित्रित करना। पल्लव में पन्त ने गगन के गान को धरा, सरित, सर, सागर मे बरसा कर जगत के ताप को हरने की प्रार्थना की है, इसी प्रकार युगांत में कवि ने कोकिल से वाणी के पावक-कण बरसवाकर अंध-रूढ़ि-रीतियो तथा राग-द्वेषो को नष्ट करने एवं सुखपूर्ण नवीन मधुर जीवन लाने की बात कही है। पर बात दोनों स्थानों पर बढ़ने नहीं पाई। उनकी बात मेघों और कोकिलों ने सुनी या नहीं, इसका कोई सकेत नहीं। पर ज्योत्स्ना नाटिका में कवि की आशा फलवती हुई है। प्रकृति के मंगल-विधायक कर्मों को अंकित कर कवि ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति की है। ससार को ही स्वर्ग बनाने के स्वप्न बहुत दिन से ससार की कल्याण-कामना से पूर्ण हृदय देखते आए हैं।

सौन्दर्य का कवि

विजयशंकर मल्ल

छायावादी काव्य-युग की मौलिक विशेषता उसकी अदम्य स्वातन्त्र्य-भावना है। विभिन्न कवियो में इसका प्रतिफलन विविध रूपों में हुआ। उदाहरण के लिए पौरुषवान निराला में यह प्रवृत्ति समाज और साहित्य की बाह्य परिस्थितियों से प्रबल संघर्ष के रूप में प्रकट हुई, और संघर्षभीरु सुकुमार कवि पन्त में सौन्दर्यवादी तटस्थता के रूप में। सौन्दर्यवादी तटस्थता सापेक्षिक रूप में समझना चाहिए। वस्तुगत सन्दर्भ में यह प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाती है :

मेरा मधुकर का-सा जीवन

*   *   *

कुटिल काँटे हैं कहीं कठोर
जटिल तरु जाल हैं किसी ओर,
सुमन दल चुन-चुनकर निशि भोर,
खोजना है अजान वह छोर

वीणा और पल्लव में अधिकतर मानव और प्राकृतिक जगत इन्द्रिय-सुख का माध्यम है तो गुंजन में उसका अधिक सूक्ष्म भावमय रूप भी प्रकट हुआ है। सौन्दर्य-सत्ता की सविशेष कल्पना अप्सरा में सम्मूर्तित हुई है :

शत भावों के विकच दलों से
मण्डित, एक प्रभात
खिली प्रथम सौन्दर्य-पद्म-सी
तुम जग में नवजात,

भृगों से अगणित रवि, शशि, ग्रह,
गूँज उठे प्रसात,
जलज जलधि-हिल्लोल विलोड़ित
गन्ध अन्ध विशि वात ।

सुर नर मुनि वंदित यह अप्सरा सम्पूर्ण सृष्टि की कल्पना और विस्मयभाव का साकार रूप है । यह सौन्दर्यमयी परम सत्ता 'अपनी ही सुखमा से अनुपम' है । प्रत्येक युग में इसका नया-नया रूप प्रकट होता है :

युग-युग में आती हो रंगिणि ।
रच-रच रूप नवीन ।

पन्त मे नये युग का सूक्ष्मबोध इस सौन्दर्य की चेतना के रूप मे प्रकट हुआ । छायावाद के अन्य कवियो मे भी नवीन सौन्दर्यबोध अनेक रूप-रगो मे प्रकट हुआ है और काव्य-दृष्टि से उनका महत्त्व स्पष्ट है । पर ऐतिहासिक दृष्टि से निजी देन के रूप में पन्त की ही विशेषता मानी जायगी ।

इस वक्तव्य को स्पष्ट करने के लिए कुछ विस्तार अपेक्षित होगा । रीतिकालीन कवियो मे घनानन्द अपनी सवेगात्मक तीव्रता और अभिव्यक्ति की वक्रभगिमा के कारण छायावादी कवियो के निकट से प्रतीत होते हैं, पर वस्तुतः कितने दूर हैं यह देखने के लिए एक उदाहरण लीजिए :

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै ।
हँसि बोलनि में छवि फूलन की बरषा उर ऊपर जाति है ह्वै ।
लट लोल कपोल कलोल करैं, कलकण्ठ बनी जलजावलि द्वै ।
अंग-अंग तरंग उठै दुति की परिहै मनो रूप अबै धर च्वै ॥

इस चित्र में कई विशेषताएँ हैं । थोडी रेखाओ के द्वारा एक मार्मिक चित्र संगठित कर दिया गया है । स्थूल रूपाकार से अधिक रूप के प्रभाव का मनोरम आकलन भी द्रष्टव्य है । प्रस्तुत छवि तरल है, स्थूल नही । समग्रतः यह एक रसमय चित्र है । अब पन्त की रूपतारा की तरल दीप्ति देखिए .

एक लावण्य लोक छविमान
नव्य नक्षत्र समान
उदित हो दृग पथ में अम्लान
तारिकाओं की तान ।

प्रणय का रच तुमने परिवेश
दीप्त कर दिया मनोभव-देश,
स्निग्ध सौन्दर्य-शिखा अनिमेष
* * *
उषा-सी स्वर्णोदय पर भोर
खिला मुख कनक किशोर
प्रेम की प्रथम मदिरतम कोर
दृगों में दुरा कठोर
छा दिया यौवन-शिखर अछोर
रूप किरणों में बोर
* * *
अखिल इच्छाओं का संसार
स्वर्णछवि में निज गढ़ छविमान
बन गई मानसि ! तुम साकार
देह दो एक-प्राण ।

इस दूसरे उद्धरण में कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो घनानन्द या किसी भी पूर्वकालीन कवि के लिए एकदम अपरिचित हैं । सौन्दर्य की गहनता का सघन बिंबों द्वारा ऐसा भाव-मय प्रकाशन छायावाद युग मे ही सम्भव हुआ । चित्रण के ये बाह्य उपकरण नवीन सौन्दर्य चेतना और सवेगात्मक तीव्रता द्वारा रूपायित हुए हैं । सौन्दर्य के प्रत्येक स्पर्श पर कल्पना उत्तेजित होकर जैसे किसी अन्य सौन्दर्य-लोक की ओर दौड़ पड़ी है । इन्द्रियानुभवगम्य रूप-सौन्दर्य की प्रतीति ने कवि को वहीं बाँध नही दिया है, जैसा कि घनानन्द वाले उद्धरण में दिखाई पड़ता है, बल्कि उसने उसे सूक्ष्मतर सौन्दर्य-सत्ता की ओर प्रेरित कर दिया है। इससे परिचित रूप-सौन्दर्य नई आभा से मडित हो उठा है और एक सीमा के भीतर हमारी सौन्दर्य-चेतना पूर्वापेक्षया समृद्ध हुई है ।

घनानन्द की भाषा सवेगात्मक है, पर उनके चित्र का ढाँचा रीतिकालीन ही है । कवि की बिम्बनिर्मात्री शक्ति एक निश्चित केन्द्र से सम्बद्ध होकर एक निश्चित वृत्त के भीतर ही घूमती है, जबकि पन्त की कल्पना उन्मुक्त होकर पृथ्वी से आकाश तक का चक्कर लगा आती है । इसलिए प्रकृति के क्षेत्र से संकलित बिम्बों से सज्जित होकर पन्त की सौन्दर्य-प्रतिभा रहस्य और आश्चर्य

से परिवेष्टित होकर नया रूप धारण कर लेती है। घनानन्द का रूप-चित्र रस-मय होने पर भी सीमित आकार का बना रहा, जबकि पन्त का सौन्दर्य-चित्र विराट बन गया।

इतने सूक्ष्म और लचीले तत्वों से नई सौन्दर्य-प्रतिमा का संघटन आधुनिक मध्यवर्ग और नई औद्योगिक संस्कृति के विकास काल में ही सम्भव हुआ। हिन्दी में इसकी विशद काल्पनिक प्रतीति पहले-पहल पन्त को हुई। इस लेख के आरम्भ में जिस काव्यनिबद्ध अप्सरा का उल्लेख किया गया है वही पूरे छायावादी काव्य की सौन्दर्य-भावना का प्रतिनिधित्व करती है। सौन्दर्य के विराट और अलौकिक रूप की कल्पनिक प्रतीति ने उसकी छवि को रहस्यमय भेदों का शृङ्गार बना दिया है। इन्द्रलोक में पुलक नृत्य करने वाली अप्सरा को मानो कवियों ने पार्थिव जगत की बालयुवती, संसार-रूपी रंगशाला में नृत्य करने वाली रंगिणि बना दिया है। बदले में रूपवती सांसारिक नारी का सौन्दर्य भी उनके लिए अलौकिकता और रहस्य से संयुक्त होकर जिज्ञासा-वृत्ति के लिए विस्तृत भूमि तैयार कर देता है। अप्सरा और रंगिणि का बिंब छायावादी पन्त की कई कविताओं में मिलता है, क्योंकि लय-गति में बँधी नारी सौन्दर्य का ऐसा प्रतीक है जो पाठकों में तीव्र आह्लाद की ऐन्द्रिय और भावात्मक प्रतीति उत्पन्न करता है।

गेटे ने रोमांटिसिज्म को एक रोग कहा था। छायावादी कवि की सौन्दर्य-भावना कभी-कभी इस रोग को एक सब्त या झक के रूप में भी प्रकट करती है। कल्पना की दिग्भ्रमित शक्ति अप्सरा में भी प्रकट हुई है :

निखिल कल्पना में अयि अप्सरि।
अखिल विस्मयाकार।
गूढ़ निरर्थ असम्भव, अस्फुट
भेदों की शृंगार।
मोहिनि, कुहुकिनि, छल विभ्रममयि,
चित्र विचित्र अपार।

सौन्दर्य-प्रतिमा की यह अस्पष्टता, रहस्यात्मकता और आकर्षण सामान्यत: छायावादी काव्य की और विशेषतः पन्त के काव्य की एक विशेषता है।

२

पन्त की सौन्दर्य-चेतना का सर्वोत्तम प्रतिफलन प्रकृति के क्षेत्र में हुआ है।

सौन्दर्य के इस नये स्रोत से सौन्दर्य-चयन करने की आकांक्षा और शक्ति छायावादी कवियों की एक सामान्य प्रवृत्ति है, पर अन्यों की अपेक्षा प्रकृति से पन्त की अधिक गहरी मैत्री है। प्रकृति से ऐसा सहज सम्बन्ध और किसी कवि का नही है। मानव-संसार के अतिरिक्त प्रकृति के रूप में एक नये जगत का अन्वेषण सच्चे अर्थों में पन्त ने ही किया। प्रकृति के स्निग्ध और मधुर रूपों के प्रति जैसा निश्छल और उल्लासपूर्ण संवेग पन्त में है वैसा और किसी हिन्दी कवि में नही :

छवि को चपल अंगुलियों से छू
मेरे हृत्तन्त्री के तार,
कौन आज यह मादक अस्फुट
राग कर रहा है गुंजार।

हिन्दी-काव्य में चित्रित आवेगहीन प्रकृति पन्त के काव्य में अपना नैसर्गिक रूप प्राप्त करती है। इसके प्रकृति-काव्य में एक छोटा-सा फूल माधुर्य और सौन्दर्य की अक्षय राशि बन गया। सरिताएँ और लहरें मधुर भाव-तरंगों से स्पन्दित होने लगी। पर्वत की मौन गरिमा विस्मयजनक बन गई। भौंरों की गुंजार और उनका मधु-सचय देख कवि उस गुंजार और माधुर्य से अपने मानस को भर लेने के लिए व्याकुल हो उठा। चिड़ियों की चहक से उसका मन उद्वेलित और प्रतिध्वनित हो उठा। प्रकृति का पल-पल परिवर्तित रूप न जाने कितने रहस्य, माधुर्य और पारदर्शी सौन्दर्य का अक्षय स्रोत बन गया। प्रकृति के गत्वर सौन्दर्य को ग्रहण करने से उसकी संवेदनशीलता अतुलनीय है, क्योकि वह जानता है :

नवलता ही जग का आह्लाद।

प्रकृति का रूप-सौन्दर्य कवि के आह्लादमय संवेगो को ही नही जगाता बल्कि उसकी ग्राहक इन्द्रियो को उत्तेजित करके पूर्णतः सक्रिय बना देता है :

रूप का खिलता हुआ उभार
मधुर मधु का व्यापार,
चुभे उर में सौ-सौ मृदुशूल,
खुले उत्सुक दृग-द्वार।

प्रकृति की अनुभूति पन्त में ऐन्द्रिय स्तर पर भी मिलती है और सूक्ष्म भाव के स्तर पर भी। प्रकृति की रंगछाया, कोमलता और ध्वनि को पन्त ने असाधारण क्षमता के साथ सम्मूर्तित किया है। कभी-कभी उन्होंने अपनी सौन्दर्य-भावना को ही प्रकृति का रूप दे दिया है। कभी सुन्दर आदर्शों और मानवतावादी विचारों के लिए प्रकृति से प्रेरणा भी मिली है।

प्रकृति अक्सर पन्त की रचनाओं में नारी रूप में चित्रित हुई है और उससे तादात्म्य स्थापित करके कवि स्वयं भी बालिका या युवती बन गया है। मानवीय सौन्दर्य और सुकुमारता की सबसे कमनीय प्रतिमा नारी रूप में मिलनी स्वाभाविक है। प्रेम, आदर्श और सम्मोहित होने की प्रेरणा पन्त को विशेषतः प्रकृति से ही प्राप्त हुई है। ये सभी प्रवृत्तियाँ कवि के द्वारा सुन्दर नारी रूप को स्वांगीकृत करने की कामना के द्वारा भी स्पष्टतः लक्षित होती है। अतृप्त प्रेम और यौन भावनाओं ने उसे अनजान में ऐसे नारी रूप से प्रेम करने को विवश कर दिया है जो हर दृष्टि से आदर्श हो। कवि को प्रकृति में अपने आदर्श के अनुरूप ही सौन्दर्य प्राप्त हुआ। पर प्रकृति पन्त के लिए मनुष्य के अनुरूप या बराबर ही नहीं है बल्कि वह मानव से अधिक चैतन्य और अन्तर्ज्ञान सम्पन्न भी है।

> प्रथम रश्मि का आना रंगिणि! तूने कैसे पहचाना,
> *　　　　*　　　　*
> तूने ही पहले बहुदर्शिनि गाया जागृति का गाना।

सौन्दर्य-प्रेमी कवि के तत्पर हृदय पर जगत की अनेकानेक छवियाँ लगातार अंकित होती रहती हैं जो प्रकृति के रूप-विशेष से सम्पर्क प्राप्त करने पर एक भाव-सूत्र में ग्रथित होकर खिल उठती हैं। बादल और चाँदनी आदि रचनाओं में, बादल और चाँदनी ऐसे केन्द्रीय रूप-विशेष हैं जिनके सहारे सौन्दर्यानुभूतिमूलक अनेकानेक संवेग वस्तु-रूप में जीवित हो उठे हैं।

युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या में प्रकृति के रोमानी सौन्दर्य के अतिरिक्त वस्तुनिष्ठ यथार्थ और सूक्ष्म सौन्दर्य के मनोरम चित्र भी अनेक हैं। कलरव, झंझा में नीम, दो मित्र आदि में ऐसे ही चित्र हैं।

संक्षेप में पन्त के प्रकृति-काव्य में इन्द्रिय-बोध और भाव-बोध के स्तर पर अंकित प्रकृति के सुन्दर चित्र अतुलनीय हैं। सहज रागात्मक सम्बन्धों के द्वारा

उपलब्ध ये चित्र पाठक की प्रकृति को सुषमा की वह परख देते हैं जो अन्यत्र दुर्लभ है। पर प्रकृति के सुन्दर मधुर संगीतमय और कोमल रूपों तक ही पन्त की संवेदना का विस्तार हो सका है। कठोर दुर्द्धर्ष और भयकर चित्र भी परिवर्तन में बड़ी सफाई से आँके गए हैं, परन्तु वे अपवाद ही हैं। इस प्रकार पन्त की सौन्दर्य चेतना जहाँ प्रकृति के अक्षय माधुर्य-स्रोत को प्रत्यक्ष करने में सफल है और काव्य के भीतर अत्यन्त मनोज्ञ सृष्टि में साधक रूप हुई है वहाँ उसने उसके प्राकृतिक जगत को एक दृष्टि से सकुचित भी कर दिया है। पर प्रकृति के इन कोमल सौन्दर्य-चित्रों में जो ताजगी, जीवन्तता और भावोद्रेक क्षमता है उसका प्रतिस्पर्धी हिन्दी में कोई नहीं। हिन्दी-काव्य को पन्त की यह सबसे बड़ी देन है।

३

पन्त की सौन्दर्य-भावना का जो रूप मानव-जगत में मिलता है वह तत्वतः प्रकृति सौन्दर्य से भिन्न नहीं है, पर प्रकृति भाव या रूप की अधिक गहरी रेखाओं से आँकी गई है। मानव-जगत के सीमित क्षेत्र का सौन्दर्य उतने गहरे रंगों में रूपायित नहीं हो सका है। इसका कारण एक तो स्पष्ट ही पूर्वकालीन काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया का भाव है जिसने पुरानी हिन्दी-कविता से भिन्न रूप में लिखने के लिए कवि को कृतसकल्प कर दिया। दूसरा कारण समकालीन मानवतावादी आदर्श की प्रेरणा है जिसने कवियों की स्वातंत्र्य चेतना को अनुप्राणित करके पूर्ण स्वच्छन्द बना दिया था। एक तीसरा कारण यह भी है कि प्रकृति से कवि का अधिक निश्छल, अनौपचारिक और घनिष्ठ सम्पर्क रहा। इसलिए उसकी प्रतीति अधिक गहरे रंगों में बिम्बित हो सकी है। कवि की सौन्दर्य-भावना को अपना आदर्श मानव जगत के बीच विशेषतः नारी रूप में मिला। उसने नारी की कोमलता, दीप्ति, सुषमा, माधुर्य और उसके मिलन के उल्लास आदि का प्रत्यक्षीकरण किशोर अवस्था की आदर्शात्मकता, मुग्धता और कौतूहल के साथ किया है। नारी-सौन्दर्य की नई प्रतीति का पहला स्पष्ट परिचय उच्छ्वास और आँसू की बालिका के ही द्वारा मिलता है यद्यपि ग्रन्थि की बालिका को सलिल-शोभे जैसे सम्बोधन से स्मरण करके कवि ने उसका पूर्वाभास दे दिया था। उच्छ्वास और आँसू की बालिका रूपमयी कम भावमयी अधिक है :

सरलपन ही था उसका मन
निरालापन था आभूषन।

तुम्हारे छूने में था प्राण
संग में पावन गंगास्नान
तुम्हारी वाणी में कल्याणि
त्रिवेणी की लहरों का गान

—आँसू

रूप वस्तुनिष्ठ नाम-मात्र को रहकर जब भावरूप अधिक होगा तो धूँघला और कल्पना-प्रवण उसे होना ही होगा। कल्पना की कस्पसता ऐसे रूप-सौन्दर्य की प्रत्येक रेखा और भंगिमा मानसिक आभा से ही प्रकाशित हो सकी है। नारी का हृदय-सौन्दर्य ही कवि के मन का आश्रय बन गया :

तुम्हारा मृदु उर ही, सुकुमारि।
मुझे है स्वर्गागार।

—नारीरूप

स्नेहमयि, स्वप्नमयि, मायामयि, देवि, सहचरि, माँ, प्राण—जैसे विश्लेषणों से कवि ने नारी-सौन्दर्य का एक नया आयाम प्रस्तुत किया, जो प्राचीन हिन्दी-काव्य के लिए अपरिचित था।

अतृप्त प्रेम और यौन भावनाओं ने आदर्शमयी नारी में प्रेम प्राप्त करने के लिए कवि को विवश किया है। वह आदर्श सौन्दर्य की कल्पना नारी-रूप में करता है और फिर उससे प्रेम करना चाहता है। आदर्श सौन्दर्य के कल्पित प्रभावों से उसने नारी की प्रतिमा का निर्माण शुरू किया है, अतः उसमें प्रसाद के रूप-चित्रों का रस नहीं है। प्रसाद के प्रेम और सौन्दर्य में मधु का गाढ़ापन और खून की गरमी है, पर पन्त के चित्रों में ताजे पुष्परस की सुवास और शीतलता का परिचय मिलता है। उसमें यौवनोचित आवेश की कमी है। पन्त का प्रेम उच्चतर कोटि की सहानुभूति का पर्याय बन जाता है। इस प्रेम मे निष्क्रिय रूप मे भावों और ऐन्द्रिय संवेदनाओं की अनुभूति ही मिलती है, पर उसका आकर्षण नया है।

विद्यापति, सूर, देव, मतिराम, बिहारी आदि में रूप की वस्तुगत प्रतीति अधिक मिलती है तो पन्त में भावगत प्रतीति। इनके रूप-चित्र अक्सर प्रभावों से शुरू होते हैं और कल्पना के माध्यम से आकार ग्रहण करते हैं :

मृदूर्मिल सरसी में सुकुमार
अधोमुख अरुण सरोज समान,
मुग्ध-कवि के उर के छू तार
प्रणय का-सा नव गान,
तुम्हारे शैशव से साभार
पा रहा होगा यौवन प्राण
स्वप्न-सा, विस्मय-सा म्रम्लान
प्रिये प्राणों की प्राण

—भावी पत्नी के प्रति

ऐसी नारी के लिए आखिरकार कवि का यह कहना स्वाभाविक ही है कि पता नहीं तुम मन की भावना हो या ठोस आकार वाली शरीरधारी हो :

कल्पना हो, जाने, परिमाण ?

रूप-सौन्दर्य की विराट कल्पना का उल्लेख पहले हो चुका है। आँखो की विशालता की यह मार्मिक पहचान भी द्रष्टव्य है :

तुम्हारी आँखों का आकाश
सरल आँखों का नीलाकाश।

कवि की रूपतारा की छवि और प्रेम का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध इन पंक्तियों में कितनी अच्छी अभिव्यक्ति पा सका है :

कल्पना तुम में एकाकार
कल्पना में तुम आठों याम;
तुम्हारी छवि में प्रेम अपार
प्रेम में छवि अभिराम।

—रूपतारा

पन्त की नारी-सौन्दर्य-भावना इस प्रकार अपनी काव्यगत विशेषताओं से युक्त है। कल्पना उसके रूप में एक ऐसी क्रान्ति है जो पहले अपरिचित थी। अन्य छायावादियों की सौन्दर्य से इनकी भावना कुछ दृष्टियों से अलग है। इनके रूप-चित्रों में सौन्दर्य के एक केन्द्र की सूक्ष्म भाव और कल्पना का आभा-

मय परिवेश प्राप्त हुआ है। इस परिवेश-मण्डल की रेखाएं मृदु संवेगों की प्रेरणा से मधुर व्यंजना का वृहत्तर वृत्त बनाने की शक्ति से पूर्ण हैं। प्रसाद के रूप-चित्रों की प्रखरता और रसमयता की जगह पन्त के सौन्दर्य-बिंबों में स्निग्धता और शीतलता है। निराला के सदीप्त रूप-चित्रों की अस्त-व्यस्तता के बीच प्रकाशित ज्योति इनमें नहीं है। इन सौन्दर्य-प्रतिमाओं में चांदनी के धुंधलेपन का आकर्षण है, पर यह आकर्षण साधारण नहीं :

अधिक छिपने में सुख अनजान
सखि! तुमने लोचन-मन छीन,
कर दिए पलक-प्राण गतिहीन,
लाज के जल की मीन

—रूपतारा

पौरुष के सौन्दर्य पर पन्त की दृष्टि ज्यादा नहीं टिकी है। नारी का कोमल रूप ही उन्हें मग्न कर सका है। विरह-प्रसंग में करुण-सौन्दर्य की एकाध झलक उनमें मिलती है, पर मिलन-सुख ने कवि को अधिक लुभाया है। नारी-सौन्दर्य की कामना, जिज्ञासा और प्राप्ति तक उसकी भावना सीमित रही है। रूप-रंग स्पर्श और ध्वनि की सूक्ष्म संवेदना के द्वारा उसने नारी-सौन्दर्य कल्पित किया है। मनुष्य के पौरुष रूपों तक उसकी पहुंच नहीं हो सकी है। यह निराला और प्रसाद का क्षेत्र है। अपने क्षेत्र में पंत की कल्पना का चमत्कार निजी है।

४

विचार के क्षेत्र में भी पन्त की सौन्दर्य-दृष्टि का ही आदि से अन्त तक प्रसार दिखाई देता है। उनकी काव्य-चेतना की हर लहर सौन्दर्य-कामना से ही स्पन्दित है। सौन्दर्य की एकमात्र सत्ता उनके लिए सत्य और शिव का ही रूप है :

'एक छवि के असंख्य उडुगण,
एक ही सब में स्पन्दन'

...

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार;
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव अधिकार।

सौन्दर्य-कल्पना के ही माध्यम से जीवन की वास्तविकताओं को ग्रहण करने का प्रयास सर्वत्र लक्षित होगा—'मैं स्वप्न का स्वर्णकपाट खोलकर जीवन के मर्म की ओर बढ़ा हूँ।' (जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण)। छायावाद पुराने विश्वासों की चहारदीवारी को तोड़कर तो आगे बढ़ा है पर अपने लिए उसने विश्वास की एक सुदृढ़ प्रतिमा गढ़ ली है और वह उसी को केन्द्र मानकर बराबर चक्कर लगाता है। उसकी परिधि में और धारणाएँ भी आती गई हैं पर वह केन्द्र से हटा नहीं है। पन्त की रचनाओं में यह विशेषता किसी-न-किसी रूप में बराबर बनी हुई है। कवि के शब्दों में—'मुझ जैसे व्यक्ति के लिए जीवन के तथाकथित यथार्थ को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेना कठिन हो जाता है। मेरी आँखों के सामने जीवन का एक विशिष्ट विधान, एक पूर्णतम मूर्ति रहती है।' कवि के लिए यह मूर्ति सौन्दर्य की ही हो सकती है।

गुंजन-काल में विश्वास, रूप और भावना के सौन्दर्य के संचय और उसके आनन्द मे कवि मग्न है :

रे गूंज उठा मधुबन में
नव गुंजन, अभिनव गुंजन,
जीवन के मधु संचय को
उठता प्राणों में स्पन्दन।
खुल खुल नव-नव इच्छाएँ
फैलातीं जीवन के दल,
गा-गा प्राणों का मधुकर
पीता मधुरस परिपूरण।

उसे संसार की हर वस्तु में सुन्दरता के दर्शन होते हैं। यह सौन्दर्य-मोह इतना बढ़ गया है कि गुंजन की तेरहवीं कविता में, जो सोलह पंक्तियों की है, कवि को बाईस बार सुन्दरता का नियोजन करना पड़ा है। मनुष्य के रूप में उसने नयी मानवता की सौन्दर्य-प्रतिमा का आवाहन किया है :

मेरे मन के मधुवन में
सुषमा के शिशु ! मुसकाओ।

कहीं उसे विराट सत्ता के सौन्दर्य का सृष्टि-व्यापी आह्लादकारी प्रभाव दिखाई पड़ा है तो कहीं लौकिक या दिव्य नारी की रूप-छटा का कोमल आलोक। कहीं उसे अपनी ही छवि से सुन्दर चाँदनी का साक्षात्कार होता है तो कहीं वायु ही नारी के रूप-रंग में बँधकर नाचता दिखाई देता है।

अपने सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में विचार करते हुए पन्त ने लिखा है कि 'प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पना-जीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जनभीरु भी बना दिया। यही कारण है कि जन-समूह से मैं अब भी दूर भागता हूँ।' सौन्दर्यवादी तटस्थता की यह मौलिक प्रवृत्ति कवि के काव्य-विकास को सही ढंग से समझने में सहायता देती है। सौन्दर्य की यह वृत्ति जीवन के कोमल अंशों का ही चयन करती है : 'मानव-स्वभाव का भी मैंने सुन्दर ही पक्ष ग्रहण किया है, इसी से मेरा मन वर्तमान समाज की कुरूपताओं में कटकर भावी समाज की कल्पना की ओर प्रधावित हुआ है।' ('आधुनिक कवि' की भूमिका)। यह वक्तव्य कवि की एकांगी जीवन-दृष्टि को स्पष्ट करता है और उसके प्रगतिवादी काव्य-रूप का भी सही मूल्यांकन करने में सहायक होता है। गुंजन और ज्योत्स्ना का नवीन सौन्दर्य-बोध कर्मसंकुल जगत में प्रसार पाने की जगह आत्म-कल्याण और समाज-मंगल की आदर्शवादी भावभूमि पर टिका रहा। पल्लव काल का ऐन्द्रियबोध बीच-बीच में उसमें प्राण-संचार करता रहा, पर जीवित संसार में सम्पर्क रहने पर ही कविता में नया-नया जीवन आ सकता है। उसके अभाव में एक तरह की एकरसता और ऊब का क्रमशः आना स्वाभाविक ही था।

इसी समय कवि का मार्क्स के भौतिकवादी विचारों से सम्पर्क हुआ। अब उसने बौद्धिक स्तर पर सौन्दर्य की खोज शुरू की। गुंजन में सुख-दुःख के समन्वय द्वारा जीवन में सौन्दर्य और मंगल का अधिष्ठान देखने की कामना युगवाणी में बहिरन्तर और भौतिकता तथा आध्यात्मिकता में समन्वय के लिए सक्रिय हुई। पर यह चेष्टा सिर्फ ऐतिहासिक महत्व रखती है काव्य की दृष्टि से इसका विशेष महत्व नहीं है। युगवाणी में कवि वातावरण के दबाव और अध्ययन से उपलब्ध ज्ञान के द्वारा मार्क्सवादी विचारों को अपनाने की कोशिश कर रहा है, पर उसका मन बराबर संघर्षरत है और सौन्दर्य की स्पष्ट प्रतीति के बिना नये सत्य को स्वीकार नहीं कर पाता। कवि और विचारक में द्वंद्व है। सन्धि के लिए कवि की कल्पना आती है जिसके द्वारा भावी के स्वप्न-पट पर सौन्दर्य-

प्रतिमा की प्रतिष्ठा होती है :

मुझे स्वप्न दो मुझे स्वप्न दो
वस्तु ज्ञान से ऊब गया मैं
सारे मद में डूब गया मैं
मेरे स्वप्नों की छाया में
जग का वस्तु सत्य जावे खो।

गुंजन के सुषमा के शिशु का आवाहन युगवाणी में इस प्रकार हुआ :

आज बनो फिर तुम नव मानव।
चुन चुन सार सार प्रकृति से अतुलित।
जीवन रूप धरो हे अभिनव ।

'आज असुन्दर लगता सुन्दर', 'कूड़ा करकट सब कुछ भू पर, लगता सार्थक सुन्दर' आदि पंक्तियाँ कवि के विचारक रूप को ही प्रकट करती हैं। विभिन्न संस्कृतियों, वर्गों आदि के विश्लेषण मे कवि पन्त का आच्छादित रूप ही प्रकट है, इसलिए कवि के अन्तस्संघर्ष के साक्षीरूप में अथवा तत्कालीन वातावरण के परिचायक रूप में इनका महत्व भले ही हो, काव्यरूप में नहीं है। पन्त के प्रकृत रूप का परिचय युगवाणी-ग्राम्या काल में इस प्रकार की रचनाओं में मिलता है.

१—प्रकृति सम्बन्धी कविताओं में, जहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य यथार्थ के अधिक निकट व्यक्त हुआ है और उसके परिचित रूप के भीतर से नया और अप्रतिम हृद्य आलोक जगमगा उठा है।

२—स्वप्नशील रचनाओं में, जहाँ कवि के हृदय का भाव-सौन्दर्य मुखरित हो सका है।

३—मानवता के भावी रूप-सौन्दर्य को वाणी प्रदान करने वाली कविताओं में

ग्राम्या के ग्रामीणों में यथार्थता की विश्वसनीयता नहीं है, बल्कि रोमानी सौन्दर्य की पुरानी भावना ही है। इनमें कवि का कलात्मक उत्कर्ष द्रष्टव्य है।

सौन्दर्य विषयनिष्ठ है, विषयीनिष्ठ है या इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध में है—इस समस्या पर दृष्टिपात और अपनी मान्यता को पुनः घोषित करके युगवाणी के कवि ने अपने सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट ही महत्व दिया है।

भाव, वाणी या रूप
तुम क्या हो चिर मूक सुमन।
किसके प्रतिरूप ?
× × ×
विजय रूप की सदा भाव पर
भाव रूप पर निर्भर।

और

प्राण ! रूप का सत्य
रूप के भीतर नहीं समाता।

यह रूप, जो भविष्य के स्वप्नलोक में झलकें मार रहा है, कवि को सन्तुष्ट न कर सका। १९४५ में तत्कालीन साम्यवादी दल के मन्त्री पूरनचन्द जोशी के नाम अपने पत्र में पन्त ने लिखा : '…मेरे प्राण सौन्दर्यवादी है, और मेरा सौन्दर्य लोकप्राण है, इसीलिए मैं कम्युनिज्म से प्रभावित हूँ।' पर उन्हें यह सौन्दर्य वर्तमान समाज की कटुता और संघर्ष के बीच मिल न सका, इसलिए उसके लिए नई भूमि की खोज अस्वाभाविक न थी। पन्त ने युगवाणी-ग्राम्या काल में नवीन युग का आवाहन एक किशोर-हृदय की जिज्ञासा और कुतूहल के साथ किया था। जिज्ञासा और कुतूहल वास्तव में छायावाद युग की प्रवृत्तियाँ हैं, जो थोड़ा रूप बदलकर इस बार सामने आईं, पर आखिरकार कल्पना के स्वप्न-लोक में ही उनकी कुछ तुष्टि सम्भव हुई। ग्राम्या मे भी ग्रामीणों को भावी के स्वप्न-पट मे चित्रित किया गया है। यथार्थवादी की भेदक दृष्टि के द्वारा सामाजिक मनुष्यों के वाह्य और आन्तरिक सघर्ष के बीच कर्म-सौन्दर्य के साक्षात्कार से ही इस भूमि पर टिका जा सकता था, पर कर्म-कोलाहल के भीतर से सौन्दर्य को ढूंढ़ निकालना कवि के स्वभाव के विरुद्ध था। इसी बीच कुछ व्यक्तिगत परिस्थितियाँ ऐसी आईं कि कवि ने एक नये रहस्यवाद की छाया में शरण ले ली।

यही उसके काव्य-जीवन का तीसरा युग शुरू होता है। इसमे अरविन्द-दर्शन की प्रेरणा प्रमुख है जिसने बुद्धि अग्राह्य सत्य, नवीन ऐश्वर्य और महिमा की खोज में मन को ऊर्ध्वगामी बनाया। भौतिकवाद से असन्तोष, अरविन्द से परिचय और घातक बीमारी से मुक्ति के अतिरिक्त कवि को अन्तर्मुख और आत्मा के ऊर्ध्व संचरण के लिए तैयार करने में आधुनिक मनोविज्ञान से भी किसी-

न-किसी रूप में प्रेरणा मिली। यद्यपि उपचेतन में कवि की सचेत रुचि दार्शनिक कारणों से है, मनोवैज्ञानिक कारणों से उतनी नहीं। बाहर से भीतर की ओर ले जाने वाली यह वृत्ति मूलतः रोमांटिक ही है जिसने मानव-चेतना की बुद्धि-निरपेक्ष वृत्ति को विशेष गौरव दिया। स्वर्ण किरण में, जो नवचेतना के प्रतीक रूप मे आई है, कवि दिक्कालातीत सत्व में अधिक विश्वास करता दिखाई देता है और उसी के प्रति उसने आत्मसमर्पण भी कर दिया है। बीसवीं सदी के यूरोपीय प्रतीकवादियों की भाँति उसने भी एक नये रहस्यवाद को जन्म दिया, पर यीट्स की भाँति निश्छल रूप मे भौतिक स्तर की स्वीकृति उसमें नहीं मिलती। यद्यपि अपनी रचनाओं में उसने सामाजिक स्थिति और उसके उत्कर्ष की अनेक रूप कामना प्रगट की है, पर भौतिक जीवन के मंथन और दर्द को वह वाणी नहीं दे सका है। उसके भावी रूप की सौन्दर्य-कल्पना अथवा भीतर के सौन्दर्य-लोक में ही उसके मन को विश्राम मिला है। स्वर्णकिरण और बाद की रचनाओं में मनुष्य के ईश्वरीय रूप को प्राप्त करने के लिए मन या चेतना के उन्नयन पर बल देकर प्रच्छन्न मन के उच्च स्तरों को उद्घाटित करने का प्रयत्न है। सौन्दर्य से प्रेरित अनुकूल वेदनीय भाव (आनन्द) को वस्तु-रूप में पुनरुज्जीवित करना आवश्यक है। केवल भावोच्छ्वासों के बल पर उसे उपस्थित करना दूर तक काव्योचित नहीं हो सकता। इसके लिए दो मार्ग हैं। या तो भावों को मनुष्य के बाह्य और मानसिक जगत की सक्रियता के माध्यम से व्यक्त किया जाय अथवा बिंबों या प्रतीकों के द्वारा। छायावादी कवि पन्त ने दूसरा मार्ग अपनाया। आधुनिक युग के यूरोपीय रोमांटिक कवियों ने भी यही किया; पर यीट्स-जैसे कवियों के प्रतीकों में भौतिक स्तर की अन्तरंग स्वीकृति होने से उनमें यथातथ्यता और ठोसपन है, पन्त के प्रतीकों मे धुंधलेपन और ताजगी का अभाव-सा है। यहाँ इस स्थिति की विस्तृत व्याख्या करना हमारा उद्देश्य नहीं है बल्कि इन सब प्रयत्नों के मूल में स्थित सौन्दर्य-चेतना की ओर संकेत करना है जो छायावाद युग मे स्पष्ट थी, युगवाणी-ग्राम्या में भावी के पट पर उद्भासित हुई और स्वर्णकिरण तथा बाद की रचनाओं में रहस्यवादी विश्वासो की परिधि में प्रतीको के माध्यम में व्यक्त हुई है।

५

इस लेख में कवि के मानसिक विकास की विभिन्न स्थितियों का निर्देश-मात्र किया जा सका है, इसकी विवेचना और व्याख्या नहीं हुई है। पन्त की

काव्य-चेतना की मूल प्रेरणा सौन्दर्य है। उसका स्वरूप क्या है तथा किस प्रकार उसका विकास हुआ और उसके प्रतिफलन के कौन-कौन से स्तर रहे हैं यही दिखलाना यहाँ हमारा उद्देश्य रहा है। सौन्दर्य की आराधना पन्त की उपलब्धि रही है और उनकी काव्य-चेतना की सीमा भी। एक समय में यह नवयुग की चेतना का वाहक रही और अब कर्म-सौन्दर्य और व्यावहारिक जीवन-विवेक की माग करने वालों की दृष्टि में अवरोधक। पंत ने जिस सत्य की व्यंजना की है वह भौतिक वास्तविकता का सत्य नहीं, आदर्श का सत्य है। उन्हें इसी में सौन्दर्य मिला है। उनके इस कथन को स्वीकार करना कठिन है कि अन्तर्मुखी स्वभाव के ही द्वारा मंगल-बोध हो सकता है (आधुनिक कवि की भूमिका)। अपने से बाहर मानव-जीवन के बाहरी और भीतरी रूपों के सदर्भ में मानव-अभ्युदय की जो जीवित और विश्वसनीय आशा और आकांक्षा प्रकट होगी वही अधिक का व्योपयुक्त और जीवनोपयुक्त हो सकेगी। इसके लिए सम्भवतः सुख-दुःख कोमलता, कठोरता, क्षुद्रता, महत्ता से युक्त इस ससार के मानव-मन और बाह्य सक्रियता तथा संघर्ष को चित्रित करना आवश्यक होगा।

कवि पन्त से इस बात की माग करना अन्याय होगा। उनकी सुकुमार सौन्दर्य-चेतना अपने क्षेत्र में अब भी अतुलनीय है। स्वर्णकिरण के स्वर्णोदय में सौन्दर्य की निजी सत्ता से उद्भूत होकर सौन्दर्य के सृष्टि-प्रसार में विकसित होते हुए मानव (स्त्री-पुरुष) का पुनः उसी सौन्दर्य सत्ता मे लीन होकर एकाकार हो जाने की कल्पना नवीन न हो, पर उसकी रमणीयता से इंकार नहीं किया जा सकता। बाद की प्रतिमा और वाणी में भी सौन्दर्य का कोमल आलोक फैला हुआ है। अनेक प्रकार के सघर्षों और जटिलताओं मे पड़े हुए वर्तमान युग के बीच मानव के सुन्दर भविष्य में अकम्पित विश्वास रखते हुए निरन्तर सौन्दर्य की खोज और उसका साक्षात्कार कवि की प्रतिभा का सबल प्रमाण है। उसके नवीन जीवन-दर्शन से चाहे हमारा मतभेद हो और उसकी काव्य-प्रेरणा के सहज प्रवेग मे भी भले ही कमी आ गई हो, पर आज भी मृदु संवेगों से स्पन्दित उसके स्निग्ध सौन्दर्य-चित्रों की विशेषता तो स्वीकार ही करनी होगी।

स्वच्छन्दतावादी शैली | ई॰ चेलिशेव

ज्योत्स्ना नामक स्वच्छन्दतावादी नाटक के साथ पन्त की काव्य-साधना का प्रथम कालखण्ड समाप्त होता है। भारतीय साहित्यशास्त्री इसे कभी-कभी **सौंदर्य युग या छायावादी युग** कहते हैं। पन्त काव्य के एक प्रसिद्ध शोधक श्री गोपालकृष्ण कौल इस युग के विषय मे यों लिखते हैं : "उस समय समाज में और राजनीति में एक विद्रोही भावना का जन्म हो गया था जिसका प्रवेश कला और सौंदर्य के क्षेत्र में भी हुआ, क्योंकि साहित्य जीवन के प्रभाव से पृथक् नही रह सकता। इसलिए कलाकार ने रूढ़िगत रीतिकालीन काव्य-परम्परा से विद्रोह किया, प्राचीन काव्य-भाषा (ब्रजभाषा) से विद्रोह करके खड़ी बोली को काव्योचित कोमल और प्रवाहपूर्ण बनाया और स्थूल से विद्रोह करके सूक्ष्म को अपनाया। इन विद्रोही प्रवृत्तियो के काव्य-प्रवर्त्तकों मे पन्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन प्रारम्भिक रचनाओं में प्राचीन शैली के प्रति विद्रोह और नवीन काव्य-शैली के निर्माण की सफलता की झलक है। छन्द, भाषा और भाव सभी में पन्त ने प्राचीन के प्रति विद्रोह कर नवीन को अपनाया, स्थूल को त्याग सूक्ष्म को ग्रहण करने का प्रयत्न किया।"[1]

इस काल-खण्ड की पन्त की रचनाओं को सामान्यतः छायावादी काव्य में गिना जाता है। इसी काल मे सर्वश्री निराला तथा प्रसाद द्वारा निर्मित रचनाओं के साथ मिलकर पन्त की कविता ने हिन्दी की इस नई धारा की ठोस नींव डाली है।

---

१. गोपालकृष्ण कौल, पन्त के काव्य में तीन युग, सुमित्रानन्दन पन्त, 'काव्य-कला और जीवन-दर्शन' नामक पुस्तक में, दिल्ली, १९५७, पृ॰ १३१।

अपने नवीनतापूर्ण प्रयत्नों का सैद्धान्तिक विवेचन पन्त ने 'पल्लव' (सन् १९२६) की प्रस्तावना में किया है। रीति-काव्य के वैचारिक सौंदर्यात्मक पक्ष के कट्टर समर्थक और हिन्दी के एक प्रसिद्ध कवि श्री रत्नाकर (१८६६-१९३२) द्वारा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में दिए गए भाषण ने पन्त को यह प्रस्तावना लिखने के लिए प्रवृत्त किया। वाद-विवादात्मक ढंग से लिखी गई यह प्रस्तावना अपने-आप में एक घोषणा-पत्र ही बन गई, जिसने हिन्दी काव्य की नई धारा के जन्म एवं अस्तित्व के अधिकार की घोषणा की और उसकी प्रस्थापना की। यह धारा आगे चलकर छायावाद कहलाई। उक्त प्रस्थापना पन्त की वस्तुतः पहली ही साहित्य-शास्त्रीय कृति है। इसमें पन्त द्वारा उन नए सौन्दर्यविषयक तत्वों की प्रस्थापना तथा समर्थन किये गए हैं, जो उनकी रचनाओं में मार्गदर्शक तत्व बने हुए हैं। काव्य के स्वतन्त्र विकास में बाधा डालने वाले जीर्ण-शीर्ण सिद्धांतों का आलोचनात्मक विश्लेषण भी इसमें किया गया है। हिन्दी साहित्य में एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हुए इस प्रस्तावना ने नई धारा का मार्ग प्रशस्त किया और शृङ्खला सदृश काव्य-सिद्धान्तों से मुक्ति पाने में उसकी सहायता की। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे अनेक भारतीय साहित्यशास्त्री इसे आधुनिक भारत के सौंदर्यात्मक विचार के विकास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण चरण मानते हैं।

कविता जीवन से पीछे या पृथक नहीं रह सकती है, इसी विचार से उक्त प्रस्तावना अनुप्राणित है। कविता को चाहिए कि वह नए युग का स्वर बन जाए, समाज की अग्रगामी शक्तियों के आदर्शों को वाणी दे, चतुर्दिक की सृष्टि का अर्थ भली-भाँति और अधिक गहराई के साथ समझ लेने में मनुष्य की सहायता करे, उसमें सौंदर्य भाव जाग्रत कर दे। पन्त बल देकर कहते हैं: आशा है विश्वविद्यालय के उत्साही हिन्दी-प्रेमी छात्र, जब तक हमारे वयोवृद्ध समालोचक, बेचारे देव और बिहारी में कौन बड़ा है, इसके निर्णय के साथ उनके भाग्यों का निबटारा करने तथा 'सहित' शब्द में ष्यञ् प्रत्यय जोड़कर साहित्य की सृष्टि करने में व्यस्त हैं, तब तक हिन्दी में अंग्रेजी ढंग की समालोचना का प्रचार कर, उसके पथ में प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।"[1]

---

१. श्री सुमित्रानन्दन पन्त, पल्लव, पाँचवाँ संस्करण, प्रयाग, सं० २००६, पृ० १-२२।

पन्त के शब्दों में कविता को अब कुछ इने-गिने सुरुचि-सम्पन्न लोगों के मनोरंजन का एक साधन मात्र बनकर नहीं रहना चाहिए। उसे तो जाति के हितार्थ सेवारत होना चाहिए। भारत में अनेक शताब्दियों से प्रसृत कृत्रिम कविता की कठोर आलोचना पन्त ने इन शब्दों में की है: "व्रजभाषा की कविता में अधिक कृत्रिमता आने का एक मुख्य कारण यह समस्या-पूर्ति भी है। क्या कवि की विश्वव्यापी प्रतिभा के तागे को सुई की आँख में डाल देना ही कविता है? सरकस के खिलाड़ियों की तरह दूर से दौड़ लगाकर शब्दों के एक कृत्रिम परिमित वृत के भीतर से होकर उस पार निकल जाना ही कवि का काम है? क्या बहुपतियों को वरने की असभ्य प्रथा, कलंक की तरह हिन्दी द्रौपदी के भाल पर सदा के लिए लगी ही रहेगी? उस लक्ष्य-वेध का, इस तुकबन्दी चाँदमारी का अब भी अन्त नहीं होगा?"[1]

कविता के विकास को मन्दी का एक कारण पंत के अनुसार यह है कि भारत में सच्चे अर्थ में आधुनिक साहित्यिक आलोचना का पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है। वह लिखते हैं: "जब तक हमारी साहित्यिक आलोचना नए समय की आत्मा के अनुकूल नहीं होगी, जब तक वह विश्व-साहित्य के सशक्त स्वर में अपना स्वर नहीं मिलाएगी, तब तक आधुनिक हिन्दी साहित्य के सफल विकास की प्रतीक्षा करना व्यर्थ होगा।"[2]

सामाजिक-राजनीतिक जीवन के सभी क्षेत्रों में और विशेषकर विश्वविद्यालयीन शिक्षा के क्षेत्र में, हिन्दी भाषा के विस्तृत प्रसार में पंत राष्ट्रीय साहित्य के सफल विकास की प्रत्यक्ष भूमि देखते हैं।

पंत के सौंदर्य-विषयक दृष्टिकोणों की समस्त प्रणाली में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान काव्य के रूप एवं विषय-वस्तु से संबंधित समस्या का है। आधुनिक हिन्दी काव्य में सबसे पहले पंत ने ही यह विचार प्रस्तुत किया कि रूप एवं वस्तु की अंगभूत एकता के बिना उसकी सौंदर्यात्मक पूर्णता निरर्थक है। उत्तरमध्ययुगीन भारतीय काव्य में काव्यरूप के विषय में यह धारणा बहुप्रचलित थी कि काव्यरूप, वास्तविक विषय-वस्तु से स्वतंत्र, अपने-आप ही में मूल्यवान है। इसकी आलोचना करते हुए पंत बल देकर कहते हैं कि रूप अपने-आप में

१. सु० पंत, पल्लव, पृ० १४-१५।
२. वही, पृ० ३६।

सुन्दर नहीं हो सकता, क्योंकि यह अपने-आप में काव्य का लक्ष्य नहीं है। उसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि वह सबसे विस्तृत श्रोतृगण के लिए सहज-गम्य भाषा और काव्यविषयक साधनों का प्रयोग करते हुए विषय को अधिक अच्छे ढग से सुस्पष्ट कर दे। वह लिखते हैं : "हमारे साधारण वार्तालाप में भाषा-संगीत को जो यथेष्ट क्षेत्र नहीं प्राप्त होता, उसी की पूर्ति के लिए काव्य में छन्दों का प्रादुर्भाव हुआ है। कविता में भावों के प्रगाढ़ संगीत के साथ भाषा का संगीत भी पूर्ण परिस्फुट होना चाहिए तभी दोनों में सन्तुलन रह सकता है।"[1]

पर हिन्दी कविता को नए पथ पर अग्रसर कराने के लिए चरित्र-चित्रण एवं वर्णन साधनो की समूची प्रणाली के आमूल पुनर्निर्माण तथा नूतनीकरण की आवश्यकता थी। ये साधन थे भाषा, शैली और कविता का सारा रूप-विधान ही। इस पुनर्निर्माण का भार रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महारथी के कन्धे ही वहन कर सकते थे।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नवीनतापूर्ण कविता के मूल में वास्तविकता के कलात्मक उद्घाटन के नए सिद्धात निहित थे। यह सही है कि रवीन्द्र की यह कविता पत के लिए इस बात का उज्ज्वल उदाहरण रही कि किस प्रकार रूपविधान को चतुर्दिक् के ससार एव मानवीय भावो के सुस्पष्ट तथा सर्वांगीण उद्घाटन के उद्देश्य का अनुगामी बनाए रखकर नए आशय को पूर्ण विकसित कलात्मक रूप मे ढाला जा सके। पर ध्यान रहे कि पत की कविता गुरुदेव की कविता का कोरा अनुकरण मात्र नही है, क्योकि वह भली-भाँति जानते थे कि बंगला काव्य मे गुरुदेव द्वारा लाई गई नवीनता को केवल यात्रिक प्रतिकृति उतारने से हिन्दी कविता की प्रगति कराना सभव नही है।

पत की नवीनता और पुरानी परिपाटी के प्रति उनकी निषेध भावना सबसे पहले कलात्मक रूपविधान के क्षेत्र मे ही प्रकट हुई है।

पर यह समझना ठीक नही होगा कि पत ने अतीत की भारतीय काव्य-कला को पूर्णतया अस्वीकृत कर दिया हो। चर्चात्मक ढग से काव्य-साधना के नए सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए भी पत ने समृद्ध भारतीय काव्य-परम्परा की उत्कृष्ट उपलब्धियो को उपेक्षा नही की। नवीनताप्रिय कवि के सम्मुख एक

---

१. सु० पंत, पल्लव, पृ० २६।

महान तथा कठिन कार्य था। यह था भारतीय काव्य की युग-युग से चली आई, सूक्ष्मतापूर्वक विकसित कलात्मक वर्णन-साधनों की प्रणाली को आलोचनात्मक ढंग से स्पष्ट करना, उसमें जो कुछ मूल्यवान तथा नवयुगानुकूल है उसे स्वीकृत करना, उसमें से कुछ बातों को नया रूप देना और जीर्ण-शीर्ण, कालविपर्ययपूर्ण तथा नई कविता के स्वतन्त्र विकास में बाधा डालने वाले तथ्यों को अस्वीकृत कर देना। काव्यात्मक अभिव्यक्ति के नए रूपों, मार्गों एवं साधनों के विकास में पंत की नवीनता इसीलिए उत्पादनशील तथा अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई कि परम्परा के साथ उसका निकट संबंध रहा है।

सभी संभव अलंकारों की जटिल प्रणाली भारतीय कविता के कलात्मक रूप-विधान का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रही है। 'नाट्यशास्त्र' से लेकर अनेकानेक भारतीय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इस प्रणाली का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया गया है। इस विषय में कुंवर सूर्यबली सिंह लिखते हैं: "भारतीय काव्य में अलंकारों का क्या स्थान है इसका पता इसी से लग जाता है कि काव्यशास्त्र को अलंकारशास्त्र भी कहते हैं—मानो अलंकार काव्य का पर्याय है··· अलंकारविहीन काव्य उष्णताहीन अग्नि है।"[1]

हिन्दी काव्य में अलकारों का विशेष विस्तृत प्रसार उत्तर मध्ययुग मे रहा। अलकारों के कारण उस समय कविता का स्वरूप मात्र जटिल औपचारिकतापूर्ण रहा। नई परिस्थितियों के अन्तर्गत कविता में अलंकार निर्णयकारी भूमिका नही प्रस्तुत कर सकते···क्योंकि, कुंवर सूर्यबली सिंह के अनुसार, "अलकार काव्य के शोभाधायक गुण हैं न कि काव्य की आत्मा। अलंकारों से काव्य-शोभा का उत्कर्ष होता है जिस प्रकार आभूषणों से रूप-शोभा की श्रीवृद्धि होती है।"[2]

पंत ही सर्वप्रथम हिन्दी कवि रहे हैं जो आधुनिक हिन्दी कविता में परंपरागत अलंकारों की भूमिका एवं उपयुक्तता का ठीक मूल्यांकन कर सके हैं और उन अलंकारों का चयन कर सके हैं जो नई परिस्थितियों में अधिक-से-अधिक सफलतापूर्वक प्रयुक्त किए जा सकते हैं। काव्य-रूप के अन्य अंगों की भाँति

---

१. कुंवर सूर्यबली सिंह, हिन्दी कविता, बनारस, १९५४, पृ० १६२।
(आगे कुं० सिंह, हिन्दी कविता)।
२. वही, पृ० १६१।

अलंकारों की ओर भी पंत इसी दृष्टिकोण से देखते हैं कि आशय के सर्वोत्तम उद्घाटन में वे कहाँ तक समर्थ हैं। तथाकथित आलंकारिक काव्य के पृष्ठपोषकों की आलोचना करते हुए वह लिखते हैं : "ब्रजभाषा के अलंकृत काल की अधिकाश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासों की ऐसी अराजकता तथा अलकारों का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता। स्वस्थ वाणी में जो एक सौंदर्य मिलता है उसका कहीं पता ही नहीं! उस 'सूधे पाँय न धरि सकत शोभा ही के भार' वाली ब्रज की वासक-सज्जा का सुकुमार शरीर अलंकारों के अस्वाभाविक बोझ से दबा दिया गया।"[1]

पंत अलकारों को काव्य के केवल बाह्य रूप को चमकाने-दमकाने वाला साधन मात्र नहीं मानते। उनके अनुसार, "अलकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं; वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं; भाषा की पुष्टि के लिए, *राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं।*'' *जिस प्रकार संगीत* में सात स्वर तथा उनकी श्रुति-मूर्च्छनाएँ केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए नहीं होती हैं और विशेष स्वर के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह-अवरोह से विशेष राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलंकारों, शब्द-शक्तियों तथा छदों के सामंजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है।"[2]

सबसे अधिक विस्तृत और सृजनशील रूप में पंत अर्थालकारों के कुछ प्रकारों और विशेषकर सादृश्यमूलक अलकारों का प्रयोग करते हैं। पंत की काव्य-साधना के कुछेक शोधक ठीक ही कहते हैं कि उनकी काव्य-शैली की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमे परपरागत भारतीय काव्य-साधनों और पश्चिमी यूरोप से अपनाई गई पद्धतियों का अभिन्न सगम हुआ है। पंत द्वारा उपयोजित अर्थालकारों के स्वरूप के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारतीय काव्य में बहुतायत से प्रयुक्त सादृश्यमूलक अलंकारों के मूल में ऐसी दो घटनाओं या वस्तुओं की तुलना होती है जो पूर्णतया निश्चित और स्थिर विशिष्ट संबंध सूचित करती हैं। यही कारण है कि भारतीय काव्य में कई समानरूप प्रतीकों का विस्तृत प्रचलन रहा है।

१. सु० पं०, पल्लव, पृ० १८।
२. वही, पृ० १६।

उदाहरणार्थ, कमल को कोमलता या सौंदर्य का, अग्नि को वेग या क्रोध का, सागर को अलक्ष्य विस्तार या गंभीरता का, चातक को अक्षय निःस्वार्थ प्रेम या आत्मार्पण का प्रतीक माना जाता है। ऐसे ही अन्य कई प्रतीक हैं। कवियों ने इन सभी प्रतीकों का प्रयोग ठीक परंपरा की माँग के अनुसार ही किया है। उनमें कुछ मौलिक परिवर्तन लाने का प्रयत्न उन्होने कदाचित ही किया है।

पंत के काव्य में प्रयुक्त परंपरागत प्रतीकों में अनेक बार कुछ और ही वैचारिक वजन रहता है, उनमें मानव के किन्ही भावों या अनुभूतियों के प्रति इंगित निहित रहता है। अपनी आकस्मिकता एवं अद्भुतता से पाठक को चकित करने वाले अर्थालंकार उनकी रचनाओं में तीव्र भावुकता तथा कल्पना-रम्यता का वातावरण उत्पन्न करते हैं। इसमें कुछ शोधकों को पश्चिमी यूरोपीय अभिव्यक्तिवाद के प्रभाव की झलक दिखाई देती है।[1] ऐसे अलंकार कवि ने परंपरागत भारतीय काव्यशास्त्र से नही, अपितु चतुर्दिक् की वास्तविक सृष्टि से लिये हैं।

पंत की कविता की नवीनता तथा मौलिकता यह है कि उसमें मूलभूत सादृश्यमूलक अलकार उपमा एवं रूपक एक विशेषता रखते हैं। वास्तविकता के प्रतीकात्मक रूपाकन मे महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करने वाले ये साधन उनकी कविता मे रहस्यमयी, सतत परिवर्तनशील प्रकृति के और चित्रविचित्र रगों में रंगी हुई चिर सुंदर, सूक्ष्म काव्य-कल्पना के स्वरूप की आम रगत में एक निखार ला देते हैं। इस प्रकार पर्वतीय वायु बंसरी बजाने वाले चरवाहे के रूप में प्रस्तुत होता है, नवजात शिशु की तुलना कवि उस कोमल, अर्धोन्मीलित वासतिक कलिका के साथ करता है जो "अभी यह नहीं जानती कि उसमें कैसे सौंदर्य एवं सौरभ की निधि छिपी हुई है," या फिर उसकी तुलना की जाती है नवजात पर्वतीय निर्झर के साथ जो शुद्ध तथा पारदर्शी है और विना कुछ सोचे-विचारे अज्ञात पथ पर उछलता हुआ आगे बढ़ता रहता है। वायु उनकी कविता मे आकाश की एक विशाल लहर बना जाता है, तो जलप्रपात नीरव पर्वत का गूँजता हुआ गीत, जबकि आकाश का तारा बन जाता है अति-सुन्दर दिव्य विहंग। ऐसे और कई उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

---

१. उदाहरणार्थ, नगेन्द्र (देखिए नगेन्द्र, सुमित्रानंदन पंत, पृ० ५६)।

'ग्रन्थि' शीर्षक अपनी रचना में पंत ने विविध उपादानों का विस्तृत प्रयोग किया है। यहाँ इन्होंने एक विशेष रंग भर देने वाले प्रधान साधनों से काम लिया है। इनके कारण प्रकृति-चित्रों को एक विशेष प्रतीकात्मक स्वरूप प्राप्त हुआ है। दूर से बहती चली आई बयार के कारण नदी के प्रवाह पर उठने वाली हलकी तरंगों की तुलना कवि ने किसी सुप्त युवती की अचानक जाग्रति के साथ की है, जबकि आँखों में धुँधलाहट लाने वाले अश्रुओं की तुलना की है उन हलके बादलों के साथ जो क्षण-भर के लिए सूर्य को ढाँप देते हैं; या फिर शोकगीतों, क्षणिक आकांक्षाओं, अस्पष्ट मृगजल, कोमल सुगंध इत्यादि के साथ।

कभी-कभी तो पूरी रचना उपमा पर उपमाओं की एक माला ही हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर देती है। उदाहरणार्थ 'छाया' शीर्षक कविता को लीजिए। इसमें उपमा पर उपमा प्रस्तुत कर कवि मानव के भावों एवं अनुभूतियों के संसार के साथ प्रेरणादायी प्रकृति की विभिन्न घटनाओं के अभिन्न सम्बन्ध के वातावरण की सृष्टि करता है। छाया यहाँ पर जैसे सजीव हो उठती है, भावों एव चेतना से परिपूर्ण हो जाती है :

धीरे-धीरे संशय से उठ
बढ़ अपयश सी शीघ्र अछोर
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा-से निशि-भोर।

जब कवि नारी की प्रतिमा खींचता है, जो अखण्ड रूप से प्रकृति से सम्बद्ध रहती है, उस समय सौंदर्य एवं रहस्यमयता, उच्चता एवं कोमलता की वाम छटा के निर्माण में उपमाएँ महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती हैं। अन्य शब्दों मे, वे जैसे नारी के उन गुणो मे गहराई भर देती हैं जो कवि के सौंदर्यात्मक आदर्श के लिए अधिक अनुकूल होते हैं :

गूढ़ कल्पना-सी कवियों की
अज्ञाता के विस्मय सी।
ऋषियों के गम्भीर हृदय सी
बच्चों के तुतले भय सी।

'पल्लव' शीर्षक सुप्रसिद्ध रचना की श्रेष्ठ काव्यात्मकता का श्रेय मुख्यतया भावुकता से ओतप्रोत उन उपमाओं को ही है (नव पल्लवों की नवजात शिशुओं से की गई तुलना उल्लेखनीय है) जो दिव्य चेतना से अनुप्राणित प्रकृति एवं मानव की सामंजस्यपूर्ण एकता का चित्र प्रस्तुत करती हैं।

पंतजी की रचनाओं में समासोक्ति और अन्योक्ति जैसे परम्परागत अर्थालंकार भी देखने को मिलते हैं। इनका *निर्माण परम्परित रूपकों के आधार*-तत्त्व पर होता है। इनके लाक्षणिक अर्थ का आधार होता है कोई विशिष्ट अंतःप्रवाह, अस्पष्ट इंगित, प्रच्छन्न अर्थ या फिर प्रतीकात्मक समानता। सामा-*न्यतः यह कहा जा सकता है कि पंतजी के लगभग प्रत्येक प्रकृति-चित्र में प्रच्छन्न* अर्थ निहित रहता है, और किन्हीं मानवीय अनुभूतियों की छटाएँ उभर आती हैं। उदाहरणार्थ, 'पल्लव' शीर्षक कविता में, जाग्रत हो रहे वासंतिक वन के लाक्षणिक वर्णन में मानव के जागरणोन्मुख भावों के प्रति इंगित स्पष्ट रूप से गूँज उठता है। कई उदाहरण ऐसे हैं जिनमें पन्त के काव्य की रूपकात्मकता तत्क्षण स्पष्ट नहीं होती और किसी-किसी उपकरण के प्रच्छन्न अर्थोद्घाटन के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, संदेह भावना की अभिव्यक्ति के लिए पंतजी द्वारा निर्मित यह रूपकात्मक वातावरण देखए :

निद्रा के उस अलसित वन में
यह क्या भावी की छाया
दृग-पलकों में विचर रही, या
वन्य देवियों की माया।

चाँदनी का रूपांकन कवि प्रकृति के निम्नांकित मानवीकृत चित्र के रूप में करता है :

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद हासिनि
मृदु करतल पर शशि-मुख धर
नीरव अनिमिष एकाकिनि।

प्रच्छन्न अंतःप्रवाह के लिए इस प्रकार के काव्यात्मक चित्रों के प्रयोग से कवि को विभिन्न घटनाओं की तुलना करने, विविध वैचारिक छटाओं के जटिल

समूहों की सृष्टि करने और भावों तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को अत्यधिक उज्ज्वल बनाने का अवसर मिलता है।

परम्परागत भारतीय अलंकारों में किसी घटना का स्पष्टीकरण दूसरी घटना के सहारे कराने के उद्देश्य से दो घटनाओं की समानता का क्रम नियमतः निराकार से साकार की ओर होता है। उदाहरणार्थ, तुलसीदासजी की रामायण में हृदय की समानता तड़ाग के साथ दिखाई गई है जबकि रामचन्द्र जी के भावों की तुलना वन में बेतहाशा दौड़ने वाले वन्य हाथी के साथ की गई है। पर पंतजी की कविता में इसके विपरीत तुलना का क्रम साकार से निराकार की ओर होता है जिससे उनके काव्यात्मक रूपांकन एवं उपकरणों को एक अपार्थिवता की विशाल भावात्मक परिपुष्टि का स्वरूप प्राप्त होता है।

गिरिवर के उर से उठ-उठकर
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर।

परम्परागत भारतीय अर्थालङ्कारों से सम्बन्ध जारी रखने वाले उपकरणों के साथ-साथ पंतजी ऐसे काव्यात्मक साधनों का भी विस्तृत प्रयोग करते हैं जो यूरोपीय कविता का एक साधारण अंग होते हैं और जिनका आधार होता है शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग। शब्द की अनेकार्थकता पर आधारित मानवीकरण एवं विशेषणों का प्रयोग पंतजी विशेष विस्तृत मात्रा में करते हैं। यह सही है कि शब्दों की अनेकार्थकता का प्रयोग ऐसी कोई तत्वतः नई बात नहीं है जो पहले भारतीय काव्य के लिए अपरिचित रही हो। पर उत्तर मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में इन साधनों का प्रयोग मात्र बाह्य काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता था जबकि पन्तजी के काव्य में इनका प्रयोग आशय के अधिकतम प्रभावशील उद्‌घाटन के एकमात्र लक्ष्य को दृष्टिगत रखकर ही किया जाता है। वैसे पन्तजी द्वारा प्रयुक्त कोई भी विशेषण लीजिए, उसमें ऐसी चित्रमयता होती है जिससे उनकी रचना में प्रेरणात्मक एवं भावात्मक प्रभाव का रंग चल पाता है और निखर उठता है। 'स्वप्न का मौन चुंबन,' 'आँसुओं से भीगा हुआ गीत', 'नीरव पीड़ा और उसकी मुखर शांति' इत्यादि उदाहरण इस सम्बन्ध में दिए जा सकते हैं।

इसी प्रकार पंत मानवीकरण का भी विस्तृत प्रयोग करते हैं। पर वह

केवल मानवीय भावों एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रकृति की प्रतिमाओं का उपयोग नहीं करते—ऐसा उपयोग तो उनसे पहले भी भारतीय कविता में विस्तृत मात्रा में प्रचलित था। वस्तुतः पन्तजी के समस्त प्रकृति-विषयक गीतमुक्तक मानव की उपस्थिति की भावना से अनुप्राणित हैं। ऊषा उन्हें प्रियतमा की मुसकान का स्मरण दिलाती है, फूलों को खिलती हुई पंखुड़ियों में उन्हें शिशु के कोमल होंठ दिखाई देते हैं और क्षितिज पर उभरने वाले हिम-शिखर उन्हें किसी शुभ्र-वदना सुन्दरी की मुस्कान-से लगते हैं। ऐसे ही अन्य प्रतीक भावुकता की वह परिपुष्टि उत्पन्न करते हैं जिसकी सौन्दर्य की दृष्टि से कोई बराबरी नहीं कर सकता। पन्त जी के समस्त काव्य का यह एक अभिन्न गुण-विशेष है। कभी-कभी ये प्रतीक अपनी अभिव्यंजना-शक्ति के कारण असाधारण से लगते हैं और उन्हें समझ लेना कुछ कठिन-सा मालूम पड़ता है। उदाहरणार्थ, विहग उनके लिए विटप-बालिका है, तो लहर है सलिल-बालिका।

अंग्रेजी काव्य से अपनाए गए प्रतीक भी पन्तजी को रचनाओं में देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

गरज गगन के गान गरज गम्भीर स्वरों में
भर अपना सन्देश उरों में औ' अधरों में

स्पष्ट है कि उक्त दो पंक्तियों में 'भर अधरों में' शब्द 'to open lips' के अर्थ में प्रयुक्त हैं और पतजी ने हिन्दी के प्रचलित 'मुँह खोलना' के स्थान मे उसका प्रयोग किया है। अंग्रेजी मुहावरों के प्रतिरूपों का प्रयोग भी पन्तजी के काव्य में पर्याप्त मात्रा में देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ : जीवन का पहला पृष्ठ', 'विचारों में बालकों की साँस'। पर पंतजी की कविता में, और वैसे देखा जाए तो समस्त छायावादी काव्य ही में, मुहावरेदारी का उतना विस्तृत प्रचलन नहीं है, जितना कि वह उर्दू शायरी में है। कुछ भारतीय साहित्यशास्त्री इस बात को हिन्दी कविता की एक कमी ही मानते हैं।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार " 'पल्लव' की भूमिका से पन्त की उस महत्त्वपूर्ण बौद्धिक प्रक्रिया का पता चलता है, जिसके द्वारा उन्होंने शब्दों की प्रकृति, उनकी अर्थ-बोधन क्षमता, उनके अर्थों के भेदक पहलुओं की विशिष्टता, छन्दों की प्रकृति, तुक और ताल के महत्त्व आदि को समझा था और

समझने के बाद काव्य में प्रयोग किया था।"[1] कई बार यह अनुभव होता है कि पन्तजी की समस्त समृद्ध काव्य-कल्पना पूरी रचना के किसी एक शब्द ही में केन्द्रित रहती है। ऐसे भाव-परिपुष्ट शब्द पंतजी के काव्य में समृद्ध मात्रा में मिलते हैं। 'एक शब्द-चित्र' का स्पष्टीकरण डॉ० नगेन्द्र 'एक ही शब्द से अंकित चित्र' इन शब्दों में देते हैं। पंतजी भाषा के सूक्ष्म भावों, शब्द की विभिन्न अर्थच्छटाओं के धनी हैं और हिन्दी के सुसमृद्ध शब्द-भण्डार का उपयोग बड़े ही कलात्मक ढंग से करते हैं। हिन्दी की साहित्यिक भाषा के विकास को उनकी जो देन है उसका मूल्यांकन जितना ऊँचा किया जाए उतना कम ही है। डॉ० नगेन्द्र ठीक ही कहते हैं कि पन्तजी की सेवा सबसे पहले इसी बात में निहित है कि "जिस खड़ी बोली का रूप अनस्थिरता के वाग्जाल से निकालकर हरिश्चन्द्र ने स्थिर किया और मैथिलीशरण गुप्त ने जिसे प्रांजल और मधुर बनाकर काव्योचित रूप दिया, उसकी समस्त शक्तियों को विकसित एवं गूढ़ निधियों को प्रकाशित करने का श्रेय पन्तजी को ही है।"[2]

पंत की सूक्ष्मता से विकसित काव्य-भाषा के, उनकी कविता की सरलता एवं अर्थवत्ता के मूल में 'हजारों टन शाब्दिक कच्ची धातु' के शोधन-परिमार्जनार्थ किए गए महत् प्रयत्न निहित हैं।

समुचित शब्द-चयन पर पंतजी सर्वोपरि ध्यान देते हैं। अभिव्यक्तिशील, अनेकार्थक, संस्कृत तत्सम शब्दों को प्राथमिकता देते हुए भी वह अपने को इस चौखटे तक ही सीमित नहीं रखते जैसा कि हिन्दी के कुछ आधुनिक कवियों की रचनाओं में देखा जाता है।

भावात्मक अभिव्यक्ति को अधिक प्रभावशील बनाने के हेतु बोलचाल के शब्दों के साथ-साथ ही प्रचलित-साहित्यिक शब्दों का समांतर रूप से प्रयोग भी पंतजी की काव्य-भाषा का एक विशेष स्वरूप है। उदाहरणार्थ, अकेली सुन्द-रता कल्याणी वाक्यांश में संस्कृत के साहित्यिक एकांत (सूने) शब्द के बदले उन्होंने बोलचाल के 'अकेली' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे रचना में शैली की दृष्टि से एक विशेष अतिरेक उत्पन्न होता है, अकेलेपन के मनोविज्ञान में गहराई आती है।

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, दिल्ली, १९५२, पृ० ४३४।

२ नगेन्द्र, सुमित्रानंदन पंत, पृ० ६२।

शब्द-योजना विषयक अपने कार्य में पंतजी परंपरागत भारतीय शब्दालकारों का भी सहारा लेते हैं। विशेष विस्तृत रूप में वह यमक शब्दालकार का प्रयोग करते हैं। 'ग्रंथि' शीर्षक रचना की ये दो पंक्तियाँ देखिए :

तरणि के ही संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।

यहाँ प्रथम पंक्ति में 'तरणि' शब्द सूर्य के अर्थ में प्रयुक्त है, जबकि दूसरी पंक्ति में 'नाव' के अर्थ मे। इस प्रकार दो भिन्न अर्थों में एक ही शब्द के प्रयोग से नाटकीय वातावरण अधिक प्रभावशील हो उठता है। निम्नांकित और दो पंक्तियों मे भी यह देखा जा सकता है :

घूमता है सन्मुख वह रूप
सुदर्शन हुए सुदर्शन-चक्र।

यहाँ सुदर्शन शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त है—एक बार विशेषण 'सुन्दर' के अर्थ मे और दूसरी बार श्रीकृष्ण के एक नाम के रूप मे। इस प्रयोग से रचना के रहस्यमय एवं प्रेरणादायी वातावरण मे और गहराई आती है।

शब्दालङ्कार का एक और प्रकार भी पंतजी के काव्य में देखने को मिलता है। यह है श्लेष। काव्यात्मक संदर्भ में एक ही बार किसी अनेकार्थक शब्द के प्रयोग द्वारा व्यंजनापूर्ण अर्थ सूचित करने का कार्य इस अलकार मे किया जाता है। उदाहरणार्थ :

बीनता के ही प्रकंपित पात्र में
दान का कर छलकता है प्रीति से

अनेकार्थक शब्द पात्र क्षण में बर्तन तथा क्षण में हृदय के प्रति संकेत कर कविता मे एक प्रच्छन्न आशय भर देता है।

पुनरुक्ति शब्दालकार का प्रयोग भी पतजी ने विस्तृत मात्रा मे किया है। इससे उनकी रचनाओं में भावात्मक गहराई तथा पुनरावृत्त शब्द की प्रभावशीलता बढ़ती है। पुनरावृत्त शब्द-रचना का वैचारिक केन्द्र जो बन जाता है। देखिए :

विहग, विहग !
फिर चहक उठे पुंज-पुंज
चिर सुभग-सुभग !

भाषा के समस्त माध्यमों को काव्य के आशय के सर्वाङ्गीण उद्घाटन के एकमात्र लक्ष्य की सिद्धि का साधन बनाने के अपने प्रयत्न में पन्तजी कभी-कभी 'व्याकरण की लौह-शृङ्खलाओं तक को तोड़ डालते हैं', जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने कहा है। कवि की मान्यता है कि यदि किसी रचना के प्रधान शब्द का व्याकरणात्मक लिंग रचना के आशय से मेल नहीं खाता है, तो रचना की भाव-परिपुष्टि बहुत ही क्षीण हो जाती है। उदाहरणार्थ, 'प्रभात' और 'प्राण' हिन्दी मे पुल्लिंग शब्द हैं, पर पन्तजी इन्हें बराबर स्त्रीलिंग में प्रयोग करते हैं। उनकी काव्य-कल्पना में प्रभात की प्रतिमा का सम्बन्ध एक युवती के विकासोन्मुख कोमल सौन्दर्य के साथ होता है। ऐसे सदर्भ में उक्त शब्द का पुल्लिंग मे प्रयोग कवि-कल्पना द्वारा निर्मित माधुर्यपूर्ण चित्र को ध्वस्त कर देता है। वस्तुतः ऊषा की प्रतिमा से सम्बन्धित पतजी की कई रचनाओं मे प्रतीकात्मक स्थापन का आधार 'प्रभात' शब्द का स्त्रीलिंग मे प्रयोग ही रहा है। यह उदाहरण देखिए :

रुधिर से फूट पड़ी रुचिमान
पल्लवों की यह सजल प्रभात

"इस संदर्भ मे प्रभात को पुल्लिङ्ग मान लेने पर मेरे सामने प्रभात का सारा जादू, स्वर्ण, श्री, सौरभ, सुकुमारता आदि नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, उनका चित्र ही नही उतरता,"[1] पत लिखते हैं। रचना के सदर्भ के अनुसार 'बूंद', 'कपन' आदि शब्दो के व्याकरणात्मक लिंग भी पतजी बदलते हैं।

भावी पत्नी के प्रति शीर्षक रचना में एक ऐसे युवक का चित्र अकित है जो अपने हृदय में भावी पत्नी की प्रतिमा विषयक स्वप्नो को सँजोए हुए है। इस प्रतिमा की तुलना वह अपने लिए सर्वाधिक प्रिय वस्तु से अर्थात् अपने प्राणो से करता है ("प्रिये प्राणो की प्राण")। इस तुलना में निहित भावुकता प्राण शब्द के स्त्रीलिङ्ग मे प्रयोग ही से तो निखर उठती है। जब किसी वाक्य का कर्ता

---

१. सु० पन्त, पल्लव, पृ० १।

स्त्रीलिङ्ग संज्ञा हो और उसमें विधेय का नामिक अंग का काम देने वाली संज्ञा पुल्लिंग हो तो ऐसी स्थिति में सम्बन्धित पुल्लिङ्ग संज्ञा भी पंतजी की कविता में स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होती है। उदाहरणार्थ :

बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।

'मित्र' हिन्दी में पुल्लिंग शब्द है, पर उपर्युक्त संदर्भ में 'बालिका' संज्ञा से सम्बन्धित होने के कारण स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त है।

भावाभिव्यक्ति को अधिक-से-अधिक सारगर्भ बनाने के हेतु कवि 'होना' सहायक क्रिया को छोड़ देता, जटिल संयुक्त अक्षरों को दूर रखता और क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग कदाचित ही करता है। कुछ क्लिष्ट संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते समय उन्हें अनुकूलोच्चारी बनाने के लिए वह हेतुपूर्वक सधिनियमों को तोड़ देता है (उदाहरणार्थ, 'मरुतोकाश' को वह 'मरुताकाश' बना लेता है)।

यदाकदा पंत की रचनाओं में ध्वनिशास्त्रीय नियमों का उल्लंघन भी देखा जा सकता है। मुख्यतः यह कुछ व्यंजनों को मृदु बनाने के रूप में होता है। 'बान', 'मरन', 'कन' आदि शब्दों में कवि मूल संस्कृत के शब्दों के मूर्धन्य 'ण' के स्थान में मृदुतर 'न' का प्रयोग करता है।

काव्यभाषा में नवीनता लाने के पंतजी के प्रयत्नों की रूढ़िवादी भारतीय साहित्यशास्त्रियों द्वारा कभी-कभी कठोर आलोचना की जाती है। ये लोग उनके साहसपूर्ण प्रयोगों को काव्यभाषा के प्रस्थापित नियमों के उल्लंघन मात्र के रूप में देखते हैं। इस प्रकार एक साहित्यशास्त्री श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी घोषित कर देते हैं कि "सच बात तो यह है कि हमारी भाषा में निरर्थक शब्दों से कविता सुन्दरी को सजाने वाला इतना बड़ा दूसरा कवि अभी तक नहीं हुआ। कवि की इस मनोवृत्ति का सबसे अधिक अनुचित प्रयोग 'गुंजन' में मिलता है।"[1] श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी पंतजी के सभी नवप्रयोगों की निंदा करते हैं। पंतजी की रचनाओं में उन्हें दिखाई देते हैं ध्वनि की दृष्टि से अस्पष्ट अनुप्रास, शब्दों की अनावश्यक पुनरावृत्ति, शब्दों के लिङ्गों का मनमाना परिवर्तन और अस्वाभाविक उपमाएँ एवं रूपक। वह पूछते हैं कि "उदाहरणार्थ, 'चीटियों की-सी काली-पाँति' और 'गीतों का पाँति' में क्या समता हो सकती है?"[2]

---

१. बृजकिशोर चतुर्वेदी, आधुनिक कविता की भाषा, आगरा, सं० २००१, पृ० ६१-७०।
२. वही, पृ० ७५।

पर इसके विरुद्ध मत भी विद्यमान है। देखिए, पंतजी के साहसपूर्ण प्रयोगों के विषय में डॉ० नगेन्द्र क्या कहते हैं: "पंतजी के इस स्वभाव-वैषम्य पर रूढ़ियों के उपासक कुछ भी कह लें, परन्तु उनकी कलात्मक आवश्यकता पर संदेह करना सरल नहीं है।"[1]

वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दी कवियों में से पंतजी एक पहले कवि हैं जिन्होंने काव्य के ध्वनि विषयक अंग पर ध्यान दिया है। संगीतात्मकता को वह काव्यात्मक अभिव्यक्ति का एक महत्त्वपूर्ण साधन मानते हैं। वह लिखते हैं: "कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है; उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हो, जिनका भाव-संगीत विद्युत्-धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो।"[2] सच्ची कविता में भाव एवं भाषा के एकात्म सामंजस्य की अपेक्षा रहती है। पंतजी कहते हैं कि "जहाँ यह ऐक्य नहीं होता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के 'बट्ठ समुदाय' ही दादुरों की तरह इधर-उधर कूदते-फुदकते तथा सामध्वनि करते सुनाई देते हैं।"[3]

पंतजी द्वारा प्रयुक्त शब्दों की ध्वनि-छटा सदा ही शब्द के अर्थ से सम्बद्ध रहती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह कभी शब्द पर बल देते हैं, तो कभी उसे अधिक स्थूल या स्फीत बनाते हैं और अभिव्यंजनशीलता को सशक्ततर बनाते हुए रचना की भावात्मक परिपुष्टि को वृद्धिगत करते हैं। उदाहरणार्थ 'लहर' के अर्थ में कवि कई विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करता है। इन शब्दों की ध्वनियों के वजन के अनुसार किसी विशिष्ट भाव या मनोविन्यास की पूर्णतर एवं स्पष्टतर अभिव्यक्ति में सहायता मिलती है। 'लहर' में सलिल के वक्ष-स्थल का कोमल कम्पन या हलकी-सी छप-छप सुनाई देती है, 'तरंग' से अधीर लहरों के समूह के एक-दूसरे को धकेलने, उठने-गिरने, नाचने-थिरकने के चित्र में और गहराई भर जाती है, 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, मन्द

---

१. नगेन्द्र, सुमित्रानंदन पंत, पृ० ६६।

२. सु० पंत, पल्लव, पृ० १७।

३. वही, पृ० १८।

वायु के कोमल स्पर्श से किंचित् कम्पायमान लहरियों का आभास मिलता है, तो 'ऊर्मि' शब्द से हमारे सम्मुख उछलती-कूदती, एक-पर-एक सरपट दौड़ती, हवा के थपेड़ों के कारण फेन की परतों को तार-तार करती हुई उत्पातपूर्ण तरंगें खड़ी हो जाती हैं। विभिन्न काव्यात्मक सन्दर्भों में पंतजी 'वायु' के अर्थ में कई पृथक् पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करते हैं। इन शब्दों की विशिष्ट ध्वनियाँ भावात्मकता को अधिक प्रभावशील बनाती हैं। 'अनिल' से एक प्रकार की सुखद, शुद्ध शीतलता का अनुभव होता है, तो 'वायु' से कोमलता एवं लचीलेपन का;'प्रभंजन' गर्जन-तर्जन के साथ बालुका-कणों की बदलियों को उड़ाता और पत्तियों को पेड़ों से उचाटता हुआ वह उठता है तो 'श्वसन' की सनसनाहट छिपी नहीं रह सकती; 'पवन' से कवि को ऐसा लगता है जैसे हवा के रास्ते में कोई रुकावट आ पड़ी हो, जबकि 'समीर' में हवा की तेज लहरों की ध्वनि-सी सुनाई पड़ती है।

'भौंह' के अर्थ में विविध पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग भी पंतजी इसी प्रकार ध्वनि-सम्बन्धों की विशिष्ट अभिव्यक्तिशीलता से लाभ उठाकर विशिष्ट मनोक्रियाओं के सन्दर्भ में करते हैं। उनके अनुसार 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चंचलता और 'भौंहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता का अनुभव होता है।

कवि के मन में उत्पन्न होने वाले विभिन्न वैचारिक ध्वनि-वस्तु सम्बन्धों से कोई सहमत हो या न हो, पर यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि असाधारण संगीतात्मकता, सुन्दर शब्द-चयन रचना को अत्यधिक अभिव्यक्ति-सम्पन्न एवं भाव-परिपुष्ट बनाने में उसकी सहायता करते हैं।

काव्यात्मक अभिव्यक्ति को पुष्टतर बनाने के लिए पंतजी कभी-कभी कुछ शब्दों का प्रचलित रूप तक बदल देते हैं। इससे ऐसे नए शब्द बन जाते हैं जिनके ध्वनि-मूल्य से उनका अर्थ पूर्णतर एवं स्पष्टतर हो जाता है और उनका भावात्मक रंग निखर उठता है। कवि 'प्रिय' विशेषण के स्थान में 'प्रि' का प्रयोग करता है, 'स्वप्निल', 'ह्लाद', 'अनिर्वच', 'सिंगार' जैसे नए शब्दरूप गढ़ लेता है।[1]

रचना की अभिव्यक्तिशीलता को सशक्ततर बनाने के हेतु पंतजी कई, निश्चय-

१. देखिए : नगेन्द्र, सुमित्रानंदन पंत, पृ० ६६।

वाचक अव्ययों का भी विस्तृत स्तर पर प्रयोग करते हैं। ('भी', 'ही', 'सा', 'सी', 'रे' इत्यादि)। इन अव्ययों के प्रयोग से रचना के चित्र में गठन एवं तालबद्धता की बारीकी भी आ जाती है।

पत की नवीनता का एक और पहलू यह है कि वह ध्वनियों की पुनरावृत्ति एवं अनुप्रास अलकार के विस्तृत प्रयोग द्वारा कुछ सशक्त और असाधारण ध्वनि-चित्रों की सृष्टि करते हैं। इस साधन का प्रयोग पतजी न काव्यभाषा पर अपने अधिकार-प्रदर्शन के लिए करते हैं और न रचना के बाह्य रूप की चमत्कृति के लिए ही, जैसा कि उत्तर-मध्य-युगीन हिन्दी काव्य में किया जाता था। पतजी की कविता मे ध्वनि-चित्र कवि की भावुक मन-स्थिति की अभिव्यक्ति के एक विशिष्ट साधन के रूप ही मे आते हैं। उदाहरणार्थ, "विरह आह कराहते इस शब्द से" को लीजिए। इसमे 'ह' ध्वनि की पुनरावृत्ति से गहरी, दीर्घ विरह-व्यथा का अनुभव करने वाले, एकाकी मनुष्य के रोदन एव दु.सपूर्ण नि.श्वासो का ध्वनिरूप प्रभाव उत्पन्न होता है। इसी प्रकार "लोल लहरों से कलापति पर लिखो" या "ललित लोल उमग-सी लावण्य" मे 'ल' की पुनरावृत्ति के कारण रात्रिकालीन गगा के अपार्थिव कोमल सौन्दर्य मे चार चाँद लग जाते है, अपनी हलकी लहरो पर चन्द्रिका के प्रतिबिम्ब को धारण करने वाली गगा का रूप निखर उठता है।

हिन्दी भाषा के ध्वनिशास्त्र मे स्वीकृत 'र-ल' यो (अभेद)' के तत्त्व का भी पतजी समुचित उपयोग करते हैं। केवल 'र' एवं 'ल' के कारण ही एक-दूसरे से भिन्न लगने वाले शब्द-द्वयों के प्रयोग से उनकी काव्य-भाषा में न केवल पूर्णतम छन्दोबद्धता आती है, अपितु विशिष्ट भावों या अनुभूतियों को सशक्ततर बनाने में भी सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ, पतजी के काव्य में 'रोर' तथा 'लोल' जैसे कई शब्द-युगल मिलते हैं। अत में 'र' व्यजन के प्रयोग से यह शब्द गरजती हुई लहरो का ध्वनि-चित्र अधिक प्रभावोत्पादक बना देता है। 'वीचिविलास' शीर्षक रचना की निम्नांकित पक्तियाँ देखिए :

अरी सलिल की लोल हिलोर।
आ मेरे मृदु अंग झकोर,
नयनों को निज छवि में बोर,
मेरे उर में भर यह रोर।

'युगान्त' संग्रह की 'सान्ध्य धुंधलका' शीर्षक में रचना मे ध्वनि और अर्थ का सामंजस्य इस शब्द के एक और समानरूपी शब्द के प्रयोग से सिद्ध किया गया है। अन्तर इतना ही है कि इसके अन्त मे 'र' के बदले 'ल' आता है।

अनिल-पुलकित स्वर्णांचल लोल
मधुर नूपुर-ध्वनि खग कुल रोल।

पंत काव्य की तुलना संगीत के साथ करते हैं। वह लिखते हैं : "जिस प्रकार संगीत में भिन्न-भिन्न स्वर राग की लय में ऐसे मिल जाते हैं कि हम उन्हें पृथक् नहीं कर सकते···हम केवल राग के सिंधु में डूब जाते हैं, उसी प्रकार कविता में भी शब्द के भिन्न-भिन्न कण एक होकर रस की धारा के स्वरूप मे बहने लगते हैं···"[1] यहाँ पंतजी पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव का उल्लेख करना उचित ही होगा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर संगीत को कला का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप समझते थे और मानते थे कि साहित्य में संगीतात्मकता एक भाषा-निरपेक्ष साधन है। उन्होंने लिखा है : "पद्य और गद्य की अपनी विशिष्ट लय-बद्धता होती है। साहित्य में शब्दों द्वारा जो अभिव्यक्त नहीं हो पाता वह संगीत द्वारा अभिव्यक्त हो सकता है। यदि इस साधन का विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि संगीत उपेक्षणीय को महत्त्वपूर्ण बना देता है, शब्दों मे बँधी हुई व्यथाएँ संगीत के सहारे सजीव हो उठती हैं।"[2]

पन्त-पूर्व युग का हिन्दी काव्य संगीतात्मकता से, तालबद्धता से रिक्त था। इसका कारण पंतजी यह मानते हैं कि तब के कवि तुक के तथा किसी विशिष्ट भाव या मनोविन्यास की अभिव्यक्ति के लिए सुयोग्य छंद विशेष के चयन की ओर उपेक्षाभाव से देखते थे।

पंत लिखते है : "तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनाई पड़ता है।"[3] उनकी तुक काव्य-क्षेत्र की उस बाजीगरी से पूर्णतया भिन्न है, जो उत्तर-मध्ययुगीन हिन्दी काव्य मे साधारण रूप से प्रचलित थी। पंतजी की कविता में कलापूर्ण अभिव्यक्ति की दृष्टि से तुक का महत्त्व

---

१. सु० पंत, पल्लव, पृ० २६।
२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, ग्रन्थ संग्रह, खण्ड ८, पृ० ३०२।
३. सु० पंत, पल्लव, पृ० २६।

विशेष अंग है। उनकी कविता में तुक आशय की स्पष्टता एवं भाव रूप में विशेषतापूर्ण अभिव्यक्ति में सहायक होते हुए रचना के विविधतापूर्ण उच्चारणात्मक गठन के एक महत्त्वपूर्ण साधन का काम देती है। उदाहरणार्थ, 'परिवर्तन' शीर्षक रचना के निम्नांकित अंश में वे शब्द, जिन पर तुक पड़ती है और जो ध्वनि की पुनरावृत्ति से प्रभावित हैं, उनमें रचना की उच्चारणात्मक और साथ-साथ विचारात्मक तोल का काम देते हैं :

> हमारे निज सुख-दुख निःश्वास
> तुम्हें केवल परिहास,
> तुम्हारी ही विधि पर विश्वास
> हमारा चिर आश्वास।

सुनिश्चित तथा अधिक अभिव्यक्तिशील लयबद्ध ध्वनिविन्यास की सृष्टि के उद्देश्य से रचना की प्रत्येक पंक्ति के अन्त में ऐसे शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका उपान्त्य अक्षर 'आ' स्वर है जो पूर्ण वजन और ध्वनि की दृष्टि से अपनी विशेषता रखता है। इस 'आ' के कारण लयात्मक एकक की समाप्ति की स्पष्ट सूचना मिलती है (देखिए : निःश्वास, परिहास, विश्वास, आश्वास)।

पंतजी की रचनाओं में तुक बहुधा लाक्षणिक शब्दों पर पड़ती है, जिससे रचना में विशेष अभिव्यक्तिशीलता आ जाती है। उदाहरणार्थ 'पल्लव' की ये पंक्तियाँ देखिए :

> अरे, ये पल्लव-बाल !
> सजा, सुमनों के सौरभ-हार
> गूँथते ये उपहार,
> अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल
> नहीं छूटी तरु-डाल,

'पल्लव-बाल' वाले रूपक की अभिव्यक्तिशीलता यहाँ ध्वन्यात्मक तुक की सहायता से 'बाल' शब्द पर उच्चारणात्मक बल देकर सशक्ततर बनाई गई है।

इस प्रकार पंत के मतानुसार तुक उस शब्द पर पड़नी चाहिए जो *रचना की पंक्ति के आशय का प्रधान वाहक हो, प्रधान भाव का आधार हो।* यह तुकान्त शब्द-रचना की भावात्मकता को पुष्टतर बनाते हुए उसकी रागात्मकता

को अधिक प्रभावशील बनाता है। 'राग की कील' होकर तुक उनकी कविता में आशय के सुन्दरतम उद्घाटन के एकमात्र लक्ष्य की पूर्ति का साधन ही बनी रहती है। पंतजी लिखते हैं : "वाक्य की डाल में, अपने अन्य सहचरों की हरीतिमा से सुसज्जित यह शब्द नीड़ की तरह छिपा रहता है, जिसके भीतर से भावना की कोकिला बोल उठती, और वाक्य का प्रत्येक पत्र उसके राग को अपनी मर्मर ध्वनि में प्रतिध्वनित कर परिपुष्ट करता है"'अन्त्यानुप्रास वाला शब्द राग की आवृत्ति से सशक्त होकर हमारा ध्यान आकर्षित करता रहता है, अतः वाक्य का प्रधान शब्द होने के कारण वह भाव को हृदयंगम कराने में सहायता देता है।[1]

पंत की कविता में तुक अपनी निश्चितता के कारण विशेषता रखती है। उनकी कविता में केवल समध्वनि स्वरों का अभाव-सा रहता है, जिससे काव्य भाषा के सुन्दरतम संगठन, लयात्मक निश्चितता की सबलता और कविता की पूर्णता तथा संगीतात्मकता में सहायता मिलती है। आधुनिक हिन्दी काव्य क्षेत्र में कदाचित ही ऐसा कोई अन्य कवि मिलेगा, जिसने ऐसी कलात्मकता तथा सरसता के साथ इतनी विविधतापूर्ण तुक पद्धतियों की रचना कर दी हो। और यहाँ भी विशेष बात यह है कि पंतजी केवल मौलिकता के लिए मौलिकता का दम नहीं भरते। नए-नए तुक-चित्रों की सृष्टि कवि पाठक को तुक के असाधारण प्रकारों से चकित करने की इच्छा से नहीं, अपितु कविता की पूर्णतम अभिव्यक्ति की लक्ष्य-सिद्धि के उद्देश्य से करता है। कभी-कभी वह एक ही रचना में विभिन्न छंदों का प्रयोग करता है और तुक ही सहायता से रचना में अभिव्यक्त किन्हीं विचारों या भावों को सशक्त बना देता है। एक विशिष्ट उदाहरण के रूप में 'पल्लव' संग्रह की 'सोने का गान' शीर्षक रचना का यह अंश देखिए :

कहो हे प्रमुदित विहग-कुमारि,
कहाँ से आया यह प्रिय-गान ?
तुहिन वन में छाई, सुकुमारि,
तुम्हारी स्वर्ण ज्वाल-सी तान !

---

१. सु० पंत, पल्लव, पृ० २६-३०।

उषा की कनक-मदिर मुसकान
उसी में था क्या यह अनजान ?
भला उठते ही तुमको आज
सिखाया किसने इसका ध्यान !

इस रचना में विहग-गान का वर्णन किया गया है और इसके प्रत्येक चरण मे तुक 'गान' शब्द के वजन पर पड़ती है—'तान', 'मुसकान', 'अनजान', ध्यान इत्यादि । तुक के कारण सबल बना हुआ 'गान' शब्द इस प्रकार संपूर्ण रचना का ध्वन्यात्मक-विचारात्मक केन्द्र-बिन्दु बन जाता है । भिन्न उच्चारणात्मक माध्यम मे व्यक्त एकरूप लय समस्त रचना को व्याप्त किए हुए है और इससे रचना को एक निरपवाद निश्चित रूप प्राप्त हो गया है, उसमे विशेष अभिव्यक्ति-शीलता उत्पन्न हुई है, अनुभूति की सारगर्भ अभिव्यक्ति स्पष्टतम हो पाई है ।

पतजी की बहुत-सी रचनाओं मे तुक के सगठन का यही तत्त्व उपलब्ध है, जो 'सोने का गान' शीर्षक रचना में प्रस्तुत है । उदाहरणार्थ, 'विश्व-छवि' शीर्षक रचना को लीजिए । इसके पहले अंश में कवि अर्धोन्मीलित कुसुम-कलिकाओ को देखता हुआ, जागरणोन्मुख वासंतिक प्रकृति के कोमल सौरभ मे साँस लेता हुआ संसार के अमर-यौवन की प्रशसा करता है । इस रचना में 'बचपन' और 'फूल' शब्द विचारात्मक एवं ध्वन्यात्मक केन्द्र है । 'बचपन' शब्द से 'लोचन', 'मन' 'सरलपन', 'यौवन', 'जीवन', शब्दो की तुक मिलती है, जबकि 'फूल' शब्द के साथ 'मृदुशूल', 'मूल' इत्यादि शब्दों की ।

रचना के दूसरे अश में कहा गया है कि वसत एवं यौवन दोनो क्षणभंगुर हैं, इनके पश्चात् वार्धक्य एव मुरझान आते हैं; पर फिर एक बार जागरण एवं वसंत का आगमन होता है और झरते हुए सुमन-दलो का स्थान कलिकाएँ लेती हैं । यही चिर यौवन एव नवीनता का नियम है ।

अनुभूतियाँ बदल जाती हैं और उनके साथ ही बदल जाता है समस्त रचना का उच्चारणात्मक-ध्वन्यात्मक रग । रचना के दूसरे अश मे 'परिवर्तन' तथा 'आश्वासन' शब्द ध्वन्यात्मक-विचारात्मक केन्द्र बने हुए हैं और रचना की अधिकाश पक्तियो की तुक इन्ही से मिलती है ।

इस प्रकार पतजी विविध तुक-चित्रों का प्रयोग आशय की स्पष्ट एव अपने-*आप मे विशेष अभिव्यक्ति के एकमात्र उद्देश्य से ही करते हैं ।*

हिन्दी छन्दःशास्त्र के क्षेत्र में भी पंतजी की नवीनता का विशेष स्थान है। हिन्दी के दो छन्द प्रकारों अर्थात् वर्णिक एवं मात्रिक छन्दों को ध्यान में लेते हुए पंतजी हिन्दी काव्य में मात्रिक छन्दों के प्रयोग को प्राथमिकता देते हैं।

अक्षरों की निश्चित संख्या पर आधारित वर्णिक छन्द, जो संस्कृत काव्य के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं, पंतजी के अनुसार हिन्दी कविता के लिए बहुत ही बोझिल हैं। उनके मन में वर्णिक छन्द बेड़ियों के बराबर हैं, जो हिन्दी की सुकुमार कविता के कोमल चरणों को जकड़कर उसकी स्वाभाविक गति में बाधा डालते हैं, उसके नूपुरों की कोमल ध्वनि का गला घोंट देते हैं।[1] बंगला कविता में प्रचलित छन्दों की भी खबर पंतजी ने ली है। वह मानते हैं कि ये छन्द हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। बंगला भाषा में प्रचलित स्वराघात का हिन्दी में अभाव है, जबकि ध्वनि की ह्रस्व-दीर्घता के कठोर पालन का बंगला के लिए कोई तात्त्विक महत्त्व नहीं है।

तुलसीदास द्वारा उपयोग में लाए गए कवित्त और सवैया जैसे बहुप्रचलित छन्दों को भी पंतजी आधुनिक हिन्दी कविता के लिए अस्वीकार्य समझते हैं। सवैया छन्द में एक सगण ही की आठ बार पुनरावृत्ति होती है और पंतजी के अनुसार इससे एकाकारता एवं एकस्वरता उत्पन्न होती है। कवित्त छन्द में ध्वनियों की ह्रस्व-दीर्घता पर ध्यान नहीं दिया जाता और इससे हिन्दी कविता स्वाभाविक लयबद्धता एवं संगीतात्मकता से वंचित रह जाती है।

उच्चारण-एककों की एक निश्चित संख्या के पालन पर आधारित मात्रिक वृत्त पंतजी के अनुसार हिन्दी भाषा की प्रकृति के लिए पूर्णतया अनुकूल होते हैं। वह लिखते हैं : "हिन्दी का स्वाभाविक संगीत ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं को स्पष्टतया उच्चारित करने के लिए पूरा-पूरा समय देता है। मात्रिक छन्द में बद्ध प्रत्येक लघु-गुरु अक्षर को उच्चारण करने में जितना काल तथा विस्तार मिलता, उतना ही स्वाभाविक वार्तालाप में भी साधारणतः मिलता है, दोनों में अधिक अन्तर नहीं रहता। यही हिन्दी के राग की सुन्दरता या विशेषता है।"[2] पंतजी ने हिन्दी कविता में विविधतापूर्ण मात्रिक छन्दों के प्रयोग के औचित्य एवं न्यायसंगतता की आधारशिला रखी है।

---

१. सु० पंत, पल्लव पृ० २३।
२. वही, पृ० २६।

"रोला छन्द में पंतजी को विकासोन्मुख हिन्दी कविता की श्वास और रक्त-संचार का कंपन सुनाई देता है। रोला छन्द अन्त्यानुप्रासहीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त जान पड़ता है, उसकी साँसों में प्रशस्त जीवन तथा स्पंदन मिलता है। उसके तुरही के समान स्वर से निर्जीव शब्द भी फड़क उठते हैं। रोला बरसाती नाले की तरह अपने पथ की रुकावटों को लाँघता तथा कलनाद करता हुआ आगे बढ़ता है।"[1] 'परिवर्तन' शीर्षक रचना में भावों की उज्ज्वलता तथा कल्पना की उड़ान की अभिव्यक्ति के लिए पंतजी ने इस छन्द का प्रयोग बड़े ही कलात्मक ढंग से किया है। ध्यान रहे कि यहाँ पंतजी ने चौबीस मात्रा वाले रूढ़िमान्य रोला का अनुकरण मात्र न करते हुए उसमें कई परिवर्तन कर दिए हैं। उनका प्रयत्न यही रहा है कि रचना का रूप-विधान उसके आशय को पूर्णतम एवं स्पष्टतम अभिव्यक्ति करने में अधिक सशक्त हो।

आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात।
चार दिन सुखद चाँदनी रात,
और फिर अन्धकार अज्ञात।

उक्त चतुश्चरणात्मक छन्द के प्रथम सम चरण में मात्राओं की संख्या विषम चरण की तुलना में दो मात्राओं से कम है। इससे आरोह एवं अवरोह का प्रभाव सशक्त बन जाता है, सुख एवं विकास तथा दुःख एवं ह्रास के आदान-प्रदान का विरोध सबल बन जाता है।

आगे परिवर्तन का वर्णन आता है, जो काव्यात्मक भाव एवं कल्पना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से अधिकाधिक पूर्णता को प्राप्त किए हुए हैं। इस परिवर्तन की अपार दिव्य शक्ति के कारण जीवन बदल जाता है। पंतजी के अनुसार वह जीवन सुन्दरता एवं कुरूपता, जन्म एवं मृत्यु, सुख एवं दुःख के अच्छेद्य तानों-बानों से बना रहता है। पंतजी लिखते हैं :

विश्वमय हे परिवर्तन.
अतल से उमड़ अकूल अपार

---

१. सु० पंत पल्लव, पृ० ३०।

निर्जन तटिनी की तरह "वैधव्य वेष में, अकेलेपन में सिसकता हुआ, श्रांत, जिह्म गति से अपने ही अश्रुजल में सिक्त धीरे-धीरे बहता है।[1] 'ग्रंथि' की ये निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :

वेदना ! कैसा करुण उद्गार है,
वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड में,
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में,
तारकों में, व्योम में है वेदना।

यहाँ लय-चित्र की मदगामिता एवं एकस्वरता के कारण उदासी के मनोविन्यास में गहराई आ जाती है। यहाँ प्रत्येक पंक्ति में दो सप्तमात्रिक और अन्त में पचमात्रिक पद हैं। अंतिम पद में दो मात्राएँ कम करने से छद की गति मद-सी हो जाती है और असीम शोक तथा दुःख का मनोविन्यास प्रबल बन जाता है। इस छद के प्रयोग का एक विशिष्ट उदाहरण 'ग्रंथि' के निम्नांकित अंश में देखा जा सकता है :

शैवलिनि ! जाओ मिलो तुम सिंधु से
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन का
चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ पवन वीणा बजा,
पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है।

बाईस मात्रा वाले राधिका छद की तुलना कवि उन आनन्द-विभोर युवतियों की नृत्य-मण्डली से करता है, जो हाथों में हाथ लिए, अलंकारों की झनकार की संगत पर पूरी कलात्मकता तथा कुशलता के साथ नृत्य प्रस्तुत कर रही हो।

परपरागत छदों के साथ-साथ पतजी ने हिन्दी कविता में नए-नए छदों का प्रवेश कराया है। इनमें मुक्त छद या स्वच्छद छंद का विशेष स्थान है। उनके मतानुसार अनुभूति की सभी छटाओं की अभिव्यक्ति के लिए यह सर्वाधिक समर्थ छद है। वह लिखते हैं : "हिन्दी में मुक्त काव्य का प्रचार भी दिन-

---

१. सु० पंत, 'पल्लव', पृ० ३१।

दिन बढ रहा है, कोई इसे रबर काव्य कहते हैं, कोई कंगारू !...आज, सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश हिन्दी में सर्वत्र 'स्वच्छंद छंद' ही की छटा दिखलाई पड़ती है'''यह छंद कल्पना तथा भावना के उत्थान-पतन, आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप संकुचित-प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घ गति बदलता रहता है।" कवि के मत में 'मुक्त छंद' काव्य-कल्पना की उड़ान को सहज संभव बनाता है। वह आवश्यकता के अनुसार छोटा और लंबा, सरल और जटिल हो सकता है और लय के स्वाधीन परिवर्तन का अवसर देता है।

हिन्दी कविता में मुक्त छंद के प्रचलन का समर्थन करते हुए पंतजी 'पल्लव' की प्रस्तावना में निरालाजी के निर्भीक प्रयोगों का हवाला देते हैं। फिर भी पंतजी साथ-साथ यह भी कहते हैं कि निरालाजी जहाँ रवीन्द्रनाथ ठाकुर का अनुकरण करते हुए हिन्दी छंदःशास्त्र में बँगला छंदःशास्त्र के ऐसे तत्त्वों को प्रविष्ट कराने का प्रयत्न करते हैं, जो उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं, वहाँ निरालाजी को सफलता नहीं मिलती। "जहाँ पर उनकी कविता ह्रस्व-दीर्घ संगीत पर चलती है, उनकी उज्ज्वल भाव-राशि उनके रचना-चातुर्य के सूत्र में गूँथी हुई, हीरों के हार की तरह चमक उठती है।"[1] हिन्दी में मुक्त छंद की सृष्टि के क्षेत्र में निरालाजी के नवाभिमुख सफल प्रयत्न के एक उदाहरण के रूप में पंतजी निराला कृत 'अनामिका' संग्रह की एक रचना का निम्नांकित अंश उद्धृत करते हैं :

> **कहाँ ?**
> **मेरा अधिवास कहाँ ?**
> **क्या कहाँ ?—रुकती है गति जहाँ ?**

सचमुच ही निरालाजी की यह रचना हिन्दी-काव्य में मुक्त छंद के कलापूर्ण प्रयोग का एक अनूठा उदाहरण है। रचना की पंक्तियाँ क्रमश दीर्घ होती गई हैं, जिससे भावों की बढ़ती हुई गहराई की अभिव्यक्ति को एक निराली ही छटा प्राप्त हुई है। पहली तीन पंक्तियों की तुक प्रश्न के विशेष महत्त्व पर बल देते हुए समस्त रचना की अभिव्यक्तिशीलता को सशक्ततर बनाती है। 'कहाँ'-'जहाँ' के लघुत्रोटक-यमक, प्रश्नात्मक-विस्मयादिबोधक वाक्य-विन्यास और लय की असम, कंपनपूर्ण गति के कारण अधीरता तथा व्याकुलता के

---

१. सु० पंत, पल्लव, पृ० ३६।

मनोविन्यास में गहराई आ जाती है और काव्य-नायक के आत्मिक आंदोलनों तथा अनुभूतियों का उद्घाटन बड़े ही अनूठे ढंग से होता है। पंतजी लिखते हैं कि 'पल्लव' में संगृहीत उनकी बहुत-सी आरम्भकालीन रचनाएँ शैली की दृष्टि से निरालाजी की उपर्युक्त रचना का स्मरण दिलाती हैं। उदाहरण के रूप में पंतजी अपनी 'परिवर्तन' शीर्षक रचना का उल्लेख करते हैं। उनके अपने शब्दों में इस रचना में "जहाँ भावना का क्रियाकंपन तथा उत्थान-पतन अधिक है, जहाँ कल्पना उत्तेजित तथा प्रसारित रहती है, वहाँ रोला आया है।·· बीच-बीच में छंद की एकस्वरता तोड़ने तथा भावाभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार उसके चरण घटा-बढ़ा दिए गए हैं।"[1] उदाहरणार्थ, छंद की प्रथम पंक्ति में चार मात्राएँ कम करके पंतजी अपने इस उद्देश्य में सफल हुए हैं कि दूसरी पंक्ति पूर्णतर और अधिक अभिव्यक्तिशील बन जाए :

विभव की विद्युत्-ज्वाल
चमक, छिप जाती है तत्काल

"यदि ऊपर के चरण में चार मात्राएँ जोड़कर उसे 'विभव की चपल विद्युत्ज्वाल' इस प्रकार पढ़ा जाए, तो नीचे के चरण में विभव की क्षणिक छटा के चमककर छिप जाने के भाव का स्वाभाविक स्फुरण मन्द पड़ जाता है।"[2]

पंतजी अपने काव्य में तुकांत मुक्त छंद का विस्तृत प्रयोग करते हैं और अतुकांत मुक्त छंद का भी। अतुकांत मुक्त छंद बीसवीं शती के दूसरे दशक के आरम्भ की हिन्दी कविता में प्रचलित होने लगा था और सबसे पहले इसका प्रयोग जयशंकर प्रसादजी ने अपनी 'करुणालय' (१९१३), 'भारत' (१९१४) इत्यादि रचनाओं में किया था। पंतजी ने 'ग्रंथि' में पीयूष-वर्षण अतुकांत का प्रयोग बड़ी सफलता के साथ किया है। हिन्दी कविता-क्षेत्र के इस छंद का विशेष विस्तृत एवं सफल प्रयोग नाट्य-क्षेत्र में होता है, जहाँ संभाषणात्मक भाषा को अधिक स्वतंत्र तथा अविवश गति आवश्यक होती है।

कुछ भारतीय साहित्यशास्त्री मानते हैं कि बीसवीं शती के आरम्भकालीन

---

१. सु० पंत, पल्लव, पृ० ३६।
२. वही।

हिन्दी कवियों ने अनुकान्त मुक्त छंद को अपनाते हुए सबसे पहले शेक्सपीयर के नाट्यगीत (लिरिक पेंटामीटर) का एवं उन्नीसवीं शताब्दी के बंगला नाटककार गिरीशचन्द्र घोष (उदाहरणार्थ, 'रावणवध') और मधुसूदन दत्त ('पद्मावती') की नाट्यगीत शैली का सहारा लिया था। नये युग की भारतीय कविता में अनुकान्त मुक्त छंद का प्रयोग सबसे पहले इन्हीं दो बंगला नाटककारों ने किया था। इस परम्परा को आगे चलाते हुए पंतजी ने हिन्दी कविता मे नए छंद का प्रयोग सर्वप्रथम 'चांदनी' नाटिका के गीतों के लिए और फिर वर्तमान शती के छठे दशक की 'शिल्पी' आदि नाटिकाओं में किया। इस छन्द में लयबद्धता का महत्त्व बहुत-कुछ बढ़ जाता है। वस्तुतः इसके कारण काव्य-भाषा के माध्यम ही में नई विशेषता आती है और काव्य-रचना के विचारात्मक-भावात्मक आशय की अभिव्यक्ति में यह सर्वोपरि भूमिका प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ, 'ग्रन्थि' के निम्नांकित अंश में अभिव्यक्ति की विशेष छटा उत्पन्न करने का एकमात्र साधन अपने-आपमें विशिष्ट आवर्तनात्मक लय ही रही है। देखिए :

एक पल, मेरी प्रिया के दृग-पलक,
थे उठे ऊपर, सहज, नीचे गिरे
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय-सम्बन्ध था।

उक्त रचना की पहली दो पंक्तियों की यतियाँ लय को एक विशिष्ट कम्पनात्मक गति देते हुए रचना को एक अनूठी अभिव्यक्तिशीलता प्रदान करती हैं, प्रेमानुभूति की पराकोटि की गोचरता का आवाहन करती है और व्याकुल, कम्पित श्वासोच्छ्वास तथा हृदय के कम्पन आदि के ध्वन्यात्मक अनुभव की सृष्टि कर देती हैं।

अपने सौंदर्यविषयक दृष्टिकोणों को प्रस्तुत और प्रस्थापित करते हुए और काव्य-सृजन के नए सिद्धांतों का समर्थन करते हुए पंत हिन्दी साहित्य में नया पथ प्रशस्त करने वाले एक साहसी नवीकार के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। पंत की नवीनता हिन्दी कविता के विकास की वास्तविक आवश्यकताओं पर ही आधारित है। और कुछ भी हो, रूढ़िवादी कठोर साहित्यशास्त्रियों के कड़े विरोध के होते हुए भी उनकी कविता ने अपना एक विशेष पथ प्रशस्त कर लिया है। इस दृष्टि से पंत-साहित्य में नई स्वच्छंदतावादी शैली को समर्थन

मिला है और उसके विकास मे सहायता भी।

वर्तमान शती के चौथे दशक के मध्य मे पंत की काव्य-साधना का पहला खण्ड समाप्त होता है। उनके आरम्भकालीन गीत मुक्तकों को केवल आत्माभिव्यक्ति की दृष्टि से देखना, जैसा कि कुछ शोधक करते हैं, उचित न होगा। उनकी काव्य-साधना मे बीसवी शती के आरम्भिक दशको के भारतीय जीवन की कई जटिल घटनाएँ प्रतिबिम्बित हुई हैं। उनकी स्वच्छदतावादी कल्पना की उड़ान मे हमे वास्तविकता के दर्शन होते हैं और सुख-दुखमय जीवन का स्वर सुनाई देता है। काव्यात्मक विचार के मुक्त विकास मे बाधा डालने वाले घिसे-पिटे काव्य-विषयक नियमो और पुराने-धुराने काव्य-विषयो के विरुद्ध पतजी ने जो संघर्ष छेड़ा उससे मानवीय आत्मा को मध्ययुगीन एकाकीपन से मुक्त कराने, भारतीय समाज को नैतिक अन्धविश्वासो से मुक्ति दिलाने के प्रयत्नों को बढ़ावा मिला। इस प्रकार पत की उक्त काल-खण्ड की कविता मे प्रगतिशील-स्वच्छदतावादी प्रवृत्तियो की प्रधानता रही।

काव्य-कला | नगेन्द्र

एक फ्रांसीसी समालोचक के शब्दों में "कला प्रकृति की अनजान में हुई विवेचना है"—जो अपूर्ण है कला उसी की पूर्ति है। वह लेखक की सौन्दर्यानुभवी अन्तरात्मा का मूर्त स्वरूप है—उसके अमूर्त भावों का वाह्य-रूप रंग में चित्रित प्रतिबिम्ब है। स्थूल रूप से हम कह सकते हैं कि अपनी कृति मे सौंदर्य का प्रतिफलन करने के लिए कलाकार जिन साधनों का उपयोग करता है वे सभी कला के प्रसाधन हैं। कविवर मैथिलीशरण ने उसे 'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति' कह कर इसी ओर सकेत किया है। कला शब्द मे ही, मेरी समझ मे, कुछ कृत्रिमता का आभास वर्तमान रहता है, तभी तो वह प्रकृति से सदैव विभिन्न समझी और कही गई है। इस निबन्ध मे मैंने कला का यही अर्थ ग्रहण करते हुए, उसके सूक्ष्म भावमय (abstract) विवेचन की उलझन से बचने का प्रयत्न किया है।

पन्तजी प्रधान रूप से कलाकार ही हैं। इनके काव्य में सबसे प्रथम कला का, उसके उपरान्त विचारों का और अन्त मे भावों का स्थान रहता है। आप का विद्रोह सबसे अधिक कला के क्षेत्र में ही प्रकट हुआ है। भावो में जहाँ आपने उपयोगिता के विरुद्ध भावुकता का विद्रोह खड़ा किया है वही कला में रूढ़ि और रीति की जटिलता के विरुद्ध सहज अलकृत स्वाभाविकता का स्वरूप सम्मुख रखा है। कलाकार के रूप में पन्तजी के लिए जितना कहा जाय थोड़ा ही है। कला का यह चिर-सुन्दर स्वरूप उनकी मनन-प्रवृत्ति का ही फल है। पन्तजी मनन को प्रतिमा के ही समकक्ष रखते हैं—

तुम्हारी पावनता अभिमान
शक्ति पूजन, सम्मान ?

इनके स्वर्ण-जगत की भावी-सम्राज्ञी ज्योत्स्ना भी नारी ही है। विलासी इन्दु की अशक्तता एवं ज्योत्स्ना की विशेषता के दर्शन द्वारा नर के ऊपर नारी की चिर-प्रभुता का ही संकेत किया गया है। हाँ, युगान्त में कवि में पुंसत्व का आभास मिलने लगा है। यह भावना आगे कैसा रूप धारण करती है।

अन्त मे सर्वांशेन दृष्टिपात करते हुए हमें पन्त की विचार-धारा में एक विकास-सूत्र मिलता है जिससे उनके दर्शन की प्रौढ़ता का परिचय होता है। कवि के विचार, सभी समस्याओं पर सुलझे हुए हैं। हाँ, अनुभूति की कमी अवश्य हृदय पर उसका एक साथ प्रभाव नहीं पड़ने देती। कवि के मस्तिष्क और आत्मा अब हृदय पर पूर्णतया विजयी हो गये हैं। बाहर से निराश होकर अब कवि स्वाभाविक रीति से अन्तरात्मा की ओर मुड़ा है और उसका अध्ययन उसे अच्छा है—

> मैं सृष्टि एक रच रहा नवल,
> भावी मानव के हित भीतर
> सौन्दर्य स्नेह उल्लास मुझे
> मिल सका नहीं जग के बाहर!

परन्तु अभी तो वह

> धुन जग का दुर्गम अन्धकार
> धुन नाम रूप का अमृत सार,
> मैं खोज रहा खोया प्रकाश,
> सुलझा जीवन के तार तार।

यह प्रकाश अद्यावधि उसे मिला नहीं है, अतः संसार के दार्शनिक भण्डार को वह अभी कोई मौलिक देन नहीं दे सका। हाँ, भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचार-धाराओं का अध्ययन उसका काफी पुष्ट और सुलझा हुआ है।

> मनन कर मनन, शकुनि नादान
> न पिक-प्रतिमा पर कर अभिमान!

उनकी रङ्गीन कला इतनी कोमल है कि विश्लेषण करते ही वह तितली के पङ्खों की तरह बिगर जाती है और समालोचक को अपनी कृति पर पश्चाताप करने की ही अधिक सम्भावना रहती है फिर भी स्थूल रूप से थोड़े से गुणों का विवेचन किया जा सकता है।

सब से प्रथम जो वस्तु हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह है उनकी चित्रण-कला। कवि की कल्पना इतनी सचेतन एवं प्रखर है कि प्रत्येक अनुभूति उनके सम्मुख चित्र-रूप में आती है और उसको ज्यों का त्यों अनुवादित करके वे वायु पर रङ्गीन रेखाएँ खींच देते हैं। काव्य, चित्र, सङ्गीत तीनों की सरस त्रिवेणी इनकी प्रत्येक पंक्ति में नहीं प्रत्येक शब्द में तरङ्गित रहती है। सुहाग की मधुमयी रात्रि में प्रियतम के पास जाती हुई नायिका का चित्र देखिए—

अरे यह प्रथम मिलन अज्ञात!
विकम्पित उर मृदु, पुलकित गात
सशङ्कित ज्योत्सना-सी चुपचाप,
जड़ित-पद नमित पलक दृग-पात;
पास जब आ न सकोगी प्राण!
मधुरता में सी मरी अजान
लाज की छुईमुई सी म्लान
प्रिये प्राणों की प्राण!

प्रत्येक शब्द एक सजीव चित्र की भाँति जड़ा हुआ है। 'जड़ित-पद, नमित-पलक दृग-पात' में ठिठकी हुई म्लानमुखी लज्जावती का रूप कितना प्रत्यक्ष है। ऐसा ही एक अल्प-गतिशील चित्र सन्ध्या का युगान्त में अङ्कित किया है—

ग्रीव तिर्य्यक, चम्पक द्युति गात
नयन मुकुलित, नतमुख जलजात,
देह-छवि छाया में दिन रात,
कहाँ रहती तुम कौन?

कवि की चित्र-ग्राहिणी शक्ति कितनी प्रखर है इसका अनुमान ज्योत्स्ना मे दिये हुए सन्ध्या, ज्योत्स्ना, इन्दु आदि के परिपूर्ण चित्रों और अनेकों दृश्य-विधानों (Setting) के अङ्कन से किया जा सकता है। एक दृष्टि सन्ध्या की छवि पर तो डालिए, "—मूँगे के फर्श पर, धुनी हुई रुई की तरह ढेर-ढेर कोमल सुनहला प्रकाश बिछा है; जिस पर गेरुए मलमल की धोती पहिने, प्रौढ़ उम्र सन्ध्या, निष्कम्प दीपशिखा की तरह, दत्त-चित्त बैठी है! मृणाल सी लम्बी

पतली नुकी भौंहें, वक्षस्थल के सांझ के उरोज बारीक सुनहली कंचुकी से कसे, दमकते भाल पर दो एक चिन्ता की रेखाएं, भौंहें पतली कुछ अधिक झुकी हुई, स्निग्ध शरद आनन, शांत गम्भीर मुद्रा, कपोलों, कन्धों एवं पृष्ठ भाग पर रुपहले सुनहले बाल बिखरे।" सन्ध्या का यह चित्र, पाठक देखें सुन्दर तो है, साथ ही कितना सच्चा है !

उपरोक्त सभी उदाहरण तो स्थिर-चित्रों के हैं। कवि की प्रतिभा उन्हीं तक सीमित नहीं है, उन्होंने गत्यात्मक सौन्दर्य का अङ्कन भी कुशलता के साथ किया है। वे चित्र चल-चित्रों के सदृश दृष्टि के सम्मुख नाचने लगते हैं—

चमक-झमक-मय, मन्त्र वशी-कर,
छहर-घहर-मय विष-सीकर।
स्वर्ग-सेतु-से इन्द्र-धनुष-धर,
काम-रूप घनश्याम अमर।

कुशल चित्रकार की प्रतिभा का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वह अपने चित्र में उन वस्तुओं का ही अङ्कन करे जो प्रभावोत्पादक और आह्लादकारी है और अन्य साधारण अथवा वाञ्छित प्रभाव में बाधक, सभी वस्तुओं को छाँट-छाँट कर अलग कर दे। पन्तजी की दृष्टि इन सार वस्तुओं को तुरन्त ही पकड़ लेती है और उन्हीं का सजीव चित्रण उपस्थित कर, चित्र में जान डाल देती है। इस चयन-प्रवृत्ति के द्वारा युगान्त में सन्ध्या का चित्र कितना पूर्ण उतरा है—

बाँसों का झुरमुट
सन्ध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी वी टी टुट् टुट् !

सन्ध्या की समस्त दिगन्त-व्यापिनी शोभा का चित्रण न करके कवि ने केवल दो बातें ही दिखलाई हैं—सध्या का झुटपुट और बाँसों का झुरमुट जिसमें चिड़ियाँ 'टी वी टुट् टुट्' कर रही हैं। इन्हीं दो तत्वों ने समस्त वातावरण उपस्थित कर दिया है। आगे—

ये नाप रहे निज घर का मग,
कुछ श्रम-जीवी घर डगमग पग,
भारी है जीवन भारी पग !

में भारी पैरो से चलते हुए थके-मादे श्रम-जीवियो के वर्णन ने तो चित्र को सभी प्रकार परिपूर्ण और सजीव कर दिया है। सभी कुशल कलाकारों की भाँति पन्तजी की चित्रण-कला की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसमें सदैव सश्लिष्ट-योजना रहती है। वस्तु-परिगणन-प्रणाली के अनुसार उन्होने कोई चित्रण नही किया।

नौका से उठती जल हिलोर !
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी-सी जल में कल,
रूपहरे कचों में हो ओझल !
लहरों के घूँघट से झुक-झुक, दशमी का शशि निज तिर्यक्-मुख
दिखलाता मुग्धा-सा रुक-रुक !

कहीं-कहीं यह कलाकार एक ही रेखा से अथवा एक ही अनुभाव के द्वारा भावपूर्ण चित्र खचित कर देता है, यथा 'सरलपन ही था उसका मन,' में सरला मुग्धा का भावमय चित्र कितना स्फुट अङ्कित हुआ है। अनुभाव के वर्णन द्वारा ही ऊपर दिए हुए श्रम-जीवियों के चित्र की रूप-रेखा खींची गई है !

कला की यही प्रवृत्ति विकसित होते-होते बहुत ही सकोचशील हो जाती है और कवि एक ही विशेषण के द्वारा समस्त चित्र उपस्थित करने में सफलता प्राप्त कर लेता है। पन्तजी की इस अङ्कन-कला का एक महत्त्वपूर्ण अंग है सचित्र-विशेषणो का चयन। वे एक ही शब्द में अपनी व्यापिनी कल्पना को समेट-सिकोड़ कर बन्द कर देते हैं। इस प्रकार के एक-शब्द चित्र हमें उनके काव्य मे सर्वत्र ही मिलते हैं। एक प्रकार से पन्तजी की कविता का यह एक अत्यन्त प्रिय प्रसाधन है। इसके मूल में साध्यवसाना का चमत्कार वर्तमान रहता है। नक्षत्र कविता तो समस्त ऐसे ही सचित्र विशेषणो से जड़ी हुई है—

'स्तब्ध विश्व के अपलक विस्मय !' से अधिक व्यञ्जक नक्षत्र का चित्र नहीं हो सकता ! इसी प्रकार कहीं 'मारुत' को 'नभ की निसीम हिलोर' कहा गया है तो 'निर्झर' को 'मूक गिरिवर का मुखरित गान' कह कर उसका

नादमय चित्र खींचा है। 'बापू के प्रति' कविता में 'अग्नि-शेष,' 'मांस-हीन,' 'नग्न' आदि विशेषण कितने चित्रोपम हैं। गुंजन में तितली से कवि कहता है—

तुमने यह कुसुम-विहग लिबास,
क्या अपने सुख से स्वयं बुना?
× × ×
यह स्वर्ण दिशा उर के भीतर
क्या कहती यहो, सुमन-चेतन।

उपरोक्त उद्धरणो मे प्रयुक्त दो विशेषण, कुसुम-विहग और सुमन-चेतन सार्थकता एव चित्रोपमता की दृष्टि से अमूल्य है, अभूत-पूर्व हैं। इन विशेषणो में केवल चित्रोपमता ही नहीं मिलती, कहीं-कहीं ये भावना अथवा अर्थ-गाम्भीर्य-समन्वित भी होते हैं। जैसे 'बादल' को 'मेघदूत की सजल कल्पना' कहना एक सकरुण-प्रसग को याद दिलाता है। अर्थ-गाम्भीर्य का उदाहरण बापू का 'पूर्ण इकाई' वाला सम्बोधन है। कहीं-कहीं इनकी अति भी हो जाती है और कविता विशेषणो का सूचीपत्र सी लग निकलती है—जैसे 'नक्षत्र'।

पन्त की यह प्रतिभा अपरिमेय है। इसके मूल में उनकी रगीन कल्पना तो है ही साथ ही अनुभूति का भी कम सयोग नहीं है। पन्तजी प्रकृति के साथ ऐसे घुल-मिल गए हैं कि उसके प्रत्येक स्वरूप का उनके निर्मल हृदय पर स्पष्ट चित्र उतर आता है और वे अपनी कला की सहायता से उसका ज्यो का त्यों चित्रण कर देते हैं। इन चित्रों में रगो और प्रकाश के साथ स्वाभाविकता और यथार्थता पूर्ण रूप से विद्यमान रहती है।

कवि अपने चित्रो को इतनी दिव्य रूप रेखा खींचने मे इस लिए समर्थ हो सका है कि उस पर शब्दों के अन्तर्बाह्य दोनो का रहस्य पूर्णतया प्रकट है। उनकी अन्तरात्मा और शरीर का जितना सूक्ष्म ज्ञान पन्तजी को है उतना हिन्दी मे गिने-चुने कवियो को ही होगा। इसी कारण उनका प्रत्येक शब्द व्यञ्जना-पूर्ण है। जो शब्द जहाँ पर जड दिया गया उसका स्थान वही पर निश्चित रहेगा। पन्त के लिए एक-एक शब्द मूर्त रूप रखता है अत हमको उनकी कविताओ में एक ही पर्य्यायवाची शब्द के भिन्न-भिन्न चित्रोपम प्रयोग मिलते हैं। उनकी चक्षुरिन्द्रिय जितनी अन्तर्प्रवेशिनी है श्रोत्रेन्द्रिय उतनी ही शिक्षित और

सूक्ष्मग्राहिणी है। शब्द को सुनते ही कानों के मार्ग से उसका अनुरूप चित्र उनकी आँखों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इस विषय में स्वयं कवि के ही विचार मनन करना उचित होगा। 'कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों ··जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झङ्कार में चित्र, चित्र में झङ्कार हों।'

कहीं-कहीं उनकी अन्तर्दृष्टि सूक्ष्मतम रहस्यों के अन्तर में प्रवेश कर जाती है और उनके शब्द-प्रयोगों में बड़ा ही तरल अन्तर मिलता है, जैसे 'प्रिय' और 'प्रि' में—

प्रिय प्रिय विषाद यह अपना,
पिय प्रि आह्लाद रे अपना।

जो संकेत और व्यञ्जना 'प्रि' आह्लाद में है वह प्रियाह्लाद में नहीं; क्योंकि आह्लाद में पृथक रहने पर जो हृदय को खिला देने की शक्ति है वह समस्त प्रियाह्लाद नहीं उसकी बहुलता में एक अनावश्यक संगठन-सा आ गया है जिससे बिखरने का भाव पूर्णतया लुप्त हो जाता है। पल्लव के प्रवेश में पन्त कृत महताकाश और महदाकाश की विवेचना इसी पर प्रकाश डालती है, पहले में एक स्वच्छता और प्रकाश का आभास है तो दूसरे में घिराव का। एक उदाहरण और देने से यह गुण अधिक स्पष्ट हो जायगा—

अरी सलिल की लोल हिलोर,
आ मेरे मृदु अंग झकोर,
नयनों को निज छवि में बोर
मेरे उर में भर यह रोर
(वीचि-विलास, पल्लव)

अनिल-पुलकित स्वर्णाञ्चल लोल
मधुर-नूपुर-ध्वनि खग कुल रोल।
(सन्ध्या, युगान्त)

कवि ने वीचियों की ध्वनि के लिए रोर और खगकुल के साथ रोल का प्रयोग किया है। इस र और ल के सूक्ष्म अन्तर में ही एक भाव सन्निहित है—

र के द्वारा लहरों का बिखरता हुआ शब्द और स के द्वारा पक्षियों का कुछ बँधा हुआ तीव्र स्वर व्यञ्जित होता है।

पन्त के प्रयोगों में भी यह व्यञ्जना शक्ति कभी-कभी इतनी विकसित हो जाती है कि एक ही शब्द समस्त वाक्य को अनुप्राणित करता रहता है, जैसे—

तुम पूर्ण इकाई जीवन की
जिसमें असार भव-शून्य लीन !

यहाँ इकाई शब्द के साथ पूर्ण ने मिल कर अर्थ में जितना गाम्भीर्य ला दिया है उतना और पर्यायवाची शब्दों की शक्ति से बाहर था। अकेला इकाई शब्द ही इन दोनों पंक्तियों की आत्मा स्वरूप वर्तमान है। इस विषय में स्वयं कवि के ही अमूल्य विचार ज्ञातव्य हैं—भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः संगीत भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे भ्रू से क्रोध की वक्रता, भृकुटि से कटाक्ष की चञ्चलता, भौंहों से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही हिलोर में उठान, लहर में सलिल के वक्षस्थल की कोमल कम्पन, तरंग में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठ-उठ कर गिर पड़ना, बढ़ो-बढ़ो कहने का शब्द मिलता है। वीचि से जैसे किरणों की चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँस-मुख लहरियों का, ऊर्मि से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरंगों का आभास मिलता है।···

वर्ण-बोध

इस विषय में जो दूसरी बात उल्लेखनीय है, वह है उनकी वर्ण-योजना। चित्र शब्द ही वर्णों की अपेक्षा करता है। इसलिए प्रत्येक कुशल कलाकार को रंगों का बड़ा सूक्ष्म ज्ञान होना आवश्यक है। अँगरेज़ी के कीट्स, रोजेटी, स्विन बर्न, राबर्ट-ब्रिजेज आदि बहुत से, एवं संस्कृत के बाण-भट्ट, कालिदास आदि कविपुंगव इस कार्य में बड़े प्रवीण थे। हिन्दी में भी विद्यापति, बिहारी, सूर आदि कवियों के कुछ छन्दों में इसका सुन्दर आभास मिलता है। पन्त की वर्ण-योजना बड़ी सूक्ष्म है। आप अपने शब्द-चयन के बल पर वही कर दिखाते हैं जो एक कुशल चित्रकार रंग, छाया और प्रकाश के चित्रण से कर सकता है। यही नहीं, कहो तो हमको रूप, रंग के अतिरिक्त स्पर्श और गन्ध का भी आस्वादन

हो जाता है। गुञ्जन के नौका विहार को पढ़ कर पाठक स्वयं वीचि-जाल एवं गम्भीर के स्पर्श से पुलकित हो उठता है :

चाँदी के साँपों सी रलमल, नाचती रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं सी खिंच तरल-सरल।

इसी कविता के दूसरे पद में मन्द-मन्द संचरण करती हुई नौका हमारे सम्मुख नाचने लगती है।

आँसू कविता में वर्ण-मिश्रण की छटा देखिए—

देखता हूँ जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका,
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला;

इन्द्रधनुष के विविध रंग, कुछ धूमिल-सा रेशमी घूँघट और उससे झाँकती हुई मोती-सी श्वेत मुख-छवि सभी मिलकर एक हो गये हैं और पृथक भी हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में आम के बौरों तथा भौंरों के रंग कितनी सूक्ष्मता से चित्रित किए हैं।

रुपहले सुनहले आम्र-बौर
नीले पीले, औ ताम्र-भौंर।

अथवा

विद्रुम औ मरकत की छाया,
सोने चाँदी का सूर्यातप!
हिम—परिमल की रेशमी वायु,
शत रत्न-छाया, खग-चित्रित नभ॥

अथवा

गहरे धुँधले, धुले साँवले
मेघों से मेरे भरे नयन।

उपर्युक्त उदाहरण रंगों के ही है। प्रकाश का भी पन्तजी की कविता में सम्यक् आभास मिलता है। वास्तव में स्वर्ण-रङ्ग का प्रकाश पन्त को बड़ा प्रिय है। सोने का गान में आप लिखते हैं—

तुहिन घन में छाई, सुकुमारि,
तुम्हारी स्वर्ण ज्वाल-सी तान।
× × ×
उषा की कनक-मदिर मुस्कान।

अथवा--

प्रात का सोने का संसार
जला देती संध्या की ज्वाल!

आपकी अनेकों कविताएँ इस प्रकाश से दीप्त हैं। इस प्रकार कवि को केवल कोमल ही नहीं वरन् भयानक काले रंगों का भी पूर्ण बोध है। उदाहरणार्थ--

रुधिर के हैं जगती के प्रात
चितानल के ये सायंकाल!

कवि के इस सूक्ष्म कौशल पर उदीयमान आलोचक कृष्णशंकर शुक्ल ने बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है—यही तक नहीं कवि की दृष्टि से और भी सूक्ष्मता प्राप्त की है। अनेक पदार्थ दृश्य होते हैं पर हम उन्हें छू नहीं सकते, उदाहरण के लिए धूप तथा अन्धकार लिए जा सकते है, पर कल्पना के द्वारा हृदय पर पड़े हुए इनके प्रभाव को दृष्टि में रख कर इनके स्पर्श की विशेषता की भी कल्पना की जा सकती है। यह स्पर्श-ज्ञान साधारण ज्ञान से भिन्न है। गुलाबी रेशमी पत्थर यद्यपि छूने में कठोर होगा पर नेत्रों को वह मुलायम लगेगा। ऐसी ही भावना से प्रेरित होकर पन्तजी ने अनेक सुन्दर उद्भावनाएँ की हैं। नीचे की पंक्तियों मे श्यामल तम को कोमल कहा गया है। यदि वह काला अन्धकार होता तो उसे कठोर विशेषण अवश्य प्राप्त हुआ होता। रंगों का सूक्ष्म-परिज्ञान न रखने वालों को तो काले तथा श्यामल में कुछ भेद न प्रतीत होगा। पर सूक्ष्म-बुद्धि-सम्पन्न कवि इन ठोस भेदों ही की अनुभूति नहीं करता है, उसे तो श्याम तथा श्यामल मे भी कुछ भेद प्रतीत होता है। श्याम कुछ गहरा तथा कठोर होगा। श्यामल के लकार ने उसे उच्चारण-माधुर्य के साथ-साथ स्पर्श की सुकुमारता भी प्रदान की है—

मृदु मृदु स्वप्नों से भर अंचल,
नव नील, नील, कोमल, कोमल,
छाया तरुवन में तम श्यामल!

ध्वनि-चित्रण

भाव और भाषा के सामञ्जस्य, एवं स्वरैक्य के द्वारा पन्तजी ध्वनि-चित्रण करने में भी परम पटु हैं। इसके लिए उन्होंने स्वर और व्यञ्जनों को बड़ी सूक्ष्म परीक्षा के बाद चुना है। ध्वनि-चित्रण में तो व्यञ्जनों का ही प्राधान्य रहता है, परन्तु जहाँ भावना की अभिव्यक्ति अथवा गति आदि की तस्वीर खींचनी होती है वहाँ पन्तजी स्वरों पर ही अधिक निर्भर रहते हैं— "इसका कारण यह है कि काव्य-सङ्गीत के मूल-तन्तु स्वर हैं न कि व्यञ्जन!" और "भावना का रूप स्वरों के सम्मिश्रण एवं उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर रहता है।" इस प्रकार स्वर-सङ्गीत की रक्षा करके उसके सङ्कोच-प्रसार को यथावकाश देकर वे राग का स्वाभाविक स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामञ्जस्य पूर्ण-रूपेण स्थापित कर देते हैं—

पावस-ऋतु थी पर्वत-प्रदेश
पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार।

'पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश' मे यदि लघु अक्षरों की आवृत्ति देशी बाइस्कोपों में घूमते हुए चित्रों की भाँति प्राकृतिक दृश्यो के परिवर्तन का आभास देती है, तो 'मेखलाकार पर्वत अपार' का 'आ' पर्वत के विस्तार का चित्र सम्मुख उपस्थित करता है। यही बात—

शशि की सी ये कलित-कलाएँ खेल रही है पुर पुर में
× × × ×
तड़ित-सा सुमुखि तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार उर चीर!

आदि उद्धरणों से स्पष्ट है। गति के अतिरिक्त ध्वनि का चित्रण भी कवि में सर्वत्र मिलता है। उसको चित्र-राग का परिष्कृत ज्ञान है। 'विरह अहह कराहते इस शब्द को' में ह की आवृत्ति के कारण ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रत्यक्ष ही कोई कराह रहा हो।

इसी प्रकार 'गरज गगन के गान गरज गम्भीर स्वरों में'—'घन घमण्ड नभ गर्जत घोरा' का आभास देता है।

पन्तजी के कान स्वर पहिचानने में कितने शिक्षित हैं इसका सम्यक् परिज्ञान निम्नाङ्कित पद से आप ही हो जाएगा।

पपीहों की वह पीन पुकार
निर्झरों की भारी झर झर,
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु-गम्भीर घहर।
बिन्दुओं की छनती छनकार
दादुरों के वे दुहरे स्वर

भयङ्कर शब्द सुनना हो तो परिवर्तन के 'वासुकि सहस्रफन' की "शत् शत् फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयङ्कर" सुनिए। वह अपना आख्यान आप ही है।

आचार्य शुक्ल के शब्दों में "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने मे कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलङ्कार है।" इसी को कवि इस प्रकार कहता है। "अलङ्कार केवल वाणी की सजावट के लिए ही नही वरन भाव की अभिव्यक्ति के भी विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं। पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न चित्र हैं···वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव, भाव है।" तात्पर्य यह है कि अलङ्कार काव्य के लिए अनिवार्य न होते हुए भी आवश्यक है। प्राण न होते हुए भी शरीर के धर्म अवश्य हैं। यद्यपि इनका जीवन आरम्भकाल से ही अनेकों उत्थान-पतन देखता आया है, परन्तु फिर भी उनका कभी सर्वथा बहिष्कार नहीं हो सका। हाँ, जब कभी उनका महत्व अनुचित रूप से बढ़ गया है तो भयंकर प्रतिवर्तन अवश्य हुए हैं। इसी सत्य के अनुसार रीतिकाल में जब भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे मे ही फिट रखने के लिए बुनी जाने लगी और भावों की उदारता, शब्दों की कृपण-जड़ता मे बँध कर सेनापति के दाता और सूम की तरह इकसार हो गई, तो आधुनिक युग अलङ्कारों के प्रति एक

विद्रोह लेकर खड़ा हुआ, परन्तु काव्य-देश मे उनका सर्वथा निष्कासन तो असम्भव था। हाँ, उनकी पोजीशन अवश्य घटा दी गई और साथ ही आधुनिक विदेश-दण्ड-विधान के अनुसार उनको कुछ विदेशी शिक्षा-दीक्षा देकर संस्कृत करने का भी सफल प्रयत्न किया गया। पन्त की अलकार-योजना में पश्चिमीय पॉलिश अधिक है—उनके ऊपर उद्धृत कथन में ही अभिव्यञ्जनावाद बोल रहा है, परन्तु भारतीय अलंकार शास्त्र के भी आप कम ऋणी नहीं हैं—विशेष कर सादृश्य-मूलक अलकारों को तो आपने काफी अपनाया है। उपमा और रूपक पन्तजी की कविता में मणियो की भाँति चमकते हैं। छाया कविता तो समस्त उपमाओं की लड़ियों में ही गुँथी है। परन्तु ये उपमाएँ सभी नवीन हैं। उनमें परम्परा की गन्ध तनिक भी नहीं है। देखिए निम्न पंक्तियों में छाया को मूर्त-रूप देने के लिए कितनी सुन्दर अप्रस्तुत-योजना हुई है—

तरुवर के छायानुवाद-सी
उपमा-सी भावुकता-सी
अविदित भावाकुल भाषा-सी
कटी छँटी नव-कविता-सी।

उपरोक्त 'मालोपमा' को पहली उपमा तो प्रस्तुत से गृहीत होने के कारण उसका स्वरूप स्पष्ट करती है बाद की तीन उपमाएं उनकी संकुलता का अनुभव कराती हैं। जैसा इन उपमाओं से स्पष्ट है हमारा कवि अमूर्त की व्यञ्जना के लिए मूर्त अप्रस्तुत का प्रयोग करता हो केवल यही बात नहीं, वह प्रायः प्रस्तुत मूर्त के लिए अमूर्त उपमानों का उपयोग भी करता है। निम्नलिखित विधान से यह स्पष्ट हो जायगा—

धीरे-धीरे संशय-से उठ
बढ़ अपयश-से शीघ्र-अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा-से निशि-भोर

पन्तजी के उपमान भी प्रायः सभी रंगीन होते हैं। अस्तु !

खेंच ऐंचीला भ्रू—सुर-चाप
शैल की सुधि यों बारम्बार,
हिला हरियाली का सुदुकूल
झुला झरनों का झलमल हार

जलद पट से दिखला मुखचन्द्र
पलक पल पल चपला
भग्न-उर पर भूधर सा हाय !
सुमुखि ! धर देती है साकार !

उक्त पद में शैल और उस पर विचरने वाली बालिका दोनों की सुधि को एक करके—पुनः हृदय पर भूधर रखवा कर पन्तजी ने रूपक का अपूर्व-रूप खड़ा कर दिया है। पन्तजी अपने 'अलङ्कार-विधान' में सर्वथा स्वतन्त्र रहते हैं—वे अलङ्कारों की कट्टर कवायद कभी नहीं करते। उनके बहुत से अप्रस्तुत विधान ऐसे हैं जो अलङ्कार शास्त्र के अनुसार किसी विशेष नाम के अधिकारी तो नहीं परन्तु उनमें साँग रूपक आदि बहुत से अलङ्कारों की सहायता रहती है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद लीजिए—

रूप का राशि-राशि यह रास !
युगों की यमुना-श्याम,
तुम्हारे स्वर का वेणु विलास,
हृदय का वृन्दाधाम;
देवि ! मथुरा का यह आमोद,
दैव ! व्रज अह ! यह विरह-विषाद !
आह, वे दिन द्वापर की बात !
भूति ! भारत की ख्यात !!

अथवा गुञ्जन के नौका-विहार में गङ्गा का चित्र देखिये—

'तापसबाला गङ्गा निर्मल'

× × ×

तनिक उल्लेख का वैभव भी अवलोकन कीजिये—

बिन्दु में थी तुम सिन्धु अनन्त,
एक सुर में समस्त सङ्गीत।
एक कलिका में अखिल वसन्त,
धरा पर थीं तुम स्वर्ग पुनीत।

नीचे का पद 'स्मरण' का रुचिर उदाहरण है—

देखता हूँ जब पतला
इन्द्र-धनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला।
तुम्हारे मुख का ही तो ध्यान
मुझे तब करता अन्तर्धान।

वास्तव में इस 'स्मरण' को भाव न कहकर अलङ्कार कहना कवि की भावुकता की उपेक्षा करना है।

एक नमूना 'सन्देह' का भी दृष्टव्य है—

निद्रा के इस अलसित वन में
वह क्या भावी की छाया,
दृग-पलकों में विचर रही, या
वन्य देवियों की माया?

'सन्देह' पन्तजी का प्रिय अलङ्कार है।

आधुनिक कविता के दो प्रमुख अलङ्कार हैं—समासोक्ति और अन्योक्ति। आजकल तथ्यों के सादृश्य-विधान के लिए प्राचीन दृष्टान्त आदि का प्रयोग न होकर अन्योक्ति पद्धति का ही अनुसरण किया जाता है। समासोक्ति के न जाने कितने रम्य उदाहरण पन्तजी की कृतियों में मिलेंगे। चाँदनी के लिए आप कहते हैं—

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद—हासिनि!
मृदु करतल पर शशि-मुख धर
नीरव अनिमिष एकाकिनि!

एक व्यङ्ग्य रूपक का सौन्दर्य देखिए—ग्रन्थि में कुसुमशराहता नायिका पर सखियाँ कैसी मीठी फबती कसती हैं—

प्रथम भय से मीन के लघु बाल जो
पङ्ख फड़काना नहीं थे जानते,

उर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी।

दो एक उदाहरण चमत्कार-मूलक अलङ्कारों के देकर इस प्रसङ्ग को समाप्त किया जाएगा। नीचे के पद में सहोक्ति और यथासंख्य की सुन्दर योजना हुई है :

(१) निज पलक, मेरी विकलता साथ ही
अवनि से, उर से, मृगेक्षणि ने उठा।

× × ×

(२) विश्वानुरक्त ? हे अनासक्त !
सर्वस्व त्याग को बना मुक्ति !

में विरोध का भाव-पूर्ण प्रयोग है। 'हे नग्न ! नग्न पशुता ढँक दी' में परिकर की छटा दर्शनीय है।

यह तो हुई प्राच्य अलङ्कारों की बात। अब थोड़ा-सा पाश्चात्य ढंग की अप्रस्तुत-योजना का विवेचन करना असंगत न होगा। पन्तजी ने अँगरेजी और बंगला का अच्छा अध्ययन किया है, अत: स्वभावतः उनकी शैली पर पाश्चात्य प्रभाव बहुत पड़ा है। विदेश में लक्षणा आदिक शब्द-शक्तियों का विवेचन नहीं है, हाँ उन पर आश्रित अलङ्कारों को विशेष महत्व दिया गया है। अँगरेजी अलङ्कार-शास्त्र में लक्षणा-मूलक अलङ्कारों का प्राधान्य है। अपने यहाँ लक्षणा का दूसरे प्रकार से ही विवेचन होने के कारण, इन अङ्ककारों-का नामकरण नहीं हो सका। पश्चिम के विशेषण-विपर्यय और मानवीकरण ये दो अलङ्कार पंतजी तथा सभी आधुनिक कवियों ने विशेष मनोनिवेश के साथ अपनाए हैं। इनमें पहिला भाषा की लक्षणा शक्ति का और दूसरा उसकी मूर्तिमत्ता का फल है। लक्षणा में प्रायः एक चमत्कार और कुछ वक्रता का आभास रहता है। विशेषण-विपर्यय प्रयोजनवती लक्षणा पर आधृत है। विशेषण-विपर्यय के दो एक उदाहरण देखिए—

ऐ स्वप्नों के नीरव-चुम्बन !

× × ×

मूक-व्यथा का मुखर भुलाव !

× × ×

औ जिनकी अबोध-पावनता
थी जग के मंगल की द्वार ! —आंवि

'मूक व्यथा का मुखर-भुलाव' चरण में व्यथा नहीं वरन् व्यथित व्यक्ति ही मूक है, उधर भुलाव मुखर नहीं, भूलने वाला है। इस प्रकार समस्त पंक्ति में दुहरा विपर्यय किया गया है, साथ ही अगोचर का गोचर रूप भी दिया गया है।

मानवीकरण के सफल प्रयोग भी कम नहीं हैं—ग्रन्थि में प्रेम के प्रति कवि उक्ति सुनिए—

पर नहीं तुम चपल हो, अज्ञान हो
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं।

स्वप्नों को मूर्तरूप देता हुआ कवि लिखता है—

विश्व की पलकों पर सुकुमार
विचरते थे जब स्वप्न अजान !

अथवा

अतल से उठ उठ हो हों लीन
खो रहे बन्धन गीत उदार।

इसी प्रकार मेंटोनिमी आदि बहुत से अन्य विदेशी अलङ्कार भी पन्तजी की कविता में यत्र-तत्र मिलते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पन्तजी का अलङ्कार-भण्डार बड़ा भरा पूरा है जिससे उनके भाषा की शक्तियों पर विस्तृत अधिकार का परिचय मिलता है। यद्यपि वे अन्य आधुनिक कवियों की अपेक्षा कुछ अधिक अङ्कार-प्रिय हैं, फिर भी उनकी समस्त अलङ्कार-साधना भावों की ही सजावट के लिए है। अप्सरा जैसी एकाध कविता ही भूषण-भार से दब कर गतिहीन हो पाई है। हमारे भावुक कवि की सृजनशील प्रतिभा दूसरों के झूठे उपादानों से ही सन्तुष्ट नहीं रही, उसने मौलिक नवीनता की भी सृष्टि की है। यह सृष्टि प्राचीन कलेवर में नवीन रूप-रंग भर देने से हुई है यथा—'चाँदी का चुम्बन कर चूर !' में चाँदी-सा के स्थान पर चाँदी का चुम्बन कहने में कितनी सुन्दर व्यञ्जना है। वास्तव में पन्तजी की अलङ्कारिक प्रतिभा मौलिक है, रचनात्मक है।

यह सब कुछ होते हुए भी पन्त जी अलङ्कारों की सहायता के बिना भी कहीं-कहीं बड़ी भव्य भाव-व्यञ्जना करने में समर्थ होते हैं—'वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर' में बालिका के अबोध भोलेपन की कितनी सूक्ष्म व्यञ्जना की गई है। इस प्रकार पन्तजी में थोड़े मे बहुत कहने की कला के भी दर्शन होते हैं और वे अलङ्कार-प्रिय होते हुए भी उन पर निर्भर नहीं रहते।

स्वयं कवि के शब्दों में, कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'कविता हमारे प्राणों का सगीत है, छन्द हृत्कम्पन कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन-हीनता में प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दो के रोड़ो में एक कोमल, सजल, कलरव भर उन्हे सजीव बना देते हैं।' यही नही वे जीवन और छन्द का अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं। कवि की छन्द योजना से पता लगता है कि छन्द को अपनी उँगलियो पर नचाने से पूर्व उसे स्वय छन्दों के सकेतो पर नाचना पडा है। पल्लव की भूमिका में उन्होंने स्वयं ही अपनी इस कला की ओर सकेत किया है। उन्होंने मात्रिक और वर्णिक छन्दो मे से केवल मात्रिक छन्द ही चुने हैं क्योंकि वे कहते हैं कि हिन्दी के शब्द-विन्यास की प्रकृति स्वरो से अधिक निर्मित है। अतः उसके राग और सगीत की रक्षा मात्रिक छन्दों मे ही हो सकती है। जो कार्य, भाव जगत में इनकी कल्पना करती है, वही शब्द-जगत में राग। हिन्दी के प्रचलित छन्दो मे *पीयूषवर्षण*, *रूपमाला*, *सखी*, *रोला*, *पद्धटिका*, *चौपाई* आदि ही कवि को अच्छे लगते हैं। प्राचीन एकस्वरता को बचाने के लिए उसने उनमे बहुत से सुधार और परिवर्तन भी किए हैं। अंगरेजी छन्द-योजना के अनुकरण पर, पन्तजी ने कविवर निराला के साथ, मुक्त छन्द का भी आविष्कार किया है। *ग्रन्थि* मे आपने *'run-on-lines'* का प्रयोग किया है।

> और, भोले प्रेम ? क्या तुम हो बने—
> वेदना के विकल हाथों से जहाँ—
> भूमते गज से विचरते हो यहाँ—
> आह है, उन्माद है, उत्ताप है।

भावों की गति के अनुसार ही इनका छन्द चलता है—अथवा यो कहिए

कि भाव स्वयं ही अपने अनुकूल छन्द में फूट उठता है। उदाहरणार्थ परिवर्तन में जहाँ भावना का क्रिया-कम्पन तथा उत्थान-पतन अधिक है, कल्पना उत्तेजित तथा प्रसारित रहती है, वहाँ रोला आया है, अन्यत्र १६ मात्रा का छन्द। बीच-बीच में छन्द की एक-स्वरता तोड़ने तथा भावाभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार उसके चरण घटा-बढ़ा दिए गए हैं। यथा—

विश्वमय हे परिवर्तन !
अतल से उमड़ अकूल, अपार
मेघ-से विपुलाकार,
दिशावधि में पल विविध प्रकार
अतल में मिलते तुम अविकार !
अहे अनिर्वचनीय ! रूप धर भव्य, भयंकर,
इन्द्रजाल सा तुम अनन्त में रचते सुन्दर,
गरज गरज, हँस हँस, चढ़ गिर, छा ढा भू अम्बर
करते जगती को अजस्र जीवन से उर्वर ;
अखिल विश्व की आशाओं का इन्द्रचाप वर
अहे तुम्हारी भीम-भृकुटि पर
अटका निर्भर !

उपरोक्त पद में पहिले चरण से तीन मात्राएं घटाकर एक विराम दिया गया है जो सम्बोधन के लिए आवश्यक है—उधर तीसरे में फिर चार मात्राएँ कम की गयी हैं जिससे श्रांति और निराशा की भावना द्योतित होती है। आगे रोला छन्द ऊपर लिखे नियमानुसार है। पन्तजी ने ये परिवर्तन अंग्रेजी ओड (Ode) से प्रभावित होकर किए हैं, इसी कारण उसमें सम्बोधनों की अधिकता है।

आपने छन्द में भी चित्रोपमता लाने का प्रयत्न किया है—

नवोढ़ा बाल लहर
प्रसूनों के ढिग रुक कर
सरकती है सत्वर ।

गुञ्जन में आकर पन्तजी ने अधिक संयम से काम लिया है और छन्दों में

अधिक उलट फेर नही किया है। उसमे अनुक्रम पर विशेष ध्यान रखा गया है। गुञ्जन के छन्दो मे भाषा की विशेष-कोमलता के कारण एक रुन-झुन मिलती है जो ज्योत्स्ना के नाट्य गीतो मे एक विशेष लय और ताल से संचालित होती है। ज्योत्स्ना मे कवि ने नृत्य के साहचर्य के अनुकूल गीत रचना की है, उसमें नाटकीय कौशल दृष्टिगत होता है।

सरल चटुल, विमल विपुल,
हिम-शिशु हुलसाये।

अथवा—

कुन्द-धवल, तुहिन सरल,
तारा-दल ए—

लघु अक्षरों की आवृत्ति भावाभिव्यक्ति के अनुरूप होने के अतिरिक्त सगीत मे भी एक विशेष स्थान रखती है।

युगान्त मे आकर कवि की कला मे मासलता आ गई है—अत. उसके छन्दों मे गुञ्जन या ज्योत्स्ना के गीतों की सी बिछलन नही है—उसमे पुरुष-सगीत है।

वास्तव मे पन्त की छन्द-योजना विशद है। उनके प्रत्येक छन्द मे राग की एक धारा अनिवार्य रूप से व्याप्त मिलती है—कही भी शब्दों की कड़ियाँ अलग-अलग असम्बद्ध नही दिखाई पड़ती—उनकी दरारें लय से भर कर एकाकार कर दी गई हैं। साराश यह है कि उनमे पूर्ण सामञ्जस्य है। 'जिस प्रकार जलौघ पहाड़ से निर्झर-नाद मे उतरता, चढ़ाव मे मन्द गति, उतार मे क्षिप्र-वेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारो को काटता-छाँटता, अपने लिए ऋजु-कुञ्चित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान पतन के अनुरूप सकुचित प्रसारित होता सरल-तरल ह्रस्वदीर्घ गति बदलता रहता है।

अन्त में पन्त सुन्दर कलाकार हैं, उनकी कला रंगीन है—चटकीली! प्रारम्भ से ही उसमे एक स्वस्थ विकास दृष्टिगोचर होता है। वीणा मे कवि की शिशु कविताएँ हैं, उनमे सर्वत्र एक भोलापन मिलता है। आगे चलकर एक ग्रन्थि में जो कला शब्द-बाहुल्य से कुछ श्लथ प्रतीत होती थी, पल्लव मे आकर वह स्वभावतः कोमलकांत हो गयी फिर भी उसमें अवसर के अनुकूल माधुर्य और ओज,

तारल्य और गाम्भीर्य पाया जाता है। गुञ्जन में कवि की मनन प्रवृत्ति का अत्यधिक विकास हो जाने से वही सयत एव सुख-सरल हो गयी और ज्योत्स्ना में जाकर नितली के सदृश उडने लगी। युगान्त में, उसमें मासलता आयी—महाप्राणता का विकास हुआ। उसकी रेखाएं अब प्रौढ और पुष्ट हैं—उसमें पुंसत्व आ गया है। अभी वह प्रगतिशील है—विकासोन्मुख है।

काव्य-विकास | इन्द्रनाथ मदान

छायावादी कविता को जिन कवियों ने आगे बढ़ाया उनमें पंत का प्रमुख स्थान है। छायावाद का आरम्भ जयशंकर प्रसाद के 'झरना' काव्य-संग्रह से पहले भी माना जाता है, परन्तु सुविधा की दृष्टि से वही इसके प्रवर्तक कहे जाते हैं। पंत ने छायावाद की कला को सब से अधिक निखारा है। इनके अतिरिक्त सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला और महादेवी वर्मा ने इस कविता में पौरुष और करुणा की धारा बहाई है। इस प्रकार छायावादी काव्य के प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी—ये चार उज्ज्वल नक्षत्र हैं, उनके प्रकाश में अन्य कवियों ने अपने काव्य-साधना के पथ को पार किया है। वे चारों ही अपनी नवीन भाषाभिव्यंजना, नवीन विचार-प्रणाली, नवीन भाषा-शैली और नवीन कला-कौशल के कारण शीर्ष स्थान पाने के अधिकारी हैं। इनका विरोध भी बहुत हुआ है; लेकिन अध्ययन की गम्भीरता और व्यक्तित्व की धीरता के बल पर वे बराबर आगे बढ़ते आए हैं। आरोपों और आक्षेपों के प्रहार सहने वाले इन कवियों ने छायावादी काव्य को व्यापक एवं सम्पन्न बनाया है। भारतीय और पाश्चात्य दोनों साहित्यों के मूल तत्त्वों के विवेचन-विश्लेषण के बाद इन्होंने अपने काव्य का शृङ्गार किया है और खड़ी बोली को मृदुता और माधुर्य के साथ वह भावाभिव्यंजकता दी है, जिसका द्विवेदीकाल में प्रायः अभाव था।

इन कवियों में पंत का विशेष महत्त्व है। उन्हें प्रकृति का सुकुमार कवि भी कहा जाता है। पन्त को यह विशेषण देना संगत है, क्योंकि वह उन्मुक्त प्रकृति के अंचल में जन्मे, पले और बड़े हुए हैं, जिससे उनकी अंतःप्रकृति भी कोमल और स्निग्ध हो गई है। उनका जन्म मई १९०० में कूर्मांचल के सुन्दरतम

प्रदेश कौसानी नामक गाँव में हुआ था, जो अलमोड़ा जिला में है। बचपन में ही इन्हें माता की स्नेहमयी गोद से वंचित होना पड़ा। फलस्वरूप व्यक्तित्व में संकोचशीलता आ गई। प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण ने इसमें साथ दिया और बचपन से ही कवि एकान्तशील हो गया। स्कूली शिक्षा के प्रति विशेष रुचि नहीं रही क्योंकि यह उनके चिन्तन को गति नहीं दे सकी और महात्मा गांधी के भाषण से प्रभावित होकर एफ० ए० से ही पढ़ना छोड़ दिया। लेकिन संस्कृत, बँगला और अंग्रेजी के गम्भीर अध्ययन ने दीवारों की बन्द शिक्षा का अभाव ही नहीं पूरा किया वरन् नवीन उद्‌भावनाओं के लिए भी पथ प्रशस्त किया। बचपन से ही कविताएँ लिखने लगे। विषय होते थे 'कागज-कुसुम', सिगरेट का धुआँ जैसे बिलकुल निराले। पन्द्रह साल की आयु में हार नामक उपन्यास भी लिखा था, जिसकी हस्त-लिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी के संग्रहालय में है और जिसका अब प्रकाशन भी हो चुका है। पहली कविता 'स्वप्न' थी जो 'सरस्वती' में छपी थी। सबसे पहले उच्छ्वास (१९२२) और इसके बाद उनका प्रसिद्ध काव्य-संग्रह पल्लव (१९२६) निकला जिसने नवयुग उपस्थित कर दिया। उससे पहले वह वीणा और ग्रन्थि भी लिख चुके थे। वीणा में आरम्भिक प्रकृति-प्रेम की कवितायें हैं और ग्रन्थि में एक प्रेम कथा है। पल्लव के बाद ही कवि के पिता का देहान्त हो गया और जीवन में अभाव ही अभाव हो गया। इसी समय उनको बीमारी ने भी आ घेरा। प्रकृति-प्रेम से कवि में जीवन से सुख-दुख की ओर देखने की प्रवृत्ति जगी। दुख का अनुभव हुआ पर स्वस्थ होने से आशा भी जगी और उसके बाद गुञ्जन (१९३२) का प्रकाशन हुआ जिसमें जीवन की—मानव-जीवन की—आशामयी अभिव्यक्ति है। मानव जीवन की मंगलमयी कल्पना ज्योत्स्ना (१९३४) नाटक में हुई। कवि को अपनी वास्तविक दृष्टि मिल गई और कल्पना के स्वर्ग को छोड़ कर कवि धरती पर उतरा। युगांत में, जो सन '३६ में प्रकाशित हुआ, प्राचीनता के प्रति विरक्ति और नवीनता के प्रति आग्रह है। उसमें मानव का रूप और निखरा। उसके बाद युगवाणी (१९३९) और ग्राम्या (१९४०) का प्रकाशन हुआ। इसके बाद कवि मौन नहीं है, उसने नया मोड़ लिया है, उनकी विचारधारा जो उनके काव्य के तीसरे चरण में अभिव्यक्ति पा रही है। अरविन्द के जीवन-दर्शन से प्रभावित है। इन रचनाओं में पन्त की अध्यात्मवादी जीवन-दृष्टि झलकती है। इनका संकलन स्वर्णकिरण (१९४७), स्वर्ण-धूलि (१९४७), युग-

पथ (१६४६), उत्तरा (१६४६), अतिमा (१६५५) आदि काव्य-संग्रहों में किया गया है जिनमे प्रधानतः दिव्य-जीवन की चेतना व्यक्त हुई है। इस प्रकार **पल्लव** से लेकर **अतिमा, कला और बूढ़ा चाँद** तक पन्त के काव्य-विकास की रूपरेखा को प्रकृति से मानव, मानव से जन-जीवन, जन-जीवन से दिव्य-जीवन और दिव्य-जीवन नव-मानव की शब्दावली मे प्रस्तुत किया जाता है। कवि ने स्वय अपने काव्य-विकास को स्पष्ट करने के लिये इसी भाषा को अपनाया है। इसके मूल में कवि का समन्वयवादी दृष्टिकोण बतलाया जाता है जो रसायन की भाँति परस्पर-विरोधी विचारधाराओ मे अन्तर को पाटने और विरोध का परिहार करने मे सफल कहा जाता है।

पन्त की कविता का सबसे बडा तत्त्व है—उनका प्रकृति-प्रेम। जन्मभूमि का पर्वतीय दृश्य और उस पर बचपन से मातृहीन होने से एकान्त-चिन्तन ने पन्त को प्रकृति का चिर-सहचर बना दिया है। हिन्दी में ऐसा कोई कवि नहीं है जिसने इस प्रकार प्रकृति को अपना कर, जीवन का अग बना कर रखा हो। 'पल्लव', 'वीणा', 'ग्रन्थि' तक तो कवि ने अपने सौन्दर्य-प्रेम और प्रकृति-प्रेम को मिला ही दिया है। 'गुजन' में, जहाँ कि मानव-जीवन के प्रति दार्शनिक प्रवृत्ति परिलक्षित है और 'युगात' से आगे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' तक, जिनमें वस्तु-जगत ने उनके भाव-जगत पर विजय पा ली है, सर्वत्र प्रकृति का अनोखा प्रभाव पडा है। प्रभाव ही नही कवि को कविता लिखने की प्रेरणा भी प्रकृति से मिली है। प्रकृति के रूपो के क्षण-क्षण बदलते रगो—आकारो ने ही कवि को सौन्दर्य के प्रति प्रेम और जिज्ञासा की दृष्टि दी है। आरम्भ में तो कवि वा प्रकृति के प्रति इतना आग्रह था कि उसे नारी-सौन्दर्य भी उतना आकर्षक नही लगता था जितना कि प्रकृति-सौंदर्य। 'वीणा' की एक कविता में कवि ने अपनी इस भावना का परिचय यों दिया है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल से कैसे उलझा दूँ लोचन ?

प्रकृति का यह आकर्षण कवि को आरम्भ से ही अपनी ओर खीचता रहा है। यही कारण है कि प्रकृति ने ही उनके काव्य को वह रूप-रंग दिया है जो अन्य-कवियों से उन्हें अलग कर देता है। प्रकृति के स्वतन्त्र परन्तु सयत, नियंत्रित, नियमित वातावरण ने ही उनके छंदो और भाषा का परिष्कार करके

उनकी कला का भी निर्माण किया है। प्रकृति के सम्बन्ध में कवि का कथन है—'कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घण्टो एकात मे बैठा, प्राकृतिक दृश्यो को एकटक देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँख मूंद कर लेटता था, तो वह दृश्यपट, चुपचाप, मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज मे दूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित नील धूमिल कूर्माचल की छायांकित पर्वत-श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजत-मुकुट हिमाचल को धारण किए हुए हैं और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाये हुए हैं किसी भी मनुष्य को अपने महान नीरव सम्मोहन के आश्चर्य में डुबाकर, कुछ काल के लिए भुला सकती हैं। और शायद यह पर्वत प्रान्त के वातावरण का ही प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह निश्चय रूप से, अवस्थित है।'[1]

इससे स्पष्ट है कि कवि के भीतर प्रकृति-प्रेम ने ही एक 'अज्ञात आकर्षण' को जन्म दिया और उस 'अज्ञात आकर्षण' ने 'अव्यक्त सौन्दर्य' को। इसीलिए कवि का हृदय उस सौन्दर्य के भीतर अपने को खो देने को उत्सुक रहता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति ने ही 'विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य भावना' भी दी है, जिसने उसे चिन्तक बना दिया है। कवि के कथन से एक और बात स्पष्ट होती है। कवि के शब्दों में केवल आश्चर्य और कौतूहल की व्यंजना ही प्रकृति के माध्यम से हुई है।

पन्त ने प्रकृति से अपना नाता जोड लिया है और शैशव से ही उसे वह विभिन्न रूपो मे दिखाई देती रही है। प्रकृति से निकट का परिचय होने के कारण कवि की दृष्टि में संवेदनशीलता आ गई है और इसके कारण वह प्रकृति से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और उससे जो सन्देश मिलता है उसे भी ग्रहण कर लेता है। उसकी विशेषता यह है कि कवि प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र अंकित करता है। पर्वत-प्रदेश में पावस ऋतु का सौंदर्य अंकित करते हुए

---

१. आधुनिक कवि, भूमिका, पृ० ७।

कवि उसके क्षण-क्षण बदलते रूप का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत कर देती है। पहाड़ों के बीच घिरे हुए पानी में फूलों से भरे पहाडो की परछाईं पड़ रही है। साधारण सी-बात है। लेकिन कवि ने इस साधारण सी बात को एक रूपक में बाँध दिया है, और वह पहाड सजीव हो उठा है, जिसके ऊपर खिले फूल उसके खुले हुए नेत्र हो गए हैं और नीचे भरा हुआ पानी का ताल दर्पण हो गया है, जिसमे वह बार-बार अपना मुँह देख रहा है।[1] उस दृश्य को यो प्रकट करने मे उसका स्वरूप आँखो के आगे खडा हो जाता है। चित्रों की ऐसी अशेष राशि कवि के काव्य मे बिखरी पडी है।

पन्त की प्रकृति के साथ जो यह मैत्री है, उसका कारण यह है कि वह अपनी भावनाओ को उसके माध्यम से भली भाँति व्यक्त कर सकते हैं। इससे उनके चित्रों मे सजीवता और सौन्दर्य आ जाता है और उनकी भावनाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। कवि चाहता है कि प्रेयसी के 'ध्यान' करने और उसकी सुधि आने की बेला में उसकी जो मानसिक दशा होती है, उसका चित्रण करे। उसके पास उस मानसिक दशा को व्यक्त करने के लिए प्रकृति के अतिरिक्त और कोई माध्यम नही। वह ध्यान के लिए तड़ित की तड़प लेता है। ध्यान आने और बिजली के सहसा चमकने मे समानता है। बिजली की कड़क मे जुगुनू जैसे अधीर हो जाते है वैसे ही प्रेयसी का ध्यान आते ही कवि के प्राण भी बेचैन हो उठे हैं। इसलिये प्राण और जुगुनू की यहाँ समानता है। इस प्रकार एक मानसिक भावना को व्यक्त कर दिया है। अब सुधि को लीजिए। सुधि बातो की आती है और बातो मे सुखद स्वर की मिठास होती है। सुधि आने पर वे बाते हो दुहर-सी जाती हैं—उसी प्रकार जैसे शुक एक ही बात को

---

१. पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश—
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल।

सुखकर स्वर में दुहराता है। सुधि और शुक की यहाँ समानता है। इससे दूसरी मानसिक भावना मूर्त हो जाती है।[1]

कभी-कभी कवि ने यह भी किया है कि अपनी भावनाओं को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करने के बदले प्रकृति को ही भावनाओं के माध्यम से व्यक्त किया है—

गिरिवर के उर से उठ-उठ कर,
उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर
अनिमेष, अटल, कुछ चिंतापर।

यहाँ वृक्षों की ऊँचाई को उच्चाकांक्षाओं के माध्यम से व्यक्त किया है और उनकी शांत दशा को अनिमेष, अटल, चिंतापर व्यक्ति से। इस प्रकार व्यक्ति की भावनाएँ ही प्रकृति के चित्रण का माध्यम बन गई हैं।

इसके अतिरिक्त कवि ने प्रकृति को नारी रूप में ही देखा है, कुछ तो

---

१. तड़ित-सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर
मुझे करता है अधिक अधीर;
जुगुनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान।
पूर्व सुधि सहसा जब सुकुमारि।
सरल शुक सी सुखकर सुर में
तुम्हारी भोली बातें
कभी दुहराती हैं उर में,
अगन-से मेरे पुलकित प्राण
सहस्रों सरस स्वरों में कूक,
तुम्हारा करते हैं आह्वान,
गिरा रहती है श्रुति सी मूक।

अपनी सुकुमारता के कारण और कुछ प्रकृति के सौन्दर्य के कारण ।[1] यह भी हो सकता है कि दार्शनिक दृष्टि से 'प्रकृति और पुरुष' का रूपक भी कवि के सामने हो । प्रकृति में व्याप्त सौन्दर्य के आधार पर पन्त एक प्रेयसी की भी कल्पना करने लगते हैं । अपने सौन्दर्य-बोध की अभिव्यक्ति के लिए एक ओर यह प्रकृति के मधुवन की ओर देखते हैं और दूसरी ओर निखिल छवि की छवि नारी की ओर, एक ओर फूलों का हास उन्हें अनुरक्त करता है दूसरी ओर कपोलों की मदिरा विमुग्ध करती है । वह जब प्रकृति को निहारते हैं तो उनके दृगों में विश्व-सुषमा से युक्त नारी छा जाती है । जब वह नारी की सुषमा का पान करते हैं तब उनके सम्मुख प्रकृति की सुन्दरता बिसर जाती है । शरद की झिल-मिल चाँदनी लजीली दुलहिन की याद दिलाती है और भावी पत्नी का स्मरण उनके दृगों में व्योम-बाला के शरदाकाश का चित्र अंकित कर देता है । इस प्रकार पन्त की प्रकृति नारीमयी है और उनकी नारी प्रकृतिमयी है । वह कहीं प्रकृति को स्वतन्त्र सत्ता रखने वाली नारी के रूप में चित्रित करते हैं और प्रकृति से तादात्म्य अनुभव करते समय स्वयं को भी नारीरूप में अंकित करते हैं । यहाँ तन्वी गंगा ऋषि-कन्या है और चाँदनी तापसी बाला है । प्रकृति मालिन का रूप धारण कर गजरे भी बेचती है । युगांत में सध्या की रूपसी के रूप में और गुञ्जन में चाँदनी की रुग्णा बाला के रूप में कल्पना प्रकृति का नारीकरण है । पन्त जिस नारी पर मुग्ध हैं उसकी उषा जैसी छवि है, नववसन्त जैसा शृङ्गार है, तारों जैसा हार है, मेघों जैसे कुन्तल हैं और मलयानिल जैसी उसकी मुसवास है । यह नारी का प्रकृतिकरण है । प्रकृति और नारी पंत के काव्य में इस तरह घुल-मिल गये हैं कि इनके प्रकृति-चित्रण को नारीकला की संज्ञा भी दी जाती है ।

---

१. प्रथम रश्मि का आना, रंगिणि ।
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बाल-विहंगिनि ।
पाया तूने यह गाना ?
सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में
पंखों के सुख में छिप कर ।
झूम रहे थे, घूम द्वार पर
प्रहरी से जुगनू नाना ।

पंत कभी-कभी प्रकृति के ऐसे चित्र भी देते हैं, जिनमें न आलंकारिकता होती है, न भावनाओं और प्रकृति का आदान-प्रदान, केवल तटस्थ दर्शक की भाँति कवि निरीक्षण द्वारा प्रकृति का चित्रण करता है और वातावरण की सृष्टि कर देता है—

बाँसों का झुरमुट
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी-टी-टुट-टुट ।

पंत ने प्रकृति का कोमल और स्निग्ध स्वरूप ही चित्रित किया है। 'पल्लव' में 'परिवर्तन' कविता को छोड़कर सर्वत्र वह प्रकृति के मोहक रूप की ओर ही आकृष्ट रहे हैं। इस कविता में भी दार्शनिकता के कारण उग्र रूप स्वतः आ गया है, अन्यथा 'प्रथम रश्मि', 'बादल', 'नौका-विहार', 'एकतारा', 'दो मित्र', 'आँसू', 'अप्सरा', 'चाँदनी' आदि मे कवि ने प्रकृति के सरस और स्निग्ध रूप को ही चित्रित किया है। डा० नगेन्द्र के शब्दों मे 'प्रकृति के विराट रंग-मंच पर इनकी सौन्दर्यमयी दृष्टि पल्लव, वीचिजाल, मधुप-कुमारी, किरण, चाँदनी, अप्सरा, संध्या, ज्योत्स्ना, छाया, इन्दु, सुरभि, तारिकाएँ आदि पात्रो का ही अभिनय देखती हैं—अथवा देखना चाहती हैं। दिगन्तव्यापी उल्कापात, बवण्डर, भूकम्प और बाड़व-मथन आदि में इनकी वृत्ति नहीं रमती'। इसका मनोवैज्ञानिक कारण कवि का जनभीरु और संकोचशील स्वभाव बतलाया जाता है। सुन्दर जीवन की कल्पना करने वाला और बाह्य संघर्ष से कतराने वाला कवि प्रकृति के उग्र रूप की ओर प्रायः आकृष्ट नहीं हो सकता। इसका दार्शनिक कारण समस्त छायावादी काव्य का कोमल सौन्दर्य-बोध है जो युग-चेतना का परिणाम है। इनके प्रकृति-चित्रण में एक विशिष्ट जीवन-दर्शन को खोजने का प्रयास किया गया है और प्रकृति के प्रति इनके विकासशील दृष्टिकोण को व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया गया है। कवि जब मधुपकुमारी से मीठे गान सीख चुका है तब वह शिशु-सुलभ उत्सुकता का परित्याग कर प्रकृति पर चिन्तन एवं मनन करने लगता है। इसके परिणामस्वरूप पंत के प्रकृति-चित्रण में एक रहस्यमयी चेतना की अभिव्यक्ति होने लगती है। वह प्रकृति में उस शक्ति का आभास पाने लगते हैं जो जीवन और जगत को नियन्त्रित करती है।

सरिता के भी आत्मा है। वह प्रकृति में किसी महान संदेश को सुनने लगते हैं और अज्ञात प्रियतम का प्रतिबिम्ब देखने लगते हैं। प्रकृति के प्रति इस जीवन-दृष्टि को प्राकृतिक रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है जिससे कवि प्रकृति के अन्तर में व्याप्त किसी चेतन शक्ति का आभास पाने लगता है और पुकार उठता है—

> मैं चिर उत्कण्ठातुर
> जगती के अखिल चराचर
> ये मौन मुग्ध किसके बल !

वह आत्मा-परमात्मा के तादात्म्य-बोध की रसमयता से सिक्त हो कर कह उठता है—

> एक हूँ मैं तुम से सब भाँति
> जलद हूँ मैं यदि तुम स्वाति

इस भाँति आत्मा-परमात्मा का महामिलन प्रकृति के माध्यम से सम्पन्न होता है। पंत ने सब से पहले प्रकृति में सौन्दर्य देखा था और वह उससे पराभूत हुए थे। इस सौन्दर्य ने उन्हें भावलोक की ओर प्रेरित किया और कवि का सौन्दर्य-प्रधान प्रकृति-प्रेम भाव-प्रधान होने लगा। उनकी भावना के स्वप्न जीवन की कठोर अनुभूतियों से टकरा कर टूटने लगे। वह सुन्दरं से शिवं की ओर उन्मुख हुए और उनका प्रकृति-प्रेम विचार-प्रधान हो उठा। कवि प्रकृति के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त करने लगा। इस विकास-क्रम में प्रकृति के प्रति उनका दृष्टिकोण सखा का न होकर अब दार्शनिक का है, उपासक का न होकर विचारक एवं साधक का है। पहले जहाँ मानव का चित्रण प्रकृति से अभिभूत था वहाँ अब प्रकृति नव मानव की कल्पना से अभिभूत है। आरम्भ में प्रकृति पंत की जीवन-साधना रही है और अब वह उनकी जीवन-साधना का माध्यम बन रही है। इनके समस्त काव्य में प्रकृति का इतना महत्त्व एवं स्थान है कि उसे प्रकृति-काव्य की संज्ञा भी दी जाती है।

प्राकृतिक सौन्दर्य कवि की आत्मा की वस्तु बन गया है। वह अपने हृदय के उस आवेश को व्यक्त करना चाहता है जिसे प्रेम कहते हैं और मिलन और विरह जिसके दो छोर हैं। नारी-सौन्दर्य के चित्रण के लिये कवि प्रकृति की

सहायता लेता है। पंत नारी के भव्य सौन्दर्य का भी चित्रण करते हैं। वह नारी-सौन्दर्य पर भी उतने ही मुग्ध हैं, जितने प्रकृति-सौन्दर्य पर।[1] वस्तुतः वह सौन्दर्य को व्यापक रूप में लेते हैं। सर्वत्र सौन्दर्य की अखण्ड सत्ता देखने के कारण उनको सौन्दर्य के चित्रण में स्वाभाविक रुचि रहती है और वह उसे व्यक्त भी बड़ी कुशलता से कर देते हैं। 'उच्छ्वास की बालिका' में वह एक बालिका का चित्रण करते हैं। इस चित्रण में कहीं राग-तत्त्व का वासना-पंकिल रूप नहीं मिलता। पूरी कविता में उसके स्वच्छ, पवित्र, उज्ज्वल रूप के ही दर्शन होंगे—

सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषण,
कान से मिले अजान नयन
सहज था सजा सजीला तन।

× × ×

रंगीले, गीले, फूलों-से
अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित
—इसी में था असीम अवसित।

मिलन हो या विरह, कवि की अनुभूति इतनी तीखी है कि उसकी नोक से कोई भाव या विचार विद्ध होने से नहीं बचता। सौन्दर्य की एक झलक ही उसकी कल्पना को सौ-सौ नेत्र दे जाती है। उसे अनुभूति और कल्पना का वरदान प्राप्त है। वह भावनाओं को ऐसा रूप दे देता है कि उसे पढ़ कर हृदय में उनकी कसक ज्यों की त्यों उतर आती है। इसका कारण यह है कि कवि की कल्पना वेदनामय है, उसके आँसुओं में गान जीता-सिसकता है और शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं। ऐसा समन्वय होने के कारण ही मधुर लय का कहीं अन्त

---

१. अकेली सुन्दरता कल्याणि,
सकल ऐश्वर्यों की संधान।

नहीं होता।[1] और तभी वह पुकार उठता है—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान।

पंत ने 'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' तक इस प्रकार की सौन्दर्यमयी कविताएँ लिखी हैं, जिनमे उनकी कल्पना को बहुत दूर तक उड़ान भरने का अवकाश मिला है। 'वीणा' में इनके किशोर कवि की बालसुलभ भावुकता है, जिसमे कवि का प्रकृति की महत्ता पर पूर्ण विश्वास है और उसके व्यापारो में पूर्णता का आभास मिलता है। 'वीणा' की कविताओ में गीतांजलि की छाया भी स्पष्ट है।[2] परन्तु 'ग्रन्थि' में कवि सस्कृत काव्य की आलकारिक प्रणाली से प्रभावित हुआ जान पडता है। असफल प्रेम की कथा मे कवि ने हृदय की समस्त सरसता उंडेल दी है। नायक के झील मे डूबने और सुध में आने पर वह अपने को एक बालिका के घुटनों पर सिर रखे हुए पाता है। वहीं परस्पर-प्रेम का अकुर फूटता है, परन्तु समाज के भय से पल्लवित नही होने पाता। इतनी सी कथा को कवि ने सस्कृत की अलंकृत शैली में—नयी अभिव्यंजना के साथ लिखा है। कवि-हृदय की आशा, निराशा और सौन्दर्य के विभिन्न चित्रों से यह कृति सम्पन्न है। इसमें अनेक स्थलों पर प्रेम-सम्बन्धी विविध मानवीय व्यापारो की सरस व्यंजना भी है, जो कवि की भाषा के माधुर्य से नया रूप ले कर आई है। उदाहरणार्थ प्रेम की यह व्यजना 'पानी पी कर घर पूछना' वाले मुहावरे से मिल कर बिलकुल निखर आई है।

---

१. कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता सिसकता गान है
शून्य आहों में सुरीले छंद हैं
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है?

२. हुआ था जब सन्ध्यालोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर
विहग रव बन कर मैं चितचोर
गा रहा था गुण, किन्तु कठोर
रहे तुम नहीं वहाँ भी शोक।

यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की
जो अपांगों से अधिक है देखता
दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा।

पल्लव में कवि की प्रतिभा का प्रौढ़ विकास है। 'वीणा' और 'ग्रन्थि' में किशोरावस्था के गीत हैं और पल्लव में यौवनावस्था के। कवि की अनुभूति और भावोन्माद में स्वाभाविक वेग आ गया है और कवि अब कल्पना को खुल कर खेलने देता है। अंग्रेजी के सीधे प्रभाव में आने पर कवि की व्यंजना में विविधता आ गई है। शैले, कीट्स, वर्ड्सवर्थ और टेनिसन का कवि ने गम्भीर अध्ययन किया है, इसलिये उनकी छाया भी यत्र-तत्र स्पष्ट है। वह शैले से अधिक प्रभावित हुए हैं। उनकी प्रसिद्ध कल्पना-पूर्ण कविता 'बादल' शैले की क्लाउड कविता से प्रेरित है, लेकिन कवि ने शैले का अनुवाद करके नहीं रख दिया। उससे बादल का मनोहर रूप ही लिया है, जब कि शैले ने भयंकर रूप भी चित्रित किया है। उनकी कला पर टेनिसन का भी प्रभाव है जो अपनी ध्वन्यात्मकता और भावानुकूल शब्द-चयन के लिये प्रसिद्ध थे। 'पल्लव' में अंग्रेजी के इन कवियों की लाक्षणिकता, सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस प्रकार 'पल्लव' में उनकी प्रकृति और सौन्दर्य की भावना का चरम विकास है, जो कला के आवरण में और भी खिल उठा है।

प्रकृति और सौन्दर्य का उपासक कवि आरम्भ से ही चिन्तन-शील रहा है, यह उसके कवित्व और व्यक्तित्व से ध्वनित होता है। जब वह अभी किशोर था, तभी उसने विवेकानन्द और रामतीर्थ का दर्शन हृदयंगम किया। विवेकानन्द का दर्शन आध्यात्मिकता के माध्यम से राष्ट्र की सेवा करना है और रामतीर्थ का दर्शन जगत के माध्यम से आध्यात्मिकता को प्राप्त करना है। कवि के मानस पर इन दोनों दर्शनों का प्रभाव पड़ा। पल्लव की रचना परिवर्तन में कवि का यह चिंतन दर्शनीय है। इस कविता को निराला ने पूर्ण कविता कहा है। उसमें सृष्टि के परिवर्तनशील रूप की व्यंजना कवि ने बड़ी कुशलता से की है। उसका विचारक प्रारम्भ से ही जागरूक है और वीणा और ग्रंथि काल की कविताओं में भी चिन्तन के कण बिखरे मिल जाएँगे, लेकिन परिवर्तन में कवि के विचारक का निखरा रूप उपलब्ध होता है। 'पल्लव' तक आते-आते उसका विचारक प्रौढ़ हो उठा है और 'परिवर्तन' में वह संसार की

अशांति से विकल हो कर पुकार उठता है—

एक सौ वर्ष नगर उपवन, एक सौ वर्ष विजन वन
यही तो है असार संसार, सृजन, सिंचन, संहार ॥

इस नश्वरता-अनश्वरता के ज्ञान के साथ कवि को जग की नित्यता-अनित्यता का आभास होता है, उसे जग के रहस्य को सुलझाने का संकेत-सा मिलता है और यहाँ उसे सर्वत्र एक ही शक्ति के दर्शन होते हैं। प्रकृति के प्रति जो कवि कभी जिज्ञासु था, भावनाशील था, वही अब उसके भीतर के रहस्य को पाने के लिए अधीर हो उठता है। एक दिन उसके जीवन की जो डाल 'प्रेम विहग का वास' बन गई थी, वह ससार की क्षण-भंगुरता के पतझड़ का अनुभव करती है और कवि तत्त्व-चिंतन से इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि एक ही असीम आनन्द सर्वत्र व्याप्त है और विश्व मे उसके ही विविध रूप प्रकट होते हैं। जलधि की हरीतिमा, अंबर की नीलिमा, हृदय का प्रेमोच्छ्‌वास, काव्य का रस, फूलो की सुगंध, तारको की झलमलाहट, लहरों का लास, सब मे वही एक शक्ति है।[1] वह सुख-दुख में समन्वय कर लेता है और बिना दुख के सुख उसे निस्सार प्रतीत होता है और बिना आँसू से जीवन भार-स्वरूप। यही ससार की दीनता का अनुभव करके वह दया, क्षमा और प्यार की आवश्यकता का अनुभव करता है।[2] यह अनुभव तो उसे होता ही है। प्रकृति मे वह व्याप्त

---

१. एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शांत अम्बर में नील विकास।
वही उर-उर में प्रेमोच्छ्‌वास,
काव्य में रस, कुसुमों में वास,
अचल तारक, पलकों में हास,
लोल लहरों में लास।

२. बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार,
दीन दुर्बल है रे संसार।
इसी से दया क्षमा औ' प्यार।

शक्ति उसे अपनी ओर आकृष्ट करती है। कवि को अनुभव होता है कि स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब चकित शिशु के समान संसार की आँखों पर अजान स्वप्न विचरते हैं तब उसे नक्षत्रों से कोई मौन निमंत्रण देता जान पड़ता है।[1] 'पल्लव' में कवि की इस शक्ति के प्रति जिज्ञासा और संसार की नित्यता-अनित्यता का चित्रण भी प्रकृति-सौंदर्य के साथ-साथ मिलता है और वह स्वर उसे नया प्रकाश देता है—यह प्रकाश है आशा का। यहाँ से कवि परिवर्तन की अनिवार्यता स्वीकार करके आशावादी बन बैठता है। यही आशावाद 'गुंजन' के दार्शनिक चिन्तन में भी है। गुंजन में कवि की भावना और विचार दोनों मे एक प्रकार से सामंजस्य स्थापित हो जाता है, लेकिन कवि में विचार-तत्त्व गहराने लगता है; वह अपने गीतों को 'जग के उर्वर आँगन' मे बरसने के लिए प्रेरणा देता है। इस प्रकार वह अपने से बाहर मानव मात्र की ओर बढ़ता है। वहाँ उसे सुख-दुःख की सापेक्ष अनुभूति होती है। कवि की सुख-दुःख की यह सापेक्ष अनुभूति ही उसके जीवन में एक नवीन आशा का संचार कर देती है और वह सुख-दुःख के महत्त्व पर कह उठता है—

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।
जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव-जग में बँट जावें
सुख दुख से औ दुख सुख से।

---

१. स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार,
चकित रहता शिशु-सा नादान।
विश्व के पलकों पर सुकुमार,
विचरते हैं, जब स्वप्न अजान,
न जाने, नक्षत्रों से कौन ?
निमंत्रण देता मुझको मौन ?

कवि को यह दृष्टि मिलते ही यह अपने विधुर मन को विश्व-वेदना में प्रतिफलित करने के लिये प्रेरित करता है। 'तप रे मधुर-मधुर मन' के स्वर में यह नयी दिशा की ओर उन्मुख होता है। कभी जो यह इस जगत की सीमा पर बैठा हुआ दूर से ही उस रहस्य को पा लेना चाहता था, वह अब सुख-दुख से ऊपर उठ कर 'जीवन के अन्तस्तल में नित बूड़-बूड़ रे भाविक' के स्वर को ध्वनित करता है और जीवन को निकट से देखने के लिए आतुर हो उठता है। 'गुंजन' में पंत का आशावादी स्वर गुंजित हुआ है उसमें कहीं-कहीं चिन्तन की अपेक्षा भावुकता का भी प्राधान्य हो गया है। और जहाँ ऐसा हुआ है, वहाँ उनकी रहस्य-भावना या सौन्दर्य प्रतिभासित हुआ है। प्रकृति भी 'गुंजन' में नये रूप में है और उसके चित्र मार्मिक हैं। 'नौका विहार' जैसी कविताएँ इसका उदाहरण हैं। गंगा की धारा मे नौका-विहार का चित्र कवि ने ऐसा उतारा है कि प्रत्येक छंद का चित्र बन सकता है। 'गुंजन' का वह कवि जो 'वीणा', ग्रन्थि और पल्लव की प्रकृति और सौन्दर्य-भावना को चिपकाए हुए 'चाँदनी' और 'नौका-विहार' के गीत गाता था और जगत की 'नश्वरता-अनश्वरता' पर अपना मत देता था और कहता था कि 'चिर जन्म-मरण के आर-पार शाश्वत जीवन नौका-विहार' हो रहा है, वही अब 'युगान्त' मे अपने पिछले जीवन को, पिछले युग की समाप्ति और नवयुग के आगमन का अभिनन्दन करता है। वह मानवात्मा के सुख-दुख से बाहर जगत की चिन्ता मे व्यस्त हो जाता है। कल्पना अथवा कलात्मक विलास का परित्याग कर वह सीधा प्रकृति को अथवा वस्तु-जगत को अपने काव्य का विषय बनाता है। उसे वह स्वप्न व्यर्थ मालूम होता है, जिसमे वह स्वयं अब तक डूबा हुआ था। वह कल्पना का साम्राज्य उसे अब स्वीकार नही है, जिसमे उसकी आत्मा विहार करती रही है। वह युग ही उसे 'मृत विहग' जान पड़ता है और वह जगत की रूढ़ियों की जीर्णता को झर जाने के लिए कहता है—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त-ध्वस्त ! हे शुष्क शीर्ण !
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीतराग, जड़ पुराचीन !
निष्प्राण विगत युग ! मृत विहंग !
जग-नीड़ शब्द औ श्वास-हीन,

च्युत अस्त-व्यस्त पंखों-से तुम
झरझर अनन्त में हो विलीन !

गत युग की विकृतियों में कवि को कोई सार नहीं दिखाई देता और वह अब इस आशा से कि जगती का भाग्योदय होगा, अपने गीत-खग से कहता है कि तुम जगती के जन-पथ-कानन में अनादि गान गाओ और चिर, शून्य, शिशिर-पीड़ित जग में अपने अमर स्वरों के प्राण-स्पन्दन भर दो। कारण, जो स्वप्नों के तम में सोये हैं वे निश्चय ही जागेंगे और जीवन में निशीथ देखने वाले प्रभात देखेंगे।[1] कवि को युगान्त में लोक की मंगलाशा की ही विशेष चिन्ता है, अपने सुख-दुःख की नहीं जैसा कि गुञ्जन तक रहा था। वह दार्शनिकता भी अब कवि को आकर्षित नहीं करती। अब तो वह 'नवल मानव-कानन के पल्लवित होने' की आशा से 'गा कोकिल बरसा पावक कण' का स्वर-संधान करता है। उसका विश्वास है कि जिन गत युग की संस्कृतियों ने देश और जाति की दीवारें खड़ी करके मानवता को बंदी बना रखा है, वे मानवता का विकास पाकर सब गिर जाएँगी और मानवात्मा का प्रकाश पाकर यह यंत्र-युग हँसने लगेगा।[2] आज तो कला भी कवि को आकर्षित नहीं करती। ताजमहल पर न जाने कितने कवियों ने लिखा होगा। विश्वकवि रवीन्द्र ने 'काल के कपोल पर एक अश्रुबिंदु' कह कर ताज के अमरत्व का करुण सन्देश दिया है, लेकिन युगान्त का कवि उसके निर्माण को ही 'मृत्यु का अपार्थिव पूजन' कहता है—

---

१. जगती के जन-पथ-कानन में
तुम गाओ विहग ! अनादि गान,
चिर शून्य शिशिर-पीड़ित जग में
निज अमर स्वरों से भरो प्राण !
जो सोए स्वप्नों के तम में
वे जागेंगे—यह सत्य बात
जो देख चुके जीवन-निशीथ
वे देखेंगे जीवन-प्रभात !

२. मानव जग में गिरि-कारा-सी
गतयुग की संस्कृतियाँ दुर्धर

हाय मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन !
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !
× × ×
मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति ?

कवि का दृष्टिकोण युगान्त में पूरी तरह से बदल जाता है और वह युग बदलने के लिए चिन्तन द्वारा अपने भीतर ही एक नयी सृष्टि रचता प्रतीत होता है—'मैं सृष्टि रच रहा नवल, भावी मानव के हित भीतर।' मानव-केसरी को गरजने के लिए और गत युग के शव को नष्ट करने के लिए भी कहता है।[1] इस प्रकार युगांत कवि के काव्य-विकास का मध्य-बिन्दु है, जिसके पहले उसने प्रकृति, सौन्दर्य, प्रेम, उल्लास, आत्मा, जगत आदि की पहेली को भोले शिशु के रूप मे सुलझाया है और जिसके पीछे उसने जगत के यथार्थ संघर्ष की ओर अनुभूति को वाणी दी है। रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है : "पल्लव में कवि अपने व्यक्तित्व के घेरे मे बँधा हुआ, 'गुंजन' में कभी-कभी उसके बाहर और युगान्त में लोक के बीच दृष्टि फैला कर आसन जमाता दिखाई देता है। 'गुंजन' तक वह जगत से अपने लिये सौन्दर्य और आनन्द का चयन करता हुआ प्रतीत होता है। 'युगांत' में आ कर वह सौंदर्य और आनन्द का जगत में पूर्ण प्रसार देखना चाहता है। कवि की सौन्दर्य भावना-अब व्यापक हो कर मंगल-भावना के रूप में परिणत हुई है।"

इस प्रकार युगान्त मे कवि मानव का यशोगान गाने बैठ जाता और नये

बन्दी की हैं, मानवता को
रच वंश-जाति की भित्ति अमर।
ये डूबेंगी—सब डूबेंगी !
पा नव मानवता का विकास
हँस देगा स्वर्णिम वज्र लौह,
छू मानव-आत्मा का प्रकाश।
गर्जन कर मानव-केसरि
प्रखर नखर नव जीवन की लालसा गड़ा कर
छिन्न-भिन्न कर दे गतयुग के शव को दुर्भर।

जग के निर्माण के लिए तैयारी करता है। एक बात विशेष रूप से दर्शनीय है कि अब कवि प्रेम को बिल्कुल ही छोड़ चुका है। 'गुंजन' में ही वह मानवता के प्रति आकृष्ट हो चुका था, परन्तु फिर भी 'भावी पत्नी के प्रति' आदि कुछ कवितायें कवि के भीतर प्रेम की कल्पना का स्वरूप प्रदर्शित कर जाती हैं।[1] यही नहीं गुंजन की मधुबन कविता में उसे प्रेयसी की मदिर छवि ही समस्त प्रकृति में बिखरी दिखाई देती है।[2] परन्तु 'युगात' में कवि नारी-सौन्दर्य से विमुख होने लगा है। इसका कारण यह है कि वह अपने मानसिक विलास को व्यक्त करने की अपेक्षा मानव के सुख-दुख में निजी व्यक्तित्व को लीन करने के लिये प्रयत्नशील है। जिस प्रकृति से उसने बोलना सीखा था उसे वह 'युगात' में भी नहीं छोड़ सका है। आगे की कृति में 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में भी जहाँ वह शुद्ध विचारक के रूप में आया है वहाँ भी वह प्रकृति से सम्पर्क-विहीन नहीं हो पाया है। इनमें पंत ने प्रकृति के चित्र दिए हैं, परन्तु उनमें वह मीनाकारी नहीं जो 'बादल' और 'चाँदनी' में है। वह तो अब प्रकृति को उसके यथातथ्य रूप में ही देखता है। 'उत्तरा' तक कवि के विकास का रूप है—प्रकृति-सौन्दर्य से नारी-सौन्दर्य, नारी सौदर्य से जीवन-दर्शन, जीवन-दर्शन से मानव और मानव से नवमानव का निर्माण।

---

१. मृदूर्मिल सरसी में सुकुमार
अधोमुख, अरुण-सरोज समान,
मुग्ध कवि के उर के छू तार
प्रणय का-सा नव-गान;
तुम्हारे शैशव में, सोभार,
पा रहा होगा यौवन प्राण;
स्वप्न-सा विस्मय-सा अम्लान
प्रिये, प्राणों की प्राण!

२. आज उन्मद मधु-प्रात
गगन के इन्दीवर से नील
झर रही स्वर्ण-मरन्द समान,
तुम्हारे शयन-शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस प्राण।

प्रश्न यह है कि वीचिविलास, चाँदनी और अप्सरा का यह कवि आज यंत्र-युग से प्रभावित होकर मानव की जड़ता और संस्कारहीनता का चित्रण कर उसके ही भाग्योदय की आशा से अपने काव्य की दिशा को कैसे मोड़ सका? जो कभी जीवन का अर्थ केवल क्रीडा, कौतूहल, कोमलता, मोद, मधुरिमा, हास, विलास, लीला, विस्मय, अस्फुटता, स्नेह, पुलक, सुख और सरल हुलास ही समझता था, वही आज कुरूप, कुत्सित, प्राकृत, सुन्दर, सस्मित दोनों से परिचित की भाँति क्यों मिलना चाहता है।[1] इन प्रश्नों का उत्तर स्वयं कवि ने दिया है। कवि ने कालाकाँकर से 'रूपाभ' नाम का एक मासिक निकाला था। उसके प्रथम अंक मे उसने स्वय लिखा—'कविता के स्वप्न-भवन को छोड कर हम इस खुरदुरे पथ पर उतर आए ?···इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण किया है, उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गए हैं। श्रद्धा-अवकाश मे पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्न-जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न-रूप से सहम गई है। उसकी जड़ो को अपनी पोषण सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड रहा है। और युग-जीवन ने उसके चिर-सचित सुख स्वप्नों को जो चुनौती दी है, उसको उसे स्वीकार करना पडा है।'

कवि युग की माँग पर स्वप्न-जगत छोड कर धरती पर आ गया और उसने वास्तविकता का निमत्रण स्वीकार किया। उसके पश्चात उसने जीवन की विकृति और वीभत्सता को गहरी दृष्टि से देखा है। किसान-मजदूर वर्ग के लिए उसके मन मे बौद्धिक सहानुभूति जागृत हुई है और उसे 'युगवाणी' दी है, जिसमें उसने समाजवादी सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है और उसके बाद 'ग्राम्या' मे उन सिद्धान्तों का प्रयोग। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' के बाद कवि

---

१. क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता, मोद, मधुरिमा, हास-विलास।
लीला, विस्मय, अस्फुटता, भय, स्नेह, पुलक, सुख, सरल, हुलास।
हे कुरूप, हे कुत्सित, प्राकृत,
हे सुन्दर हे संस्कृत सस्मित,
आओ जग-जीवन, परिणय में
परिचित से मिल बाँह भरें।

की मानव-पूजा की कृतियाँ हैं, जिनमें उसने भावी संस्कृति की रूप-रेखा देने के साथ-साथ वर्तमान का भी चित्रण किया है। अपने देश और वर्तमान संसार की दुर्दशा से व्याकुल हो कर 'युगांत' में कवि ने 'बापू' के प्रति कविता लिखी थी, जिसमें उसने महात्मा गाँधी की प्रशस्ति के साथ उनके गाँधीवाद की भी प्रशंसा की थी। सत्य, अहिंसा, चरखा आदि जो गाँधीवाद के प्रतीक हैं उन पर अपना मत दिया था और उनको 'शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल' कह कर सम्बोधित करते हुए अन्त में लिखा था—

आए तुम मुक्त पुरुष कहने—
मिथ्या जड़ बन्धन, सत्य राम,
नानृतं जयति सत्यं मा भैः,
जय ज्ञान-ज्योति तुमको प्रणाम।

लेकिन 'ग्राम्या' में 'महात्माजी के प्रति' कविता में उन्होंने इस 'मुक्त-पुरुष' की पराजय दिखाई है और कहा है—

हे भारत के हृदय तुम्हारे साथ आज निःसंशय।
चूर्ण हो गया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर।

यह मानो गाँधीवाद से समाजवाद की ओर कवि की रुचि का परिचायक है। कवि के हृदय का यह परिवर्तन उसको श्रद्धा से, जो काव्य का प्राण है, शंका की ओर, जो विज्ञान का जीवन है, ले गया और काव्य या आध्यात्मिकता तथा विज्ञान या वास्तविकता के समन्वय का उसने प्रयास किया। उसने दोनों को स्वीकार किया और आशा की कि यंत्र-युग के साथ जब साम्यवाद द्वारा स्वर्ण-युग का अवतरण विश्व में होगा तब गाँधीवाद और साम्यवाद दोनों एक हो जायेंगे—

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद।
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद।

इस तरह अपनी सामन्तवाद से पूँजीवाद और पूँजीवाद से साम्यवाद तक की भावना को अपने काव्य में स्थान दिया। पल्लव तक की सौन्दर्य-भावना में सामन्तवाद गुञ्जन की दार्शनिकता में पूँजीवाद और युगान्त, 'युगवाणी' और

ग्राम्या की वास्तविकता साम्यवाद की यात्रा पंत ने की । इस यात्रा में वे अपने कवित्व को श्रीहीन होने से नहीं बचा पाये हैं और यह शुष्क विश्लेषण हो कर ही रह गया है, यद्यपि ग्राम्या में वे कवित्व भी लाए हैं । पल्लव के उपवन में विहार करने वाले पाठक को युगांत के बाद की कृतियाँ रेतीला मैदान जान पड़ती हैं, जिनमें कहीं-कहीं नखलिस्तान के दर्शन हो जाते हैं । कवि के पास इसका कोई उत्तर नहीं है क्योंकि यह स्पष्ट कह चुका है कि जब से काल्पनिक व्यंजनाएँ ही नहीं रहीं तब वह सरलता कहाँ से आवेगी ? वास्तविकता में मस्तिष्क से भी काम लेना है । अर्थात् पहले उसने हृदय को गुदगुदाया था, अब उसने मस्तिष्क को कुरेदा है । शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में 'आज पंत के कवि की लेखनी और तूलिका का स्थान छेनी और कुदाली ने ले लिया है, रूप-रंग का स्थान रक्त-मांस ने । अब वह कला की उतनी चिन्ता नहीं करता जितनी सृष्टि-निर्माणकारी विचारों की ।' इसीलिए उसने स्पष्ट कहा है कि युगवाणी और ग्राम्या में निम्नवर्ग को उसने बौद्धिक सहानुभूति दी है । पंत इससे अधिक कर भी नहीं सकते । उनका संकोच-शील स्वभाव, अभिजात वर्ग की रुचि और एकाकी जीवन, उन्हें मजदूरों-किसानों के बीच काम करने की अनुमति नहीं देते, वह तटस्थ दर्शक की भाँति उनकी स्थिति का अवलोकन करके ही उनके सुख-दुख का चित्रण कर सकते हैं । इसका परिणाम यह है कि उनके चित्रण में अनुभूति का सरस रूप नहीं दिखाई देता ।

पंत की चिंतनशील प्रवृत्ति ने उनको आशावादी बनाया है, अतः वह विकृति का यथातथ्य चित्रण करते हुए भी किसानों-मजदूरों के लिए हाय ! नहीं करते, वरन उनको भविष्य की ओर देखने की प्रेरणा देते हैं, और जहाँ ऐसा नहीं करते वहाँ उनको वास्तविक रूप में रख देते हैं । इसीलिए भारतीय ग्राम का चित्रण करते हुए उन्होंने उसकी तुलना नरक से की है ।[1] किसान को भी

---

१. यह तो मानव लोक नहीं रे यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित,

— — — —

प्रकृति धाम यह तृण-तृण कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विपण्ण जीवन्मृत ।

विरूद्ध, जड़ीभूत, हठी और ऐसे कितने ही विशेषण दे डाले हैं।[1] इसका कारण यह है कि कवि उनकी दुर्दशा को सहन नहीं कर सकता और उसका हृदय व्यथित हो जाता है—'इन कीड़ों का भी मनुज बीज यह सोच हृदय उठता पसीज'—कवि इसको राजनीति का प्रश्न नहीं बनाता, वह इसको सांस्कृतिक प्रश्न बनाता है। 'संस्कृति का प्रश्न' शीर्षक 'ग्राम्या' की कविता में वह कहते हैं—

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख
अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानव-जीवन के दुख।
× × ×
आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित
खण्ड मनुजता को युग युग की होना है नव-निर्मित।

वस्तुतः बात यह है कि कवि के संस्कारी हृदय ने विश्व की आधुनिक विकार-ग्रस्त दशा का उपचार सांस्कृतिक समन्वय में ही खोजा है। इसीलिए उसे आज असुन्दर सुन्दर लगते हैं, शोषित जन प्रिय लगते हैं और जीवन के दैन्यों से जर्जर मानव-मुख उसका मन हरता है।[2] 'युगवाणी' में उसने 'बौद्धिक सहानुभूति' देकर मार्क्सवादी सिद्धान्तों, वर्ग-समस्याओं आदि की मीमांसा की थी; परन्तु 'ग्राम्या' में उसने मीमांसा का पथ छोड़ कर सीधे ग्राम-चित्रण की ओर ध्यान दिया है। 'धोबियों का नाच', 'चमारों का नाच', 'कहारों का रुद्र नर्तन' आदि में उसने सामूहिक-जीवन से प्रेरित होकर निम्नवर्ग की भावनाओं को वाणी दी है। 'राष्ट्र गान', 'वह बुड्ढा', 'ग्राम्य देवता', 'भारत माता', 'ग्राम-श्री' आदि कविताओं में गाँवों की वर्तमान दशा के साथ प्रकृति के सुन्दर चित्र भी दिए हैं।

भावी समाज-व्यवस्था में नारी का भी महत्त्व है। कवि ने उसकी मुक्ति के लिए भी गम्भीर स्वर से शखनाद किया है। इसमें नारी का वर्तमान स्वरूप बोल-सा उठा है—

---

१. वज्रमूढ़, जड़भूत, हठी, वृष बान्धव-कर्षक
ध्रुव ममत्व की मूर्ति रूढ़ियों के चिर रक्षक।

२. आज असुन्दर-लगते सुन्दर, प्रिय पीड़ित शोषित जन,
जीवन के दैन्यों से जर्जर, मानव मुख हरता मन।

सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूतयोनि वह, मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित।
वह समाज की नहीं इकाई—शून्य समान अनिश्चित,
उसका जीवन मान, मान पर नर के है अवलम्बित।
योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित,
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।

पन्त की इन कविताओं में प्रगतिशील मानव-समाज का चित्र आंका जाता है। इनके भीतर जो मानव है, वह आज से आगे आने वाले उस स्वर्ण युग का है, जिसमें यन्त्रों के विकास से 'सतयुग' लाने की चेष्टा की जाएगी। उस समय मनुष्य अभावों से भ्रमित नहीं होगा, उसकी रक्त-मांस की इच्छायें पूरी होंगी और सर्वत्र प्रेम का राज्य होगा, तब स्वर्ग की आवश्यकता न रहेगी।[1] उस समय दैन्य-दुःख और क्षुधा-तृषा के क्रंदन मिट जायेंगे और भावी के सुख स्वप्नों का युग साक्षात रूप मे अवतरित होगा। उस समय न ये ग्राम रहेंगे। न ये नगर रहेंगे समस्त बंधनों से दिशा और क्षण मुक्त हो जायेंगे और मनुज जीवन से क्षुद्रताओं का नाश हो जायेगा।[2] ऐसे संसार की कल्पना युगवाणी और 'ग्राम्या' का कवि करता है। अपने कवि को ही सबोधित करके कहता है कि कल्पना के लिए आकाश क्या ताक रहे हो ? मृत्यु-नीलिमा की गहराई वाले आकाश में रखा क्या है ? उसे अनिमेष, स्थिर दृष्टि से निरंतर देखने से क्या लाभ है ? वह तो निःस्पंद है, शून्य है, निर्जन है और निःस्वन। यदि देखना चाहते हो तो पृथ्वी को देखो—उस पृथ्वी को जो जीव-प्रसू है, हरित-भरित है, पल्लवित-

---

१. जीवन की क्षण धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित
रक्त मांस की इच्छायें जन की हों पूरित
मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें—मानव ईश्वर !
और कौन-सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर ?

२. आज मिट गए दैन्य दुःख सब क्षुधा तृषा के क्रंदन
भावी स्वप्नों के तट पर युग जीवन करता नर्तन
ग्राम नहीं वे, नगर नहीं वे—मुक्त दिशा औ' क्षण से
जीवन की क्षुद्रता निखिल मिट गई मनुज जीवन से।

मर्मरित है, कूंजित-गुंजित और कुसुमित है।[1] इसी प्रेरणा को ले कर कवि ने युगांत के बाद की कविताओं में नीचे के धरातल पर उतर, जनता की भावनाओं और सुख-दुख को वाणी दी है। प्रकृति के अंचल में पले, सौन्दर्य के स्वप्नों में विहार करने वाले मानव-जीवन के इस दार्शनिक कवि का मानव जगत के वर्तमान संघर्ष में जूझने का यह प्रयत्न हृदयगत न होकर बुद्धिगत ही रहा है, स्थायी न होकर क्षणिक ही सिद्ध हुआ है। पन्त के काव्य-विकास में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' एक नये मोड़ के सूचक अवश्य हैं, परन्तु इस पथ को प्रशस्त कर वह इस पर अधिक काल तक यात्रा नहीं कर पाए हैं और एक भ्रान्त पथिक के समान अपने वास्तविक पथ की खोज में रहे हैं। युग की विचारधारा के साथ कुछ समय के लिए बह कर वह तट की तलाश में हैं। अपने एकान्त-प्रिय, संघर्ष-भीरु, संकोचशील स्वभाव और अभिजात संस्कारों एवं सौन्दर्यवादी जीवन-दृष्टि के कारण पन्त प्रकृति की सुषमा से क्लान्त होकर नव मानव की सुन्दरता की कल्पना से अभिभूत हैं। इस नव मानव के निर्माण में वह सांस्कृतिक समन्वय की स्थिति को अभीष्ट मानते हैं। इनके काव्य-चेतना के विकास में यह नवीन स्थिति है जिसका आरम्भ 'स्वर्णकिरण' से होता है। इनका समन्वयशील दृष्टिकोण वैयक्तिक और सामाजिक जीवन-दृष्टियों में नवीन सामंजस्य की खोज में संलग्न है और यह खोज इनके समस्त काव्य-विकास का मूलमंत्र रही है। भीतर तथा बाहर के सत्य को एक दूसरे के निकट लाना ही पन्त के काव्य-विकास का केन्द्रबिन्दु है। वह

---

१. ताक रहे हो गगन ?
मृत्यु-नीलिमा-गहन गगन ?
अनिमेष, अचितवन, काल-नयन ?
निस्पन्द, शून्य, निर्जन, निःस्वन ?
देखो भू को
जीव-प्रसू को
पल्लवित-मर्मरित
कूंजित-गुंजित
कुसुमित
भू को !

मूलतः व्यक्ति-चिन्तन की दृष्टि से जीवन तथा जगत को आँकते तथा चित्रित करते हैं; परन्तु समाजमंगल की भावना से भी वह भरपूर है। इन दो परस्पर-विरोधी-जीवन-दृष्टियों में सामञ्जस्य स्थापित करने के प्रयत्न में ही पन्त के काव्य-विकास में असंगतियों को आँका जा सकता है। इस सम्बन्ध में कवि का कथन है—'मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधों को नवीन मानव-चेतना के समन्वय में ढालने का प्रयत्न किया है और भौतिक तथा आध्यात्मिक अतिरंजनाओं का विरोध कर भौतिकता एवं आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण कर, उन्हें लोक-कल्याण के लिये सांस्कृतिक समन्वय में एक-दूसरे के पूरक के रूप में संयोजित करना चाहा है।'[1] यह संयोजन ही इनके काव्य की उपलब्धि तथा सीमा है। इस प्रकार का समन्वय वह प्रकृति और मानव, गांधीवाद और मार्क्सवाद के रसायन के रूप में पहले स्थापित कर चुके हैं। इस संयोजन का नया रूप अरविन्द-दर्शन से अनुप्राणित है। इस नवीन चेतना का स्वर्णिम प्रकाश 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्णधूलि', 'उत्तरा', 'अमिता', 'कला और बूढ़ा चाँद' आदि की अधिकांश रचनाओं में उपलब्ध होता है। स्वर्ण शब्द इस नवीन चेतना का प्रतीक है। कवि का विश्वास है कि मानव जाति की मान्यताओं के शिखर और मन की अन्धकार भरी गुफाएं इस नवीन चेतना से आलोकित हो रही हैं। आज नवीन मानवता की सृष्टि हो रही है। पन्त के काव्य का विकास अपने नवीनतम रूप में अरविन्द के जीवन-दर्शन से प्रभावित है। इस जीवन-दर्शन को काव्य में नवचेतनावाद की भी संज्ञा दी जाती है। इसकी धारणा यह है कि मानव की चेतना का चरम विकास अभी नहीं हो पाया है। इनके विकसित होने पर मानव दिव्य जीवन को प्राप्त करेगा। 'स्वर्ण-किरण' तथा 'स्वर्णधूलि' की अधिकांश रचनाओं में इस नवीन चेतना की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है और 'अमिता' की कविताओं में अरविन्द के जीवन-दर्शन का प्रतिपादन है। 'ज्योत्स्ना' में जिस आध्यात्मिक मानवतावाद को पन्त ने व्यक्त किया था उसका विकसित रूप ही इन रचनाओं में उपलब्ध होता है। कवि का चिन्तन अब मनन का रूप धारण करता है, उसकी सौन्दर्यवादी दृष्टि अब दिव्य-दृष्टि में परिणत हो गई है। पन्त उन विरले जनों में हैं जो स्वयं पार उतर चुके हैं, वह अतिमानस को प्राप्त कर अतिमानव के पद पर आसीन

---

१. रश्मि बंध, भूमिका, पृ० २१।

हैं। वह अब जीवन-मुक्त हैं। बुद्धि और विवेक से जब जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं हो पाता, परस्पर-विरोधी जीवन-दृष्टियों में जब सामजस्य स्थापित नहीं हो पाता, समन्वयवाद से विपरीत विचारधाराओं में जब विरोध शांत नही होता, जीवन की विषमताएं जब भयंकर रूप धारण कर लेती हैं, तब संवेदनशील कवि रहस्यवाद अथवा अध्यात्मवाद की शरण में ही शान्ति पाता है। पंत ने अपने काव्य-विकास के अन्तिम चरण में इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

नव मानवता को निःसंशय होना रे अन्तःकेन्द्रित
जन भू स्वर्ग नहीं युग संभव बाह्य साधनों पर अवलम्बित

इस प्रकार पंत के काव्य-विकास की रूपरेखा को प्रकृति से मानव, मानव से जन-जीवन, जन-जीवन से दिव्य-जीवन और दिव्य-जीवन से नवमानव की शब्दावली में प्रस्तुत किया जाता है। यह सूत्र कहाँ तक उनके काव्य के क्रमिक विकास को स्पष्ट करने में सफल है अथवा कहाँ तक उनके काव्य की आत्मा उद्घाटित करता है यह कहना कठिन है। किसी विकासशील कवि को एक यान्त्रिक योजना में आबद्ध करना दुष्कर है। पंत युग के विचारो के प्रति सदैव जागरूक रहे हैं। वह पिछले चालीस वर्षों में दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनैतिक तथा साहित्यिक विचारधाराओ को आत्मसात करने के लिये प्रयत्नशील रहे हैं। इस प्रयास में अनेक असंगतियो की स्थिति का होना स्वाभाविक है और इन असगतियों की स्थिति में उनके काव्य-विकास के सूत्रों को खोजा जा सकता है।

पंत के काव्य में शिल्प-पक्ष को शायद अधिक महत्त्व प्राप्त है। इसलिये इनको कवि की अपेक्षा कलाकार अधिक माना जाता है। इनके भाव प्रायः सुकुमार होते हैं, अतः इनकी कला का स्वरूप भी कोमल है। इस सुकुमारता व कोमलता के कारण इनकी कला की तुलना तितली के रंगीन पंखों से की गई है। परन्तु अपवाद रूप में यह कला पौरुष एवं कठोर परिधान भी धारण करती है जिसका परिचय इनकी 'प्रगतिशील' रचनाओं में उपलब्ध होता है। यह शीघ्र ही पुरुष का परिधान उतार कर नारी-सुलभ शृङ्गार करने लगती है। इसलिये इनकी कला अन्य छायावादी कवियों की भाँति मूलतः अलकृत है और अलंकरण के साधनों में भाषा तथा छन्दों के विशिष्ट प्रयोग हैं। इनकी भाषा चित्रात्मकता, लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता आदि गुणों से युक्त है और इनका छन्द-

विधान संगीतात्मकता से सम्पन्न है। कारण, पंत ने केवल इतिवृत्तात्मक कविता के साथ ही विद्रोह नहीं किया वरन छंद, भाषा और अलंकारों में भी क्रान्ति की है। इनकी कला के विषय में सब से पहली बात तो यह है कि उनकी चित्रण-शक्ति बड़ी सबल है। प्रत्येक दृश्य या गति का चित्र वह बड़ी कुशलता से अंकित करते हैं। ये चित्र स्थिर दृश्यों के भी होते हैं और गत्यात्मक दृश्यों के भी। अपनी 'दो मित्र' नामक कविता मे उन्होंने दो चिलविल के पेड़ों का चित्र दिया है। वे पेड़ एक निर्जन टीले पर एक-दूसरे से मिले खड़े हैं—

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक दूसरे से मिल,
मित्रों-से हैं खड़े,
मौन, मनोहर
दोनों पादप,
सह वर्षातप,
साथ ही बढ़े
दीर्घ सुदृढ़तर।

यह एक स्थिर दृश्य का चित्र है जिसे पढते ही दूर सूने टीले पर खड़े दो पेड़ हिले-मिले दिखाई देने लगते हैं। साधारण व्यक्ति भी इनका मानसिक चित्र उतार सकता है। अस्थिर या गत्यात्मक चित्र भी एक-से-एक सुन्दर एवं सश्लिष्ट हैं। 'नौका-विहार' कविता में तो प्रत्येक शब्द का चित्र है। गंगा मे नाव से उठती हिलोर, उसमें प्रतिबिंबित तारकदल और उसके ऊपर नाव का हंसिनी के समान चलना सब अलग-अलग रेखाओं से स्पष्ट हैं—

नौका से उठती जल हिलोर,
विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारकदल
ज्योतित कर जल का अंतस्तल।
मृदु मन्द-मन्द मन्थर-मन्थर लघु तरणि हंसिनी-सी सुन्दर
तिर रही, खोल पालों के पर!

इस विलक्षण चित्रण-शक्ति द्वारा कवि सूक्ष्म से सूक्ष्म और गतिवान से

गतिवान भाव या दृश्य को चित्रित कर देता है। इसके अतिरिक्त ध्वनि-चित्रण भी इनकी कला की विशेषता है। कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है कि 'अर्थ' शब्द की ध्वनि से ही स्पष्ट हो जाता है और सुनने वाले को अर्थ के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। 'युगांत' मे संध्या का चित्रण केवल कुछ ही शब्दों में कर दिया है जो ध्वन्यात्मक होने के कारण अर्थ के साथ सध्या का चित्र भी देते हैं।[1] इसी प्रकार 'झंझा मे नीम' झूम-झूम कर, झुक-झुक कर सर-सर-चर-मर करता प्रतीत होता है।[2] ध्वन्यात्मकता के साथ ही उनको रंगों का पूरा ज्ञान है। यह रंग का ज्ञान उनकी चित्रण-शक्ति को समृद्ध बनाता है। अलग-अलग रगों का प्रयोग ही नहीं मिश्रित रंगों के प्रयोग में भी कवि को निपुणता प्राप्त है।[3] कुशल चित्रकार की भाँति कवि रंग, छाया और प्रकाश का चित्रण तो करता ही है, कभी-कभी रूप-रंग के अतिरिक्त वह स्पर्श और गन्ध को भी सजीव कर देता है।[4]

---

१. बाँसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी-टी-टुट-टुट

२. झूम-झूम, झुक-झुक कर
भीम नीम तरु निर्भर
सिहर-सिहर थर थर
करता सर सर
चर मर।

३. देखता हूँ जब पतला
इन्द्र धानुषी हलका।
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद कला!

४. फैली खेतों में दूर तलक
मखमल-सी हरियाली
× × ×
महके कटहल मुकुलित जामुन
जंगल में झरबेली झूली

शब्दों का चयन और अवसरानुकूल प्रयोग करने में पंत को कोई कठिनाई नहीं होती। इसमें उनका चिन्तन उनकी विशेष सहायता करता है। यदि एक ही पंक्ति में 'वीचि' और 'लहर' होगा तो एक का अर्थ दूसरे से भिन्न होगा। शब्दों की आत्मा का ऐसा सूक्ष्म ज्ञान कम कवियों को है। उनके शब्द पूरे-पूरे भाव को व्यक्त कर देते हैं। 'पल्लव' की भूमिका मे उन्होंने लिखा है—'भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द प्रायः संगीत-भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे, भ्रू से क्रोध की वक्रता, भृकुटि से कटाक्ष की चंचलता, भौंहों से स्वाभाविक प्रसन्नता-ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' में उठना, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल कम्पन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक-दूसरे को धकेलना, उठ-उठ कर गिर पड़ना, बढ़ो-बढो कहने का शब्द मिलता है। वीचि से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में होले-होले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, ऊर्मि से मधुर मुखरित हिलोरों का हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पात-पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है।' वस्तुतः पंत की कविता में कला प्रधान हो गई है। उनकी कला का स्वरूप उन्हीं की प्रसिद्ध उपमा-युक्त कविता 'छाया' की पंक्तियों में लक्षित होता है—

तरुवर की छायानुवाद-सी,
उपमा-सी भावुकता-सी,
अविदित भावाकुल भाषा-सी,
कटी-छटी नव-कविता-सी,

'कटी-छटी नव कविता-सी' में उनकी कला की व्यंजना है, जो उनके छन्दों में व्यक्त होती है। वह मात्रिक छंदों का ही अधिक प्रयोग करते हैं। इसका कारण उनकी दृष्टि में यह है कि हिन्दी के शब्द-विन्यास की प्रकृति स्वरों से अधिक निर्मित है। संगीत में भी स्वर ही प्रधान है। इसलिये शब्द-जगत में स्वर ही उनके भीतर वह प्रवाह और गति देते हैं जो संगीत बन कर कविता को स्वर्गीय बना देते हैं। उनकी दृष्टि तुक आदि पर या समान मात्राओं पर न रह कर केवल भावों की गति पर रहती है। कवि ने स्वयं कविता तथा छन्द के अटूट सम्बन्ध को स्वीकार किया है—'कविता हमारे प्राणों का संगीत है, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन

383

से नदी की धारा को सुरक्षित रखते हैं, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियंत्रण से राग को सजीव बना देते हैं।' पंत ने प्राचीन छन्दों की काँट-छाँट की है, नये छन्दों की सृष्टि की है और मुक्त छन्द का भी प्रयोग किया है। इस सुधार, परिष्कार तथा आविष्कार के मूल में छन्द को भाव के अनुरूप ढालने की प्रवृत्ति है। वीणा तथा पल्लव मे छन्द-विधान का प्रयोगात्मक रूप है, 'ग्रन्थि' मे अंग्रेजी काव्य की चलती पंक्ति का विधान है, गुञ्जन में छन्दो की रुनझुन है, ज्योत्स्ना में छन्द एक विशेष लय एवं ताल से सचालित है, युगान्त के छन्दो में गीतों की विछलन न होकर पुरुष-सगीत है, स्वर्णकिरण आदि में शब्द-लय की अपेक्षा अर्थ-लय की प्रधानता है। इस प्रकार पंत के काव्य में छन्द भावों तथा विचारों की गति के अनुरूप चलते हैं। उन्होंने स्वय छन्द-विधान के महत्त्व को इन शब्दो में व्यक्त किया है—'कविता के लिये चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि मे आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार मे चित्र और चित्र में झंकार हो।' इस प्रकार पंत की काव्य-कला में चित्रात्मकता तथा संगीतात्मकता का मधुर मिलन है। इनकी सौन्दर्य-दृष्टि इनकी कला को रूप तथा आकार देती है।

इस सौन्दर्य-दृष्टि का परिचय कवि के अलंकार-विधान में भी उपलब्ध होता है। पंत ने अलंकारों का प्रयोग रूढ़ि का पालन करने के लिये नहीं किया। इसका उद्देश्य अलकार-योजना न होकर रूप-चित्रण है। इसलिये अलंकार प्रायः बोझ बन कर नहीं, शक्ति बन कर आते हैं। कहीं-कहीं अलंकारों का जमघट भाव तथा विचार को उभरने नहीं देता। पंत के कला-विकास के प्रथम चरण मे ही अलंकार-विधान सरल से जटिल बनने की ओर उन्मुख है स्पष्ट परिचय वीणा तथा गुञ्जन में अलकारों के अन्तर से मिल सकता है। उनके जिसका कला-विकास के दूसरे चरण में अलकार-विधान अधिक स्थूल, मासल एव विरल है जिसके आधार पर उन्होंने अपनी वाणी को अलकार-विहीन घोषित करने का साहस किया है। अलंकारों में विशेषतः उपमा, रूपक, मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय की प्रधानता है। भारतीय अलकारों में उपमा और रूपक उनकी कला मे मणियों की भाँति चमकते हैं। पाश्चात्य अलंकारों मे मानवीकरण तथा विशेषण-विपर्यय का प्रयोग पत की काव्य-कला की विशेषता है। 'नील नभ के शतदल पर बैठी' में न केवल चाँदनी का मानवीकरण हुआ है, उसके चित्रमय

भावात्मक सौन्दर्य का वर्णन भी अनेक उपमानों द्वारा हुआ है। इस प्रकार उनकी कला में अलकार-विधान एक नवीन सौन्दर्य-दृष्टि से प्रेरित है। इसी प्रकार उनकी कला मे प्रतीक-विधान भी उनकी सौन्दर्य-दृष्टि से अनुप्राणित है। प्रतीकों की योजना प्राकृतिक, मानवीय तथा आध्यात्मिक सौन्दर्य को अभिव्यक्ति के लिये की गई है। मधुकर प्राण का प्रतीक है, मधु अनुभूति या सुख का, सरोवर तथा वीणा हृदय का, वसन्त सयोग या यौवन का, सरिता जीवन का, कली आशा का, किसलय प्रेम का, फूल सुख का, शूल दुख का, लहर इच्छा का, गंध गुण का, ऊपा उल्लास का, सन्ध्या वेदना का, स्वर्ण नवचेतना का, अप्सरा सौन्दर्य-भावना का जो युग-युग मे नवीन परिभाषा लेकर आती है। इस प्रकार खग उस कवि का प्रतीक है जो मानव-जीवन को अनुप्राणित करता है। एक तारा उस व्यक्ति का प्रतीक है जो स्थित-प्रज्ञ है, जिसकी व्याख्या 'गीता' में मिलती है। पत की कला में प्रतीक-विधान भी वीणा-काल से पाया जाता है, परन्तु 'स्वर्ण-किरण' तथा 'अतिमा' मे आकर यह प्रधान रूप धारण कर लेता है।

पत की कला के स्वरूप को अनेक विशेषणो के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। इनमें नारी-कला उसकी कोमलता का प्रतीक है, स्वप्निल कला उसकी सुकुमारता का प्रतीक है, सौन्दर्य-कला उसकी जीवन-दृष्टि का द्योतक है, प्रकृतिकला उसके प्राकृतिक प्रेम की परिचायिका है। उनके काव्य का कला-पक्ष उसके भाव-पक्ष के अनुरूप विकसित हुआ है। 'वीणा' से लेकर 'कला और बूढ़ा चांद' तक पत की कला में अन्तर उनके काव्य-विकास का परिणाम है। 'वीणा' में सहज-सरलता है' ग्रन्थि में अलकरण के लिये यौवन की आकुलता है, पल्लव मे कल्पनाशीलता और गुञ्जन मे चिन्तनशीलता है। इन काव्य-रचनाओ मे पत के काव्य का कला-पक्ष प्रधान रूप से सुन्दरम् के तत्त्व से अनुप्राणित होने के कारण प्रायः एक रूप है। इन रचनाओ मे जो उनकी कला 'तितली' के पख लेकर उडी थी वह 'युगात', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में आकार मासल हो गई है। उनकी नारी-कला पौरुषमयी हो गई है अथवा क्षीण पड़ गई है। इसका कारण कवि की जीवन-दृष्टि मे शिव-तत्त्व का सौन्दर्य-तत्त्व की अपेक्षा प्रधान होना है। पत के कला-विकास के इस चरण में भी भाषा की सुकुमारता, अलकारो तथा प्रतीको की सूक्ष्मता और छन्दो की सगीतात्मकता का सर्वथा लोप नही हुआ है। उनके कला-विकास के अगले चरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पत का सुन्दरम् के

प्रति प्रथम प्रणय क्षणिक न होकर स्थायी था। पंत के काव्य का भाव-पक्ष जिस प्रकार प्रकृति से मानव, मानव से लोकमानव, लोकमानव से दिव्य-मानव की ओर विकसित हुआ है, उसके अनुरूप ही उनके काव्य का कला-पक्ष सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख हुआ है। इन दोनों के मूल में पंत की समन्वयशील जीवन-दृष्टि है जो परस्पर-विरोधी भावों तथा विचारों में मधुर-मिलन की स्थिति को स्थापित करने के लिए चिर आतुर है, युग की सामयिक तथा जीवन की शाश्वत समस्याओं का समाधान खोज निकालने में चिर विकल है। इसके उदाहरण जड़ व चेतन, सुन्दर व शिव, द्वैतवाद व अद्वैत-वाद, भौतिकवाद व आध्यात्मिकवाद, निराकार व साकार, सुख व दुख, मुक्ति व बन्धन, व्यक्तिवाद व समष्टिवाद, मार्क्सवाद व गांधीवाद, आत्मसत्य व वस्तु-सत्य, व्यक्ति-हित व समाज-मंगल आदि परस्पर-विरोधी धारणाओं एवं मान्य-ताओं में सामंजस्य की अभिव्यक्ति में उपलब्ध होते हैं। पंत की काव्य-चेतना तथा काव्य-कला का यह मूल मन्त्र है। क्या इनमें समन्वय स्थापित हो सका है या नहीं—इसके बारे में आलोचकों में गहरा मतभेद पाया जाता है।

भावात्मक सौन्दर्य का वर्णन भी अनेक उपमानों द्वारा हुआ है। इस प्रकार उनकी कला मे अलंकार-विधान एक नवीन सौन्दर्य-दृष्टि से प्रेरित है। इसी प्रकार उनकी कला में प्रतीक-विधान भी उनकी सौन्दर्य-दृष्टि से अनुप्राणित है। प्रतीकों की योजना प्राकृतिक, मानवीय तथा आध्यात्मिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये की गई है। मधुकर प्राण का प्रतीक है, मधु अनुभूति या सुरा का, सरोवर तथा वीणा हृदय का, वसन्त सयोग या यौवन का, सरिता जीवन का, कली आशा का, किसलय प्रेम का, फूल सुख का, शूल दुख का, लहर इच्छा का, गंध गुण का, ऊषा उल्लास का, सन्ध्या वेदना का, स्वर्ण नवचेतना का, अप्सरा सौन्दर्य-भावना का जो युग-युग में नवीन परिभाषा लेकर आती है। इस प्रकार खग उस कवि का प्रतीक है जो मानव-जीवन को अनुप्राणित करता है। एक तारा उस व्यक्ति का प्रतीक है जो स्थित-प्रज्ञ है, जिसकी व्याख्या 'गीता' में मिलती है। पत की कला मे प्रतीक-विधान भी वीणा-काल से पाया जाता है, परन्तु 'स्वर्ण-किरण' तथा 'अतिमा' में आकर यह प्रधान रूप धारण कर लेता है।

पंत की कला के स्वरूप को अनेक विशेषणो के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। इनमें नारी-कला उसकी कोमलता का प्रतीक है, स्वप्निल कला उसकी सुकुमारता का प्रतीक है, सौन्दर्य-कला उसकी जीवन-दृष्टि का द्योतक है, प्रकृतिकला उसके प्राकृतिक प्रेम की परिचायिका है। उनके काव्य का कला-पक्ष उसके भाव-पक्ष के अनुरूप विकसित हुआ है। 'वीणा' से लेकर 'कला और बूढ़ा चांद' तक पत की कला में अन्तर उनके काव्य-विकास का परिणाम है। 'वीणा' मे सहज-सरलता है' ग्रन्थि में अलकरण के लिये यौवन की आकुलता है, पल्लव में कल्पनाशीलता और गुञ्जन मे चिन्तनशीलता है। इन काव्य-रचनाओ मे पत के काव्य का कला-पक्ष प्रधान रूप से सुन्दरम् के तत्व से अनुप्राणित होने के कारण प्रायः एक रूप है। इन रचनाओं मे जो उनकी कला 'तितली' के पख लेकर उड़ी थी वह 'युगात', 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' मे आकार मासल हो गई है। उनकी नारी-कला पौरुषमयी हो गई है अथवा क्षीण पड़ गई है। इसका कारण कवि की जीवन-दृष्टि में शिव-तत्व का सौन्दर्य-तत्व की अपेक्षा प्रधान होना है। पत के कला-विकास के इस चरण मे भी भाषा की सुकुमारता, अलकारो तथा प्रतीको की सूक्ष्मता और छन्दों की सगीतात्मकता का सर्वथा लोप नही हुआ है। उनके कला-विकास के अगले चरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पत का सुन्दरम् के

प्रति प्रथम प्रणय क्षणिक न होकर स्थायी था। पत के काव्य का भाव-पक्ष जिस प्रकार प्रकृति से मानव, मानव से लोकमानव, लोकमानव से दिव्य-मानव की ओर विकसित हुआ है, उसके अनुरूप ही उनके काव्य का कला-पक्ष सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख हुआ है। इन दोनों के मूल में पत की समन्वयशील जीवन-दृष्टि है जो परस्पर-विरोधी भावो तथा विचारो मे मधुर-मिलन की स्थिति को स्थापित करने के लिए चिर आतुर है, युग की सामयिक तथा जीवन की शाश्वत समस्याओ का समाधान खोज निकालने में चिर विकल है। इनके उदाहरण जड़ व चेतन, सुन्दर व शिव, द्वैतवाद व अद्वैत-वाद, भौतिकवाद व आध्यात्मिकवाद, निराकार व साकार, सुख व दुख, मुक्ति व बन्धन, व्यक्तिवाद व समष्टिवाद, मार्क्सवाद व गाधीवाद, आत्मसत्य व वस्तु-सत्य, व्यक्ति-हित व समाज-मंगल आदि परस्पर-विरोधी धारणाओं एवं मान्य-ताओं में सामंजस्य की अभिव्यक्ति में उपलब्ध होते हैं। पत की काव्य-चेतना तथा काव्य-कला का यह मूल मन्त्र है। क्या इनमे समन्वय स्थापित हो सका है या नही—इसके बारे में आलोचकों में गहरा मतभेद पाया जाता है।